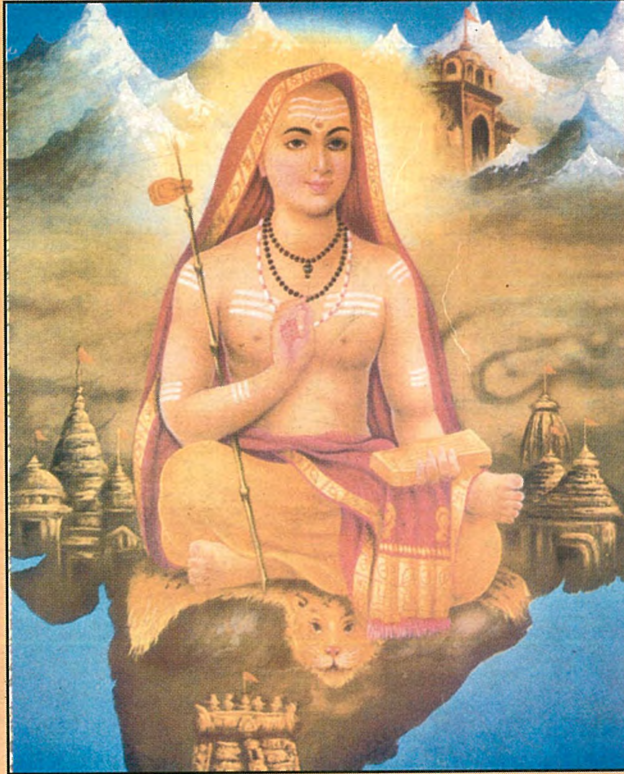


।। श्रीमदभिनवचन्द्रेश्वरो विजयतेतराम् ।।

# माण्डूक्यादित्रयोपनिषदः

## मिताक्षराहिन्दीव्याख्यासंवलितशाङ्करभाष्ययुताः

(पारायण संस्करण)



जगद्गुरु भगवान् आदि शङ्कराचार्य भगवत्पाद




'विद्यानन्दीमिताक्षरा' व्याख्याकार एवं निर्देशक

श्रीकैलासपीठाधीश्वर परमादर्श आचार्य महामण्डलेश्वर

श्रीमत्स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज, वेदान्त-सर्वदर्शनाचार्य

# भगवान् अभिनवचन्द्रेश्वर महादेव



ऋषिकेशस्थ कैलास आश्रम की सन् १८८० ई. में संस्थापना से पूर्व संस्थापक महाराज श्री स्वनामधन्य श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ अनन्त श्रीविभूषित स्वामी धनराजगिरि जी महाराज मुनि की रेती बगीची में रहते थे। आप चन्द्रभागा में अवस्थित भगवान् चन्द्रेश्वर महादेव की अर्चना ब्रह्ममुहूर्त में ४ बजे प्रात: तक सम्पन्न कर लेते थे। तत्पश्चात् भ्रमणादि के अनन्तर तीनों प्रस्थानों का स्वाध्याय करवाते थे। महाराज श्री के शिवपूजन आदि कृत्य आश्रम संस्थापन के बाद भी वैसे ही चलते रहे। आपकी निष्ठा, पाण्डित्य एवं भक्ति से आशुतोष भगवान् चन्द्रेश्वर अत्यन्त प्रसन्न हुए और आप से वेदान्त श्रवण करने की लीला करने के लिए उसी प्रकार लालायित हुए जैसे मराल वेष में काकभुशुण्डि जी से रामचरितमानस सुनने के लिए हुए थे। एक रात्रि भवान् शंकर ने स्वामी जी महाराज को स्वप्न में दर्शन देकर कहा कि मैं कनखल में सेठ भारामल की बगीची में गंगा तट पर पड़ा हुआ हूँ। गंगा जी की धारा मेरा बाण बहाने ही वाली हैं। अत: आप शीघ्र ही मुझे वहाँ से अपने पास ले आओ। महाराज श्री ने भगवदादेश का पालन करते हुए तुरंत कनखल जाकर उस दिव्य लिंग को प्राप्त किया और उसमें अपने उपास्य चन्द्रेश्वर महादेव की भावना करते हुए उन्हें अभिनवचन्द्रेश्वर महादेव की सुन्दर संज्ञा देकर कैलास आश्रम में माघ शु. ७ (अचला सप्तमी) वि.सं. १९५३ को संस्थापित किया। यह सब करने के बाद महाराज श्री को भगवान् की यथोचित पूजा भोगादि की चिन्ता हुई, किन्तु भगवान् ने उन्हें पुन: स्वप्न में दर्शन देकर आश्वासन दिया कि आप केवल मुझे वेदान्त सुनाते रहें, शेष सब व्यवस्था मेरी प्रेरणा एवं कृपा से स्वत: चलती रहेगी। तभी से कैलास आश्रम के सभी आचार्य भगवान् अभिनवचन्द्रेश्वर जी को ही मुख्य श्रोता मानकर वेदान्त का गंगाधारावत् अक्षुण्ण पाठ चलाते आ रहे हैं। फलत: आश्रम की व्यवस्था में भगवत्कृपा से किसी प्रकार की कमी नहीं आई।

अपनी इच्छा से पधारे महादेव आज भी कैलास आश्रम में उसी स्थान पर विराजमान हैं और भक्तों को मनोवांछित फल प्रदान करते हैं। उनका दर्शन अमोघ है ऐसा संत महापुरुष मानते हैं। सामान्यत: देव प्रतिमाओं में सजीव देव भावना करने के लिए भक्तों को विशेष साधना रूपी बल लगाना पड़ता है। परन्तु भगवान् अभिनवचन्द्रेश्वर के विग्रह में उक्त लीला का स्मरण करते ही सहज में ही देवत्व सजीव हो जाता है। इस दिव्य विग्रह की महिमा से ही भारत की विश्वविख्यात विभूतियाँ स्वामी विवेकानन्द जी, स्वामी अभेदानन्द जी, स्वामी रामतीर्थ जी कैलास आश्रम में आये और वेदान्त श्रवण किये। कितने ही महापुरुषों द्वारा पूजित हुए इस दिव्य लिंग की महिमा दिन प्रतिदिन वृद्धि को प्राप्त हो रही है। विशेषतया वर्तमान दशम कैलासपीठाधीश्वर जी महाराज का दृढ़ विश्वास है कि कैलास आश्रम के ब्रह्मलीन सभी पूर्वाचार्य भगवान् अभिनवचन्द्रेश्वर में समाहित हैं। अत: इनकी दिव्यता एवं गरिमा मानस में वर्णित शिव धनुष की भांति उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त हो रही है।

**तमकि धरहिं धनु मूढ़ नृप उठइ न चलहिं लजाइ।**
**मनहुँ पाइ भट बाहुबल अधिक अधिक गरुआइ।।**

भगवान् अभिनवचन्द्रेश्वर जी की शताब्दी महोत्सव के उपलक्ष्य में वर्तमान महामण्डलेश्वर जी महाराज ने दिव्यवर्षपंचकम् का आविष्कार किया। इसी पावन शताब्दी प्रसंग पर अतिरुद्र यज्ञ द्वारा भगवान् की अनुपम समाराधना हुई। सन् १९९७ में महाशिवरात्रि पर इन शताब्दी महोत्सवों की पूर्णाहुति करके महामण्डलेश्वर जी महाराज, सन्तों एवं भक्तों ने परम संतोष का अनुभव किया।

ॐ



।।श्री अभिनवचन्द्रेश्वरो विजयतेतराम् ।।

श्रीकैलासविद्यालोकस्य अष्टषष्ठितमः (६८) सोपानः

# माण्डूक्यादित्रयोपनिषदः

## मिताक्षराहिन्दीव्याख्यासंवलितशाङ्करभाष्ययुताः

## (पारायण संस्करण)







'विद्यानन्दीमिताक्षरा' व्याख्याकार वेदान्त-सर्वदर्शनाचार्य यतीन्द्रकुलतिलक श्रीकैलासपीठाधीश्वर

**परमादर्श आचार्य महामण्डलेश्वर श्री स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज**




सम्पादक

**स्वर्ण लाल तुली**

बी. इ., डी. डी. इ. (न्यूजीलैण्ड)

प्रकाशक

**श्री कैलास विद्या प्रकाशन**

**कैलास गेट, हृषीकेश (उ० प्र०)**

दूरभाष :

०१३५—४३०५९८

**देवानुग्रह त्रिदशक महोत्सव प्रसंग**

सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन सुरक्षित

प्रथम आवृत्ति २००० वि० सम्वत् २०५६ सन् १९९९

मूल्य : २०० रुपये

**ग्रन्थ प्राप्ति स्थान —**

१. **श्री कैलास आश्रम, मुनि की रेती, ऋषिकेश-२४९२०१**
२. **श्री दशनाम संन्यास आश्रम, भूपतवाला, हरिद्वार-२४९४०१**
३. **श्री कैलास आश्रम, उजेली, उत्तरकाशी-२४९१९३**
४. **श्री राम आश्रम, समानामण्डी, पटियाला-१४७१०१**
५. **श्री कैलास विद्यातीर्थ, (आदि शंकराचार्य स्मारक) ६, भाई वीर सिंह मार्ग, नई दिल्ली-११०००१**
६. **श्री कैलास आश्रम, मॉडल टाऊन, रोहतक - १२४००१**
७ **श्री कैलास विद्यातीर्थ, गिरियक रोड, राजगीर (नालन्दा)-८०३११६**
८. **श्री कैलास विद्याधाम, रूप नगर, जम्मू तवी**
९. **श्री शंकर ब्रह्मविद्याकुटीर, ८३ - ए, द्वारका पुरी, मुजफ्फर नगर-२५१००१**

मुद्रक :— **नाथ प्रिंटर्ज**, जोशी रोड, करोल बाग, नई दिल्ली - ११०००५, दूरभाष - ३५५५५८९, ७५१९१७०

*लेज़र कम्पोज़िंग : -* **आकृति प्रिन्टोग्राफिक्स**, जनक पुरी, नई दिल्ली - ११००५२ ✦ दूरभाष : ५५२३००६

ॐ

# सम्पादकीय

दिशन्तु शं मे गुरुपादपांसवः

'शङ्करं शङ्कराचार्यम्' के अनुसार आदि शङ्कराचार्य भगवान् शङ्कर के अवतार हुए हैं। जो महान् कार्य उन्होंने भारत राष्ट्र की अखण्डता और धर्म रक्षण के लिए किया है उसे कोई अवतारी महापुरुष ही कर सकता था। भगवान् के राम, कृष्ण आदि अवतारों और भगवान् शंकराचार्य के अवतार में युगानुकूल कुछ अन्तर था। भगवान् राम, कृष्ण के समय विधर्मियों के पास शारीरिक बल बहुत था। अतः उनको परास्त करने के लिए उन्हें शस्त्र उठाने पड़े और उन शस्त्रों से उन्होंने उन दुष्टों का संहार कर धर्म की पुनः स्थापना की। भगवान् शंकराचार्य के अवतार के समय (आठवीं शताब्दी) विधर्मियों के पास बौद्धिक बल विशेष था। अतः भगवान् शंकराचार्य ने उन्हें बौद्धिक शस्त्रों द्वारा परास्त किया। उनके साथ शास्त्रार्थ करके उनकी मान्यताओं और दलीलों को ध्वस्त किया और वैदिक धर्म की पुनः प्रतिष्ठा बहाल की।

जिन शस्त्रों से भगवान् शंकराचार्य ने सार्वभौम दिग्विजय प्राप्त की उन्हें वे अपने साथ नहीं ले गये अपितु अपने अनुयायियों के लिये छोड़ गये ताकि आने वाली पीढ़ी इन शस्त्रों का प्रशिक्षण प्राप्त कर इनका प्रयोग धर्म रक्षा एवं प्रचार के लिये कर सके। यह शस्त्र भगवान् शंकराचार्य द्वारा रचित ग्रन्थावली है। उन्होंने प्रस्थानत्रय-दशोपनिषद, भगवद्गीता एवं ब्रह्मसूत्र पर प्रांजल गम्भीर भाष्य लिखे और २०० से भी अधिक दूसरे ग्रन्थों की रचना की। उस समय संस्कृत भारत की बोलचाल की भाषा थी, अतः भगवान् शंकराचार्य के भाष्य एवं अन्य ग्रन्थ संस्कृत भाषा में हैं। उन ग्रन्थों और भाष्यों को समझाने के लिये उनके परवर्ती आचार्यों एवं विद्वानों ने उन पर टीका, व्याख्या आदि लिखकर उनके भावों को जनमानस में उतारा।

कैलास आश्रम के आचार्यों ने भाष्य ग्रन्थों के ऊपर अपने गहन अध्ययन के आधार पर मूल भाष्यों और टीकाओं पर टिप्पणियाँ लिखकर उनके अर्थों को सुस्पष्ट किया। वर्तमान् दशम कैलासपीठाधीश्वर जी ने इससे आगे इन पर हिन्दी व्याख्याओं की रचना कर इन ग्रन्थों को मूलपाठ, शाङ्कर भाष्य, संस्कृत टीका, टिप्पणियों और हिन्दी व्याख्याओं सहित प्रकाशित करवाया। भगवान् शंकराचार्य के भाष्यों और अन्य ग्रन्थों का स्वाध्याय तो आचार्य लोग कराते आ रहे थे परन्तु दशम कैलासपीठाधीश्वर जी महाराज ने शाङ्कर भाष्यों और उनके अन्य ग्रन्थों के पारायण का अभिनव क्रम १ जुलाई १९९८ से प्रारम्भ किया। इस तिथि (आषाढ़ शु. ७ वि. २०५५) से एक वर्ष पर्यन्त देवानुग्रह त्रिदशक महोत्सव के दौरान प्रतिदिन एक घण्टा शाङ्कर साहित्य का पारायण करने का महाराज श्री ने नियम लिया। भक्तों और सन्तों को भी इस पाठ में शामिल होने के लिये प्रोत्साहित किया।

महाराज श्री को शाङ्कर भाष्य पारायण में इतने आनन्द एवं लाभ की अनुभूति हुई है कि वे प्रतिदिन एक घण्टा पारायण के नियम को स्थाई रूप यानी जीवन पर्यन्त निभाना चाहते हैं। वे कैलास

आश्रम की सभी शाखाओं में और शाङ्करी परम्परा की अन्य संस्थाओं में भी शाङ्करभाष्य पारायण को साकार देखना चाहते हैं।

कैलास आश्रम के एवं अन्य स्थानों के प्रकाशनों से यह पारायण सुविधा से नहीं हो सकता। क्योंकि उपलब्ध ग्रन्थ टीका टिप्पणियों के सहित छपे हैं अथवा टाईप बहुत छोटा है। अतः महाराज श्री ने पारायण सौविध्य के अनुरूप ग्रन्थ छपवाने का निश्चय किया। इन में भी विशेष कर दशों उपनिषदों को केवल मूल मन्त्र, उस पर हिन्दी मिताक्षरा और मूल शाङ्कर भाष्य सहित छपवाने की योजना रखी। तदनुसार इसके प्रथम चरण में माण्डूक्य, तैत्तिरीय एवं ऐतरेय उपनिषदों के पारायण संस्कर छपवाने की आज्ञा महाराज श्री ने दी। प्रस्तुत ग्रन्थ उसी आज्ञा का साकार रूप पाठकों के समक्ष रखते हुये हमें बड़ी प्रसन्नता है।

भगवान् शंकराचार्यों के उपकारों को कभी भुलाया नहीं जा सकता। उनके ग्रन्थों के पारायण का जो महाराज श्री ने अनुपम क्रम बनाया है, इससे उन अवतारी विभूति के उपकारों के ऋण का कुछ ब्याज ही हम चुका सकेंगे। इसके अतिरिक्त यदि महाराज श्री की भगवान् शंकराचार्य के प्रति निष्ठा और भक्ति का शतांश भी हम में आ जाये तो हमारा जीवन कृतकृत्य हो सकता है। भगवान् शंकराचार्य की भक्ति एवं उनके ग्रन्थों का जितना प्रचार होगा उतना ही लोगों में धर्म और परमार्थ चेतना का प्रादुर्भाव होगा। तब महाराज श्री द्वारा घोषित भगवत्पादीय दिव्ययुग का भी आरम्भ स्पष्ट रूप से भासित हो जायगा।

श्री मद्भागवत आदि पुराणों का सप्ताह तो विश्वविख्यात ही है, जिसे अन्य महात्माओं के साथ-साथ कभी-कभी शंकराचार्य पीठ पर आसीन संत भी पारायण करते देखे और सुने जाते हैं। इस स्थिति को देखते हुये महाराज श्री ने एक अभिनव मार्ग का प्रदर्शन किया है जो प्रस्थान त्रयी अष्टादशाह के नाम से प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त उपनिषदों को भी सप्ताह का रूप देने के विचार से महाराज श्री ने सर्वप्रथम माण्डूक्य सप्ताह की कल्पना की है जिस के पारायण तथा प्रवचन क्रम का निम्नांकित प्रकार माना है :

**माण्डूक्य सप्ताह का प्रकार**

| | |
|---|---|
| प्रथम विश्राम | उपनिषद् ७वाँ मन्त्र |
| द्वितीय विश्राम | आगम प्रकरण समाप्ति पर्यन्त |
| तृतीय विश्राम | वैतथ्य प्रकरण समाप्ति पर्यन्त |
| चतुर्थ विश्राम | अद्वैत प्रकरण २२वीं कारिका पर्यन्त |
| पँचम विश्राम | अद्वैत प्रकरण समाप्ति पर्यन्त |
| षष्ठ विश्राम | अलातशान्ति प्रकरण ५०वें श्लोक पर्यन्त |
| सप्तम विश्राम | अलातशान्ति प्रकरण समाप्ति पर्यन्त |

गुरुपादानुरागी
**स्वर्ण लाल तुली**

गंगा दशहरा वि. २०५६

# ★ माण्डूक्योपनिषत् ★

## ( गौडपादीयकारिकासहिता )

## प्रकरण प्रकाशिका

स्वामी गोविन्दानन्द जी महाराज शरीर का अंग पैर काटने पर भी विचलित नहीं हुये. उनके शरीर में अहंभाव नहीं.

संसर्गाध्यास - स्वरूपाध्यास — समुद्र तरंग
धर्माध्यास धर्मीअध्यास अपोगोलक
अतिध्यास - ज्ञानाध्यास चीप चटरी
औपाधिकाध्यास | निरूपाधिक
जपा कुसुम स्फटिकमें | रज्जु में सर्प

## पारायण-क्रम



प्रकरण सार : आगम :- मन्त्र, कारिका, भाष्य, व्याख्या !
वैतथ्य :- मिथ्यात्व, आत्मा से भिन्न सब कुछ मिथ्या है !
अद्वैत :- काल्पनिक जगत् का विवाद शान्त किया - अजातवाद
अलात शान्ति :- बाकी वादी झगड़ते हैं। सो अद्वैत, अजातवाद ही ठीक है !

## माण्डूक्य सप्ताह स्वाध्याय-ज्ञान-यज्ञ प्रकार

वितण्डवाद का बीज, पल्लवन - अद्वैतसिद्धि एवं खण्डन खण्डन खाद्य में हुआ.



अतिरिक्त आत्मा. अवतेर्ल्लोपश्च. अव मन् टिलोपश्च
साक्षी - साक्ष्य. अव म् ऊठ् आदेश.
दृक् - दृश्य अ उ म = ओं
चेतन - जड. मण्डूकमेवाल मुमुक्षुणां विमुक्तये. चतुर्दीम यात्रा.

ॐ तत्सद्ब्रह्मणे नमः।

गौडपादीयकारिकासहिता

अथर्ववेदीय—

# माण्डूक्योपनिषत्

## भगवत्पादाद्यशङ्कराचार्यविरचितशाङ्करभाष्यसमेता

☆ ☆ ☆ ☆

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाँ सस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः।।
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः, स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।।
स्वस्ति नस्ताक्ष्यों अरिष्टनेमिः, स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु।।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्ति।।

### मिताक्षराहिन्दीव्याख्या

भावः—हे देवताओं (आपकी कृपा से) हम कानों के द्वारा कल्याणप्रद शब्दों को सुनें। आँखों से कल्याणप्रद दृश्य देखें। वैदिक यागादिक कर्म में हम समर्थ होवें तथा दृढ़ अवयवों और शरीरों से स्तुति करनेवाले हम लोग केवल देवताओं के हित मात्र के लिए जीवन धारण करें। महान् यशस्वी इन्द्रदेव हमारा कल्याण करे। परम ज्ञानवान् पूषादेव हमारा कल्याण करे। सम्पूर्ण आपत्तियों के लिए चक्र के समान घातक गरुड़ हमारा कल्याण करे तथा देवगुरु बृहस्पति हमारा कल्याण करे। त्रिविध ताप की शान्ति होवे।

---

(अथ श्रीमच्छंकरभगवत्पादविरचितं भाष्यम्)

प्रज्ञानांशुप्रतानैः स्थिरचरनिकरव्यापिभिर्व्याप्य लोकान्
भुक्त्वा भोगान्स्थविष्ठान्पुनरपि धिषणोद्भासितान्कामजन्यान्।
पीत्वा सर्वान्विशेषान्स्वपिति मधुरभुङ्मायया भोजयन्नो
मायासंख्यातुरीयं परममृतमजं ब्रह्म यत्तन्नतोऽस्मि ।।१।।

यो विश्वात्मा विधिजविषयान्प्राश्य भोगान्स्थविष्ठा-
न्पश्चाच्चान्यान्स्वमतिविभवाज्ज्योतिषा स्वेन सूक्ष्मान्।
सर्वानेतान्पुनरपि शनैः स्वात्मनि स्थापयित्वा
हित्वा सर्वान्विशेषान्विगतगुणगणः पात्वसौ नस्तुरीयः।।२।।

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानम्। वेदान्तार्थसारसंग्रहभूतमिदं प्रकरणचतुष्टयमोमित्येतदक्षरमित्याद्यारभ्यते। अत एव न पृथक्संबन्धाभिधेयप्रयोजनानि वक्तव्यानि। यान्येव तु वेदान्ते संबन्धाभिधेयप्रयोजनानि तान्येवेह भवितुमर्हन्ति। तथाऽपि प्रकरणव्याचिख्यासुना संक्षेपतो वक्तव्यानि।

तत्र प्रयोजनवत्साधनाभिव्यञ्जकत्वेनाभिधेयसम्बद्धं शास्त्रं पारम्पर्येण विशिष्ट-सम्बन्धाभिधेयप्रयोजनवद्भवति।

किं पुनस्तत्प्रयोजनमित्युच्यते। रोगार्तस्येव रोगनिवृत्तौ स्वस्थता तथा दुःखात्म-कस्याऽऽत्मनो द्वैतप्रपञ्चोपशमे स्वस्थता।। अद्वैतभावः प्रयोजनम्। द्वैतप्रपञ्चस्या-विद्याकृतत्वाद्विद्यया तदुपशमः स्यादिति ब्रह्मविद्याप्रकाशनायास्याऽऽरम्भः क्रियते। "यत्र हिद्वैतमिव भवति"(बृ० २।४।१४)।"यत्र वाऽन्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत्पश्ये-दन्योऽन्यद्विजानीयात्" (बृ० २।४।१४)। "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्तत्केन कं विजानीयात्" (बृ० ४।३।३१) इत्यादिश्रुतिभ्योऽस्यार्थस्य सिद्धिः।

तत्र तावदोंकारनिर्णयाय प्रथमं प्रकरणमागमप्रधानमात्मतत्त्वप्रतिपत्त्युपायभूतम्। यस्य द्वैतप्रपञ्चस्योपशमेऽद्वैतप्रतिपत्ती रज्ज्वामिव सर्पादिविकल्पोपशमे रज्जुतत्त्वप्रतिपत्तिः। तस्य द्वैतस्य हेतुतो वैतथ्यप्रतिपादनाय द्वितीयं प्रकरणम्। तथाऽद्वैतस्यापि वैतथ्य-प्रसङ्गप्राप्तौ युक्तितस्तथात्वदर्शनाय तृतीयं प्रकरणम्। अद्वैतस्य तथात्वप्रतिपत्तिप्रतिपक्ष-भूतानि यानि वादान्तराण्यवैदिकानि तेषामन्योन्यविरोधित्वादतथार्थत्वेन तदुपपत्तिभिरेव निराकरणाय चतुर्थं प्रकरणम्।

कथं पुनरोंकारनिर्णय आत्मतत्त्वप्रतिपत्त्युपायत्वं प्रतिपद्यत इति। उच्यते। "ओमित्येतत्"। "एतदालम्बनम्"। "एतद्वै सत्यकाम" "ओमित्यात्मानं युञ्जीत"। "ओमिति ब्रह्म"। "ओंकार एवेदं सर्वम्" इत्यादिश्रुतिभ्यः। रज्ज्वादिरिव सर्पादि-विकल्पस्याऽऽस्पदोऽद्वय आत्मा परमार्थः सन्प्राणादिविकल्पस्याऽऽस्पदो यथा तथा सर्वोऽपि वाक्प्रपञ्चः प्राणाद्यात्मविकल्पविषय ओंकार एव।

स चाऽऽत्मस्वरूपमेव। तदभिधायकत्वात्। ओंकारविकारशब्दाभिधेयश्च सर्वः प्राणादिरात्मविकल्पोऽभिधानव्यतिरेकेण नास्ति। "वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्" "तदस्येदं वाचा तन्त्या नामभिर्दामभिः सर्वं सितम्"। "सर्वं हीदं नामनि" इत्यादि-

(अथ माण्डूक्योपनिषद्)

**हरिः ॐ। ओमित्येतदक्षरमिदꣳ सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोंकार एव। यच्चान्यात्त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव।।१।।**

**सर्वꣳ ह्येतद्ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात् ।।२।।**

'ॐ' यह अक्षर ही यह सब कुछ है; भूत, वर्तमान और भविष्य ऐसे तीनों काल में वर्तमान वस्तु तो उसी का स्पष्ट व्याख्यान है। अतः यह सब ओंकार स्वरूप ही है। इसके अतिरिक्त त्रिकालातीत जो अन्य वस्तु हैं, वे भी ओंकार स्वरूप ही हैं।। १।।

(जिन्हें ओंकारमात्र कहा गया है) यह सब ब्रह्म ही है, यह अपरोक्ष आत्मा ही ब्रह्म है, वही यह आत्मा चार पादों वाला है ।।२।।

श्रुतिभ्यः । अत आह—

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वमिति। यदिदमर्थजातमभिधेयभूतं तस्याभिधानाव्यतिरेकात्। अभिधानस्य चोंकाराव्यतिरेकादोंकार एवेदं सर्वम्। परं च ब्रह्माभिधानाभिधेयोपायपूर्वकमेव गम्यत इत्योंकार एव। तस्यैतस्य परापरब्रह्मरूपस्याक्षरस्योमित्येतस्योपव्याख्यानम्। ब्रह्मप्रतिपत्त्युपायत्वाद् ब्रह्मसमीपतया विस्पष्टं प्रकथनमुपव्याख्यानं प्रस्तुतं वेदितव्यमिति वाक्यशेषः। भूतं भवद्भविष्यदिति कालत्रयपरिच्छेद्यं यत्तदप्योंकार एवोक्तन्यायतः। यच्चान्यत्त्रिकालातीतं कार्याधिगम्यं कालापरिच्छेद्यमव्याकृतादि तदप्योंकार एव ।। १ ।।

अभिधानाभिधेययोरेकत्वेऽप्यभिधानप्राधान्येन निर्देशः कृतः। ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वमित्याद्यभिधानप्राधान्येन निर्दिष्टस्य पुनरभिधेयप्राधान्येन निर्देशोऽभिधानाभिधेययोरेकत्वप्रतिपत्त्यर्थः। इतरथा ह्यभिधानतन्त्राभिधेयप्रतिपत्तिरित्यभिधेयस्याभिधानत्वं गौणमित्याशङ्का स्यात्। एकत्वप्रतिपत्तेश्च प्रयोजनमभिधानाभिधेययोरेकेनैव प्रयत्नेनयुगपत्प्रविलापयंस्तद्विलक्षणं ब्रह्म प्रतिपद्येतेति। तथा च वक्ष्यति—"पादा मात्रा मात्राश्च पादाः" इति। तदाह—

सर्वं ह्येतद्ब्रह्मेति। सर्वं यदुक्तमोंकारमात्रमिति तदेतद्ब्रह्म। तच्च ब्रह्म परोक्षाभिहितं प्रत्यक्षतो विशेषेण निर्दिशति। अयमात्मा ब्रह्मेति। अयमिति चतुष्पात्त्वेन प्रविभज्यमानं

**जागरितस्थानो बहिष्प्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशति- मुखः**
**स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः ।।३।।**

जिसकी अभिव्यक्ति का स्थान जाग्रद् अवस्था है, (बाह्य विषयों का प्रकाशन होने से) जो बहिष्प्रज्ञ है सात अंग वाला, उन्नीस मुख वाला तथा स्थूल विषयों का उपभोक्ता है, वह वैश्वानर आत्मा का पहला पाद है ।।३।।

---

प्रत्यगात्मतयाऽभिनयेन निर्दिशति— अयमात्मेति। सोऽयमात्मोंकाराभिधेयः परापरत्वेन व्यवस्थितश्चतुष्पात्कार्षापणवन्न गौरिवेति। त्रयाणां विश्वादीनां पूर्वपूर्वप्रविलापनेन तुरीयस्य प्रतिपत्तिरिति करणसाधनः पादशब्दः। तुरीयस्य पद्यत इति कर्मसाधनः पादशब्दः ।।२।।

कथं चतुष्पात्त्वमित्याह—

जागरितं स्थानमस्येति जागरितस्थानः। बहिष्प्रज्ञः स्वात्मव्यतिरिक्ते विषये प्रज्ञा यस्य स बहिष्प्रज्ञो बहिर्विषयेव प्रज्ञाऽविद्याकृताऽवभासत इत्यर्थः। तथा सप्ताङ्गान्यस्य "तस्य ह वा एतस्याऽऽत्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा, संदेहो बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादौ" इत्यग्निहोत्रकल्पना-शेषत्वेनाऽऽहवनीयोऽग्निरस्य मुखत्वेनोक्त इत्येवं सप्ताङ्गानि यस्य स सप्ताङ्गः। तथैकोनविं-शतिर्मुखान्यस्य बुद्धीन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि च दश वायवश्च प्राणादयः पञ्च मनो बुद्धिरहंकारश्चित्तमिति मुखानीव मुखानि तान्युपलब्धिद्वाराणीत्यर्थः। स एवंविशिष्टो वैश्वानरो यथोक्तैर्द्वारैः शब्दादीन्स्थूला-न्विषयान्भुङ्क्ते इति स्थूलभुक्। विश्वेषां नराणामनेकधा नयनाद्वैश्वानरः। यद्वा विश्वश्चासौ नरश्चेति विश्वानरो विश्वानर एव वैश्वानरः। सर्वपिण्डात्मानन्यत्वात्स प्रथमः पादः। एतत्पूर्वकत्वादुत्तरपादाधिगमस्य प्राथम्यमस्य।

कथमयमात्मा ब्रह्मेति प्रत्यगात्मनोऽस्य चतुष्पात्त्वे प्रकृते द्युलोकादीनां मूर्धाद्यङ्गत्वमिति। नैष दोषः। सर्वस्य प्रपञ्चस्य साधिदैविकस्यानेनाऽऽत्मना चतुष्पात्त्वस्य विवक्षितत्वात्।

एवं च सति सर्वप्रपञ्चोपशमेऽद्वैतसिद्धिः। सर्वभूतस्थश्चाऽऽत्मैकोदृष्टः स्यात्। सर्वभूतानि चाऽऽत्मनि। यस्तु सर्वाणि भूतानीत्यादिश्रुत्यर्थः उपसंहृतश्चैवं स्यात्। अन्यथा हि स्वदेहपरिच्छिन्न एव प्रत्यगात्मा सांख्यादिभिरिव दृष्टः स्यात्तथा च सत्यद्वैतमिति श्रुतिकृतो विशेषो न स्यात्। सांख्यादिदर्शनेनाविशेषात्।

**स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः ।**
**प्रविविक्तभुक्तैजसो द्वितीयः पादः ।।४।।**

**यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन**
**स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम्। सुषुप्तस्थान एकीभूतः**

जिसका अभिव्यक्तिस्थान स्वप्न है, जो केवल मनरूपी अन्तःप्रज्ञ वाला है एवं पूर्ववत् सात अङ्ग वाला, उन्नीस मुख वाला और सूक्ष्म विषयों को भोगने वाला है; ऐसा तैजस ही आत्मा का दूसरा पाद है ।।४।।

जिस स्थान या काल में सोया हुआ पुरुष न तो किसी विषय भोग की कामना करता है और न किसी स्वप्न को ही देखता है, उसे ही सुषुप्ति कहते हैं। वह सुषुप्ति ही जिसका स्थान

---

इष्यते च सर्वोपनिषदां सर्वात्मैक्यप्रतिपादकत्वम्। अतो युक्तमेवास्याऽऽध्यात्मिकस्य पिण्डात्मनो द्युलोकाद्यङ्गत्वेन विराडात्मनाऽऽधिदैविकेनैकत्वमभिप्रेत्य सप्ताङ्गत्ववचनम्। "मूर्धा ते व्यपतिष्यत्" इत्यादिलिङ्गदर्शनाच्च। विराजैकत्वमुपलक्षणार्थं हिरण्यगर्भाव्याकृतात्मनोः। उक्तं चैतन्मधुब्राह्मणे— "यश्चायमस्यां पृथिव्यां तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मम्" इत्यादि। सुषुप्ताव्याकृतयोस्त्वेकत्वं सिद्धमेव निर्विशेषत्वात् एवं च सत्येतत्सिद्धं भविष्यति सर्वद्वैतोपशमे चाद्वैतमिति ।।३।।

स्वप्नः स्थानमस्य तैजसस्य स्वप्नस्थानः। जाग्रतप्रज्ञाऽनेकसाधना बहिर्विषयेवावभासमाना मनःस्पन्दमात्रा सती तथाभूतं संस्कारं मनस्याधत्ते। तन्मनस्तथा संस्कृतं चित्रित इव पटो बाह्यसाधनानपेक्षमविद्याकामकर्मभिः प्रेर्यमाणं जाग्रद्वदवभासते। तथा चोक्तम्—"अस्य लोकस्य सर्वावतो मात्रामपादाय" इति। तथा "परे देवे मनस्येकी भवति" इति प्रस्तुत्य "अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति" इत्याथर्वणे। इन्द्रियापेक्षयाऽन्तःस्थत्वान्मनसस्तद्वासनारूपा न स्वप्ने प्रज्ञा यस्येत्यन्तःप्रज्ञः। विषयशून्यायां प्रज्ञायां केवलप्रकाशस्वरूपायां विषयित्वेन भवतीति तैजसः। विश्वस्य सविषयत्वेन प्रज्ञायाः स्थूलाया भोज्यत्वम्। इह पुनः केवला वासनामात्रा प्रज्ञा भोज्येति प्रविविक्तो भोग इति। समानमन्यत्। द्वितीयः पादस्तैजसः।।४।।

दर्शनादर्शनवृत्त्योस्तत्त्वाप्रबोधलक्षणस्य स्वापस्य तुल्यत्वात्सुषुप्तिग्रहणार्थं यत्र सुप्त इत्यादिविशेषणम्। अथवा त्रिष्वपि स्थानेषु तत्त्वाप्रतिबोधलक्षणः स्वापोऽविशिष्ट इति

प्रज्ञानघन एवाऽऽनन्दमयो ह्यानन्दभुक्चेतोमुखः
प्राज्ञस्तृतीयः पादः ।।५।।

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः
सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम् ।।६।।

है तथा जो एकीभूत हो उत्कृष्ट ज्ञान स्वरूप होता हुआ ही आनन्दमय है और आनन्द का भोक्ता तथा चेतनारूप मुखवाला है। वही प्राज्ञ का तीसरा पाद है ।।५।।

यह प्राज्ञ आत्मा सबका शासक ईश्वर है। यह सर्वज्ञ, यही अन्तर्यामी और सम्पूर्ण प्राणियों के उत्पत्ति तथा लय का एक मात्र स्थान होने के कारण (किसी न किसी प्रकार से) वह सबका कारण भी है ।।६।।

---

पूर्वाभ्यां सुषुप्तं विभजते। यत्र यस्मिन्स्थाने काले वा सुप्तो न कंचन स्वप्नं पश्यति न कंचन कामं कामयते। न हि सुषुप्ते पूर्वयोरिवान्यथाग्रहणलक्षणं, स्वप्नदर्शनं कामो वा कश्चन विद्यते। तदेतत्सुषुप्तं स्थानमस्येति सुषुप्तस्थानः। स्थानद्वयप्रविभक्तं मनः स्पन्दितं द्वैतजातम्। तथारूपापरित्यागेनाविवेकापन्नं नैशतमोग्रस्तमिवाहः सप्रपञ्चकमेकीभूतमित्युच्यते। अत एव स्वप्नजाग्रन्मनःस्पन्दनानि प्रज्ञानानि घनीभूतानीव सेयमवस्थाऽविवेकरूपत्वात्प्रज्ञानघन उच्यते। यथा रात्रौ नैशेन तमसाऽविभज्यमानं सर्वं घनमिव तद्वत्प्रज्ञानघन एव। एवशब्दान्न जात्यन्तरं प्रज्ञानव्यतिरेकेणास्तीत्यर्थः। मनसो विषयविषय्याकारस्पन्दनायासदुःखाभावादानन्दमय आनन्दप्रायो नाऽऽनन्द एव। अनात्यन्तिकत्वात्। यथा लोके निरायासस्थितः सुख्यानन्दभुगुच्यते। अत्यन्तानायासरूपा हीयं स्थितिरनेनानुभूयत इत्यानन्दभुक्। "एषोऽस्य परम आनन्दः" इति श्रुतेः। स्वप्नादिप्रतिबोधं चेतः प्रति द्वारीभूतत्वाच्चेतोमुखः। बोधलक्षणं वा चेतो द्वारं मुखमस्य स्वप्नाद्यागमनं प्रतीति चेतोमुखः। भूतभविष्यज्ज्ञातृत्वं सर्वविषयज्ञातृत्वमस्यैवेति प्राज्ञः। सुषुप्तोऽपि हि भूतपूर्वगत्या प्राज्ञ उच्यते। अथवा प्रज्ञप्तिमात्रमस्यैवासाधारणं रूपमिति प्राज्ञः। इतरयोर्विशिष्टमपि विज्ञानमस्ति सोऽयं प्राज्ञस्तृतीयः पादः ।।५।।

एष हि स्वरूपावस्थः सर्वेश्वरः साधिदैविकस्य भेदजातस्य सर्वस्येशिता नैतस्माज्जात्यन्तरभूतोऽन्येषामिव। "प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः" इति श्रुतेः। अयमेव हि सर्वस्य सर्वभेदावस्थो ज्ञातेत्येष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्यन्तरनुप्रविश्य सर्वेषां भूतानां नियन्ताऽप्येष एव। अत एव यथोक्तं सभेदं जगत्प्रसूयत इत्येष योनिः सर्वस्य। यत एवं प्रभवश्चाप्ययश्च प्रभवाप्ययौ हि भूतानामेष एव ।।६।।

मन को विभु मानते हैं सांख्य और योगी।
वेदान्ती मन को मध्यम परिमाण जितना शरीर है।
नैयायिक " " अणु परिमाण माना है।



(गौडपादीयकारिकाणां स्वकृतमवतरणम्)

## अत्रैते श्लोका भवन्ति—

(अथ गौडपादीयकारिकाः)

बहिष्प्रज्ञो विभुर्विश्वो ह्यन्तःप्रज्ञस्तु तैजसः ।
घनप्रज्ञस्तथा प्राज्ञ एक एव त्रिधा स्मृतः ।।१।।

दक्षिणाक्षिमुखे विश्वो मनस्यन्तस्तु तैजसः ।
आकाशे च हृदि प्राज्ञस्त्रिधा देहे व्यवस्थितः ।।२।।

कारिकार्थः— व्यापक विश्व बहिष्प्रज्ञ है, तैजस अन्तःप्रज्ञ है, तथा प्राज्ञात्मा प्रज्ञानघन है। इस प्रकार एक ही आत्मा तीन तरह से कहा गया है।।१।।

विश्वात्मा दक्षिण नेत्र-रूप स्थान में रहता है, तैजस मन के भीतर रहता है, प्राज्ञ हृदयाकाश में रहता है, (ये तीनों ही विश्वादि के उपलब्धिस्थान है)। इस प्रकार एक ही आत्मा शरीर में तीन रूपसे व्यवस्थित है।।२।। सङ्कः अवस्थाधर्मः वेद्यत्वात् घटवत्.

---

अत्रैतस्मिन्यथोक्तेऽर्थ एते श्लोका भवन्ति।

क्रमशः बहिष्प्रज्ञ इति। पर्यायेण त्रिस्थानत्वात्सोऽहमिति स्मृत्या प्रतिसंधानाच्च, स्थानत्रय-
भिन्नत्व व्यतिरिक्तत्वमेकत्वं शुद्धत्वमसङ्गत्वं च सिद्धमित्यभिप्रायः। "महामत्स्यादिदृष्टान्तश्रुतेः।।१।। बृ. ४-३-१८

जागरितावस्थायामेव विश्वादीनां त्रयाणामनुभवप्रदर्शनार्थोऽयं श्लोकःदक्षिणाक्षीति। दक्षिणमक्ष्येव मुखं तस्मिन्प्राधान्येन द्रष्टा स्थूलानां विश्वोऽनुभूयते। "इन्धो ह वै नामैष योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषः" इति श्रुतेः। (बृ. ४-२-२) इन्धो दीप्तिगुणो वैश्वानर आदित्यान्तर्गतो वैराज आत्मा चक्षुषि च द्रष्टैकः। नन्वन्यो हिरण्यगर्भः क्षेत्रज्ञो दक्षिणोऽक्षि(क्ष)ण्यक्ष्णोर्नियन्ता द्रष्टा चान्यो देहस्वामी। न। स्वतो भेदानभ्युपगमात्। "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः" इति श्रुतेः। (श्वे. ६.११) (+) विराजि मण्डलात्मके भव.

"क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत। ३.२
अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्" इति स्मृतेः। १३-६ गीता.

सर्वेषु करणेष्वविशेषेऽपि दक्षिणाक्षि(क्ष)ण्युपलब्धिपाटवदर्शनात्तत्र विशेषेण निर्देशो
स्पष्टरूप

विश्वस्य। दक्षिणाक्षिगतो रूपं दृष्ट्वा निमीलिताक्षस्तदेव स्मरन्मनस्यन्तः स्वप्ने इव तदेव वासनारूपाभिव्यक्तं पश्यति। यथाऽत्र तथा स्वप्ने। अतो मनस्यन्तस्तु तैजसोऽपि विश्व एव। आकाशे च हृदि स्मरणाख्यव्यापारोपरमे प्राज्ञ एकीभूतो घनप्रज्ञ एव भवति। मनोव्यापाराभावात्। दर्शनस्मरणे एव हि मनःस्पन्दिते तदभावे हृद्येवाविशेषेण प्राणात्मनाऽवस्थानम्। "प्राणो ह्येवैतान्सर्वान्संवृङ्क्ते" इति श्रुतेः।

तैजसो हिरण्यगर्भो मनःस्थत्वात्। लिङ्गं मनः। "मनोमयोऽयं पुरुषः" इत्यादिश्रुतिभ्यः। ननु व्याकृतः प्राणः सुषुप्ते तदात्मकानि करणानि भवन्ति कथमव्याकृतता। नैष दोषः। अव्याकृतस्य देशकालविशेषाभावात्।

यद्यपि प्राणाभिमाने सति व्याकृततैव प्राणस्य, तथाऽपि पिण्डपरिच्छिन्नविशेषाभिमाननिरोधः प्राणे भवतीत्यव्याकृत एव प्राणः सुषुप्ते परिच्छिन्नाभिमानवताम्। यथा प्राणलये परिच्छन्नाभिमानिनां प्राणोऽव्याकृतस्तथा प्राणाभिमानिनोऽप्यविशेषापत्तावव्याकृतता समाना प्रसवबीजात्मकत्वं च तदध्यक्षश्चैकोऽव्याकृतावस्थः। परिच्छिन्नाभिमानिनामध्यक्षाणां च तेनैकत्वमिति पूर्वोक्तं विशेषणमेकीभूतः प्रज्ञानघन इत्याद्युपपन्नम्। तस्मिन्नुक्तहेतुसत्त्वाच्च।

कथं प्राणशब्दत्वमव्याकृतस्य? "प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः" इति श्रुतेः। ननु तत्र "सदेव सोम्य" इति प्रकृतं सद्ब्रह्म प्राणशब्दवाच्यम्। नैष दोषः। बीजात्मकत्वाभ्युपगमात्सतः। यद्यपि सद्ब्रह्म प्राणशब्दवाच्यं तत्र तथाऽपि जीवप्रसवबीजात्मकत्वमपरित्यज्यैव प्राणशब्दवाच्यत्वं सतः सच्छब्दवाच्यता च। यदि हि निर्बीजरूपं विवक्षितं ब्रह्माभविष्यत् "नेति नेति" "यतो वाचो निवर्तन्ते" "अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितात्" इत्यवक्ष्यत्। "न सत्तन्नासदुच्यते" इति स्मृतेः। निर्बीजतयैव चेत्सति लीनानां संपन्नानां सुषुप्तप्रलययोः पुनरुत्थानानुपपत्तिः स्यात्। मुक्तानां च पुनरुत्पत्तिप्रसङ्गः। बीजाभावाविशेषात्।

ज्ञानदाह्यबीजाभावे च ज्ञानानर्थक्यप्रसङ्गः। तस्मात्सबीजत्वाभ्युपगमेनैव सतः प्राणत्वव्यपदेशः सर्वश्रुतिषु च कारणत्वव्यपदेशः। अत एव "अक्षरात्परतः परः"। "सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः"। "यतो वाचो निवर्तन्ते"। "नेति नेति" इत्यादिना बीजत्वापनयनेन व्यपदेशः। तामबीजावस्थां तस्यैव प्राज्ञशब्दवाच्यस्य तुरीयत्वेन देहादिसंबन्धरहितां परमार्थिकीं पृथग्वक्ष्यति। बीजावस्थाऽपि न किंचिदवेदिषमित्युत्थितस्य प्रत्ययदर्शनाद्देहेऽनुभूयत एवेति त्रिधा देहे व्यवस्थित इत्युच्यते ।। २।।

विश्वो हि स्थूलभुङ्नित्यं तैजसः प्रविविक्तभुक् ।
आनन्दभुक्तथा प्राज्ञस्त्रिधा भोगं निबोधत ।। ३ ।।

स्थूलं तर्पयते विश्वं प्रविविक्तं तु तैजसम् ।
आनन्दश्च तथा प्राज्ञं त्रिधा तृप्तिं निबोधत ।। ४ ।।

त्रिषु धामसु यद्भोज्यं भोक्ता यश्च प्रकीर्तितः ।
वेदैतदुभयं यस्तु स भुञ्जानो न लिप्यते ।।५।।

प्रभवः सर्वभावानां, सतामिति विनिश्चयः ।
सर्वं जनयति प्राणश्चेतोंशून्पुरुषः पृथक् ।। ६।।

विश्वात्मा सदा स्थूल विषयों का भोक्ता है, तैजस सूक्ष्म पदार्थों का भोक्ता है और प्राज्ञ आनन्द का भोग करता है। इस प्रकार विश्वादि का तीन तरह का भोग समझो।। ३।।

स्थूल वस्तु विश्वात्मा को तृप्त करती है, सूक्ष्म पदार्थ तैजस को तथा आनन्द प्राज्ञ को तृप्त करता है। इस तरह विश्वादि की तृप्ति भी तीन प्रकार की समझो ।। ४।।

(जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति इन) तीनों स्थानों में जो स्थूल, सूक्ष्म तथा आनन्द नामक भोज्य और विश्वादि उनके भोक्ता बतलाये गये हैं, इन दोनों को जो (उक्त रीति से) जानता है, वह स्थूलादि विषयों को भोगते हुए भी उनसे लिप्त नहीं होता है ।।५।।

विद्यमान् सभी पदार्थों की ही उत्पत्ति होती है, ऐसा विद्वानों का निश्चय है। बीजरूप प्राण ही सबको उत्पन्न करता, और चेतन पुरुष चिदाभासरूप जीव को (अन्तःकरण भेद से) पृथक्-पृथक प्रकट करता है।। ६।।

---

उक्तार्थौ श्लोकौ ।। ३ ।। ४।।

त्रिषु धामसु जाग्रदादिषु स्थूलप्रविविक्तानन्दाख्यं भोज्यमेकं त्रिधाभूतम्। यश्च विश्वतैजसप्राज्ञाख्यो भोक्तैकः सोऽहमित्येकत्वेन प्रतिसंधानाद्द्रष्टृत्वाविशेषाच्च प्रकीर्तितः। यो वेदैतदुभयं भोज्यभोक्तृतयाऽनेकधा भिन्नं स भुञ्जानो न लिप्यते। भोज्यस्य सर्वस्यैकस्य भोक्तुर्भोज्यत्वात्। न हि यस्य यो विषयः स तेन हीयते वर्धते वा। न ह्यग्निः स्वविषयं दग्ध्वा काष्ठादि, तद्वत् ।। ५।।

सतां विद्यमानानां स्वेनाविद्याकृतनामरूपमायास्वरूपेण सर्वभावानां विश्वतैजसप्राज्ञ-भेदानां प्रभव उत्पत्तिः। वक्ष्यति च—"वन्ध्यापुत्रो न तत्त्वेन मायया वाऽपि जायते" इति। यदि

विभूतिं प्रसवं त्वन्ये मन्यन्ते सृष्टिचिन्तकाः ।
स्वप्नमायासरूपेति सृष्टिरन्यैर्विकल्पिता ।।७।।
इच्छामात्रं प्रभोः सृष्टिरिति सृष्टौ विनिश्चिताः ।
कालात्प्रसूतिं भूतानां मन्यन्ते कालचिन्तकाः ।।८।।

सृष्टि के सम्बन्ध में चिन्तन करने वाले अन्यवादी जगत् के उत्पत्ति का कारण भगवान् की विभूति को मानते हैं। वैसे ही अन्य लोगों ने स्वप्न तथा माया के समान इस सृष्टि को माना है।।७।।

प्रभु की इच्छामात्र ही सृष्टि है, ऐसा कभी किसी किसी ने निश्चय किया है तथा कालचिन्तक ज्योतिषि लोग काल से ही भूतों की उत्पत्ति मानते हैं।।८।।

---

ह्यसतामेव जन्म स्याद् ब्रह्मणोऽव्यवहार्यस्य ग्रहणद्वाराभावादसत्त्वप्रसङ्गः। दृष्टं च रज्जुसर्पादीनामविद्याकृतमायाबीजोत्पन्नानां रज्ज्वाद्यात्मना सत्त्वम्। न हि निरास्पदा रज्जुसर्पमृगतृष्णिकादयः क्वचिदुपलभ्यन्ते केनचित्। यथा रज्ज्वां प्राक्सर्पोत्पत्ते रज्ज्वात्मना सर्पः सन्नेवाऽऽसीत्। एवं सर्वभावानामुत्पत्तेः प्राक्प्राणबीजात्मनैव सत्त्वम्। इत्यतः श्रुतिरपि वक्ति—"ब्रह्मैवेदम्" "आत्मैवेदमग्र आसीत्" इति। सर्वं जनयति प्राणश्चेतोंशूनंशव इव रवेश्चिदात्मकस्य पुरुषस्य चेतोरूपा जलार्कसमाः प्राज्ञतैजसविश्वभेदेन देवतिर्यगादिदेहभेदेषु विभाव्यमानाश्चेतोंशवो ये तान्पुरुषः पृथग्विषयभावविलक्षणानग्निविस्फुलिङ्गवत्स-लक्षणाञ्जलार्कवच्च जीवलक्षणांस्त्वितरान्सर्वभावान्प्राणो बीजात्मा जनयति। यथोर्णनाभिः "यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गाः" इत्यादिश्रुतेः।।६।।

विभूतिर्विस्तार ईश्वरस्य सृष्टिरिति सृष्टिचिन्तका मन्यन्ते न तु परमार्थचिन्तकानां सृष्टावादर इत्यर्थः। "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" इति श्रुतेः। न हि मायाविनं सूत्रमाकाशे निक्षिप्य तेन सायुधमारुह्य चक्षुर्गोचरतामतीत्य युद्धेन खण्डशश्छिन्नं पतितं पुनरुत्थितं च पश्यतां तत्कृतमायादिसतत्त्वचिन्तायामादरो भवति। तथैवायं मायाविनः सूत्रप्रसारणसमः सुषुप्तस्वप्नादिविकासस्तदारूढमायाविसमश्च तत्स्थः प्राज्ञतैजसादिः सूत्रतदारूढाभ्यामन्यः परमार्थमायावी। स एव भूमिष्ठो मायाच्छन्नोऽदृश्यमान एव स्थितो यथा तथा तुरीयाख्यं परमार्थतत्त्वम्। अतस्तच्चिन्तायामेवाऽऽदरो मुमुक्षूणामार्याणां न निष्प्रयोजनायां सृष्टवादर इत्यतः सृष्टिचिन्तकानामेवैते विकल्पा इत्याह—स्वप्नमायासरूपेति। स्वप्नसरूपा मायासरूपा चेति।।७।।

इच्छामात्रं प्रभोः सत्यसंकल्पत्वात्सृष्टिर्घटादिसंकल्पनामात्रं न संकल्पनातिरिक्तम्। कालादेव सृष्टिरिति केचित्।।८।।

भोगार्थं सृष्टिरित्यन्ये क्रीडार्थमिति चापरे ।
देवस्यैष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा ।। ९ ।।

(उपनिषद्)

नान्तःप्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञा-
नघनं, न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टमव्यवहार्यमग्रा-
ह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रप-
ञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स
आत्मा स विज्ञेयः।।७।।

कुछ लोग भोग के लिए सृष्टि है, ऐसा मानते हैं और कुछ लोग क्रीडा के लिये सृष्टि है; ऐसा समझते हैं। वस्तुतः यह भगवान् का स्वभाव ही है क्योंकि भला पूर्णकाम परमात्मा में इच्छा ही क्या हो सकती है।। ९।।

स्वरूप से वह आत्मा न अन्तःप्रज्ञ है, न बहिष्प्रज्ञ है, न उभयतःप्रज्ञ, न सुषुप्ति के समान प्रज्ञानघन है, न (एक साथ सभी वस्तुओं के प्रकाशक रूप से) प्रज्ञ है और न ( उसके विपरीत रूप से) अप्रज्ञ ही है। वह तो अदृश्य है, अतएव अव्यवहार्य है, कर्मेन्द्रियों से ग्रहण के योग्य न होने से अग्राह्य है। लिङ्गरहित होने से अनुमान के योग्य नहीं। अतः अचिन्त्य है। इसीलिए शब्दों से अव्यपदेश्य है। (जाग्रदादि अवस्थाओं में अव्यभिचारी होने के कारण) एकात्मप्रत्ययसार है। प्रपंच का उपशमरूप, शान्त, शिव और अद्वैतस्वरूप है, ऐसा आत्मा के विषय में तत्त्ववेत्ता मानते हैं। अतः वही आत्मा है और वही विशेष रूप से जानने योग्य है।।७।।

---

भोगार्थं क्रीडार्थमिति चान्ये सृष्टिं मन्यन्ते। अनयोः पक्षयोर्दूषणं देवस्यैष स्वभावोऽयमिति देवस्य स्वभावपक्षमाश्रित्य सर्वेषां वा पक्षाणामाप्तकामस्य का स्पृहेति। न हि रज्ज्वादीनामविद्यास्वभावव्यतिरेकेण सर्पाद्याभासत्वे कारणं शक्यं वक्तुम् ।। ९ ।।

चतुर्थः पादः क्रमप्राप्तो वक्तव्य इत्याह—नान्तःप्रज्ञमित्यादिना। सर्वशब्दप्रवृत्तिनिमित्तशून्यत्वात्तस्य शब्दानभिधेयत्वमिति विशेषप्रतिषेधेनैव च तुरीयं निर्दिदिक्षति। शून्यमेव तर्हि ? तत्; न। मिथ्याविकल्पस्य निर्निमित्तत्वानुपपत्तेः। न हि रजतसर्पपुरुषमृगतृष्णिकादिविकल्पाः शुक्तिकारज्जुस्थाणूषरादिव्यतिरेकेणावस्त्वास्पदाः शक्याः कल्पयितुम्।

एवं तर्हि प्राणादिसर्वविकल्पास्पदत्वात्तुरीयस्य शब्दवाच्यत्वमिति न प्रतिषेधैः

प्रत्याय्यत्वमुदकाहारादेरिव घटादेः। न प्राणादिविकल्पस्यासत्त्वाच्छुक्तिकादिष्विव रजतादेः। न हि सदसतोः संबन्धः शब्दप्रवृति निमित्तभागवस्तुत्वात्। नापि प्रमाणान्तरविषयत्वं स्वरूपेण गवादिवत् आत्मनो निरुपाधिकत्वाद्गवादिवन्नापि जातिमत्त्वमद्वितीयत्वेन सामान्यविशेषाभावात्। नापि क्रियावत्त्वं पाचकादिवदविक्रियत्वात्। नापि गुणवत्त्वं नीलादिवन्निर्गुणत्वात्।

अतो नाभिधानेन निर्देशमर्हति। शशविषाणादिसमत्वान्निरर्थकत्वं तर्हि। न। आत्मत्वावगमे तुरीयस्यानात्मतृष्णाव्यावृत्तिहेतुत्वाच्छुक्तिकावगमे इव रजततृष्णायाः। न हि तुरीयस्याऽऽत्मत्वावगमे सत्यविद्यातृष्णादिदोषाणां संभवोऽस्ति। न च तुरीयस्याऽऽत्मत्वानवगमे कारणमस्ति। सर्वोपनिषदां तादर्थ्येनोपक्षयात्। "तत्त्वमसि"। "अयमात्मा ब्रह्म"। "तत्सत्यम्। स आत्मा"। "यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म"। "स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः"। "आत्मैवेदं सर्वम्" इत्यादीनाम्।

सोऽयमात्मा परमार्थापरमार्थरूपश्चतुष्पादित्युक्तस्तस्यापरमार्थरूपमविद्याकृतं रज्जुसर्पादिसममुक्तं पादत्रयलक्षणं बीजाङ्कुरस्थानीयम्। अथेदानीमबीजात्मकं परमार्थस्वरूपं रज्जुस्थानीयं सर्पादिस्थानीयोक्तस्थानत्रयनिराकरणेनाऽऽह—

नान्तःप्रज्ञमित्यादि। नन्वात्मनश्चतुष्पात्त्वं प्रतिज्ञाय पादत्रयकथनेनैव चतुर्थस्यान्तःप्रज्ञादिभ्योऽन्यत्वे सिद्धे नान्तःप्रज्ञमित्यादिप्रतिषेधोऽनर्थकः। न। सर्पादिविकल्पप्रतिषेधेनैव रज्जुस्वरूपप्रतिपत्तिवत्त्र्यवस्थस्यैवाऽऽत्मनस्तुरीयत्वेन प्रतिपिपादयिषितत्वात्। तत्त्वमसीतिवत्।

यदि हि त्र्यवस्थात्मविलक्षणं तुरीयमन्यत्तत्प्रतिपत्तिद्वाराभावाच्छास्त्रोपदेशानर्थक्यं शून्यतापत्तिर्वा।

रज्जुरिव सर्पादिभिर्विकल्प्यमाना स्थानत्रयेऽप्यात्मैक एवान्तःप्रज्ञादित्वेन विकल्प्यते, यदा तदाऽन्तःप्रज्ञादित्वप्रतिषेधविज्ञानप्रमाणसमकालमेवाऽऽत्मन्यनर्थप्रपञ्चनिवृत्तिलक्षणफलं परिसमाप्तमिति तुरीयाधिगमे प्रमाणान्तरं साधनान्तरं वा न मृग्यम्।

रज्जुसर्पविवेकसमकाले इव रज्ज्वां सर्पनिवृत्तिफले सति रज्ज्वधिगमस्य। येषां पुनस्तमोपनयव्यतिरेकेण घटाधिगमे प्रमाणं व्याप्रियते तेषां छेद्यावयवसंबन्धवियोगव्यतिरेकेणान्यतरावयवेऽपि च्छिदिर्व्याप्रियत इत्युक्तं स्यात्।

यदा पुनर्घटतमसोर्विवेककरणे प्रवृत्तं प्रमाणमनुपादित्सिततमोनिवृत्तिफलावसानं छिदिरिव च्छेद्यावयवसंबन्धविवेककरणे प्रवृत्ता तदवयवद्वैधीभावफलावसाना तदा नान्तरीयकं घटविज्ञानं न तत्प्रमाणफलम्।

न च तद्वदप्यात्मन्यध्यारोपितान्तःप्रज्ञत्वादिविवेककरणे प्रवृत्तस्य प्रतिषेधविज्ञान-प्रमाणस्यानुपादित्सितान्तःप्रज्ञत्वादिनिवृत्तिव्यतिरेकेण तुरीये व्यापारोपपत्तिः। अन्तः-प्रज्ञत्वादिनिवृत्तिसमकालमेव प्रमातृत्वादिभेदनिवृत्तेः। तथा च वक्ष्यति— "ज्ञाते द्वैतं न विद्यते" इति। ज्ञानस्य द्वैतनिवृत्तिक्षणव्यतिरेकेण क्षणान्तरानवस्थानात्। अवस्थाने चानवस्थाप्रसङ्गाद्द्वैतानिवृत्तिः।

तस्मात्प्रतिषेधविज्ञानप्रमाणव्यापारसमकालैवाऽऽत्मन्यध्यारोपितान्तःप्रज्ञत्वाद्यनर्थनि-वृत्तिरिति सिद्धम्। नान्तःप्रज्ञमिति तैजसप्रतिषेधः। न बहिष्प्रज्ञमिति विश्वप्रतिषेधः। नोभयतःप्रज्ञमिति जाग्रत्स्वप्नयोरन्तरालावस्थाप्रतिषेधः। न प्रज्ञानघनमिति सुषुप्तावस्थाप्रतिषेधः। बीजभावाविवेक-रूपत्वात्। न प्रज्ञमिति युगपत्सर्वविषयप्रज्ञातृत्वप्रतिषेधः। नाप्रज्ञमित्यचैतन्यप्रतिषेधः।

कथं पुनरन्तःप्रज्ञत्वादीनामात्मनि गम्यमानानां रज्ज्वादौ सर्पादिवत्प्रतिषेधादसत्त्वं गम्यते इत्युच्यते। ज्ञस्वरूपाविशेषेऽपीतरेतरव्यभिचाराद्रज्ज्वादाविव सर्पधारादिविकल्पित-भेदवत्सर्वत्राव्यभिचाराज्ज्ञस्वरूपस्य सत्यत्वं। सुषुप्ते व्यभिचरतीति चेन्न। सुषुप्तस्यानुभूय-मानत्वात्। "न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते" इति श्रुतेः।

अत एवादृष्टम्। यस्माददृष्टं तस्मादव्यवहार्यम्। अग्राह्यं कर्मेन्द्रियैः। अलक्षणम-लिङ्गमित्येतदननुमेयमित्यर्थः। अत एवाचिन्त्यम्। अत एवाव्यपदेश्यं शब्दैः। एकात्म-प्रत्ययसारं जाग्रदादिस्थानेष्वेकोऽयमात्मेत्यव्यभिचारी यः प्रत्ययस्तेनानुसरणीयम्।

अथवैक आत्मप्रत्ययः सारं प्रमाणं यस्य तुरीयस्याधिगमे, तत्तुरीयमेकात्मप्रत्ययसारम्। "आत्मेत्येवोपासीत" इति श्रुतेः।

अन्तःप्रज्ञत्वादिस्थानिधर्मप्रतिषेधः कृतः। प्रपञ्चोपशममिति जाग्रदादिस्थान-धर्माभाव उच्यते। अत एव शान्तं शिवं यतोऽद्वैतं भेदविकल्परहितं चतुर्थं तुरीयं मन्यन्ते। प्रतीयमानपादत्रयवैलक्षण्यात्। स आत्मा विज्ञेय इति। प्रतीयमानसर्पभूछिद्रदण्डादिव्यति-रिक्ता यथा रज्जुस्तथा तत्त्वमसीत्यादिवाक्यार्थ "आत्माऽदृष्टो द्रष्टा" "न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विप-रिलोपो विद्यते" इत्यादिभिरुक्तो यः स विज्ञेय इति भूतपूर्वगत्या, ज्ञाते द्वैताभावः।।७।।

अत्रैते श्लोका भवन्ति (गौडपादीयश्लोकाः) —

निवृत्तेः सर्वदुःखानामीशानः प्रभुरव्ययः।
अद्वैतः सर्वभावानां देवस्तुर्यो विभुः स्मृतः।।१०।।

कार्यकारणबद्धौ ताविष्येते विश्वतैजसौ।
प्राज्ञः कारणबद्धस्तु द्वौ तौ तुर्ये न सिध्यतः।।११।।

नाऽऽत्मानं न परांश्चैव न सत्यं नापि चानृतम्।
प्राज्ञः किंचन संवेत्ति तुर्यं तत्सर्वदृक्सदा।।१२।।

सभी प्रकार के दुःखों की निवृत्ति में तुरीय आत्मा ईशान अर्थात् समर्थ, वह (स्वरूप से व्यभिचरित न होने के कारण) निर्विकार है, (रज्जुसर्पवत् दृश्यवर्ग के मिथ्या होने से) सभी भावपदार्थों में अद्वैत रूप है, दिव्य, चतुर्थ और व्यापक माना गया है।।१०।।

पूर्वोक्त विश्व और तैजस ये दोनों ही (फलावस्था रूप) कार्य से तथा (बीजावस्थारूप) कारण से बँधे हुए माने जाते हैं। किन्तु प्राज्ञ केवल (बी जावस्थारूप) कारण से बँधा माना जाता है, पर तुरीय में तो ये दोनों ही नहीं हैं।।११।।

(प्राज्ञ से तुरीय इसलिये भी भिन्न है क्योंकि) प्राज्ञ न अपने को और न दूसरे को, न सत्य को तथा न असत्य को ही जानता है, किन्तु तुरीय आत्मा तो सदा सर्वदा सबका प्रकाशक है।।१२।।

---

प्राज्ञतैजसविश्वलक्षणानां सर्वदुःखानां निवृत्तेरीशानस्तुरीय आत्मा। ईशान इत्यस्य पदस्य व्याख्यानं प्रभुरिति। दुःखनिवृत्तिं प्रति प्रभवतीत्यर्थः। तद्विज्ञाननिमित्तत्वाद्दुःखनिवृत्तेः। अव्ययो न व्येति स्वरूपान्न व्यभिचरतीति यावत्। एतत्कुतः। यस्माद‌द्वैतः सर्वभावानां रज्जुसर्पवन्मृषात्वात्स एष देवो द्योतनात्तुरीयश्चतुर्थो विभुर्व्यापी‍इति स्मृतः।।१०।।

विश्वादीनां सामान्यविशेषभावो निरूप्यते तुर्ययाथात्म्यावधारणार्थम्। कार्यं क्रियत इति फलीभावः। कारणं करोतीति बीजभावः। तत्त्वाग्रहणान्यथाग्रहणाभ्यां बीजफल-भावाभ्यां तौ यथोक्तौ विश्वतैजसौ बद्धौ संगृहीताविष्येते। प्राज्ञस्तु बीजभावेनैव बद्धः। तत्त्वाप्रतिबोधमात्रमेव हि बीजं प्राज्ञत्वे निमित्तम्। ततो द्वौ तौ बीजफलभावौ तत्त्वाग्रहणा-न्यथाग्रहणे तुर्ये न सिध्यतो न विद्येते न संभवत इत्यर्थः।।११।।

कथं पुनः कारणबद्धत्वं प्राज्ञस्य तुरीये वा तत्त्वाग्रहणान्यथाग्रहणलक्षणौ बन्धौ न सिध्यत इति। यस्मादात्मविलक्षणमविद्याबीजप्रसूतं बाह्यं द्वैतं प्राज्ञो न किंचन

द्वैतस्याग्रहणं तुल्यमुभयोः प्राज्ञतुर्ययोः।
बीजनिद्रायुतः प्राज्ञः सा च तुर्ये न विद्यते।।१३।।

स्वप्ननिद्रायुतावाद्यौ प्राज्ञस्त्वस्वप्ननिद्रया।
न निद्रां नैव च स्वप्नं तुर्ये पश्यन्ति निश्चिताः।।१४।।

प्राज्ञ और तुरीय दोनों को द्वैत का बोध न होना समान ही है, फिर भी प्राज्ञ बीजस्वरूपा अज्ञान निद्रा से युक्त है और तुरीय में वह बीजरूप निद्रा नहीं है।।१३।।

पहले की दो अवस्थावाले विश्व और तैजस, स्वप्न तथा निद्रा दोनों से युक्त हैं, एवं प्राज्ञ आत्मा केवल निद्रा से युक्त है स्वप्न से नहीं; किन्तु तुरीय में न निद्रा ही है और न स्वप्न ही ऐसा उसे तत्त्ववेत्ता लोग देखते हैं।।१४।।

---

संवेत्ति यथा विश्वतैजसौ, ततश्चासौ तत्त्वाग्रहणेन तमसाऽन्यथाग्रहणबीजभूतेन बद्धो भवति। यस्मात्तुरीयं तत्सर्वदृक्सदा तुरीयादन्यस्याभावात्सर्वदा सदैवेति सर्वं च तद्दृक्चेति सर्वदृक्तस्मान्न तत्त्वाग्रहणलक्षणं बीजं तत्र। तत्प्रसूतस्यान्यथाग्रहणस्याप्यत एवाभावो, न हि सवितरि सदा प्रकाशात्मके तद्विरुद्धमप्रकाशनमन्यथाप्रकाशनं वा संभवति। "न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते" इति श्रुतेः। अथवा जाग्रत्स्वप्नयोः सर्वभूतावस्थः सर्ववस्तुदृगाभासस्तुरीय एवेति सर्वदृक्सदा। "नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ" इत्यादिश्रुतेः।।१२।।

निमित्तान्तरप्राप्ताशङ्कानिवृत्त्यर्थोऽयं श्लोकः। कथं द्वैताग्रहणस्य तुल्यत्वात्कारण-बद्धत्वं प्राज्ञस्यैव न तुरीयस्येति प्राप्ताऽऽशङ्का निवर्त्यते। यस्माद्बीजनिद्रायुतस्तत्त्वा-प्रतिबोधो निद्रा। सैव च विशेषप्रतिबोधप्रसवस्य बीजम्। सा बीजनिद्रा। तया युतः प्राज्ञः। सदा दृक्स्वभावत्वात्तत्त्वाप्रतिबोधलक्षणा निद्रा तुरीये न विद्यते। अतो न कारणबन्धस्तस्मिन्नित्यभिप्रायः।।१३।।

स्वप्नोऽन्यथाग्रहणं सर्प इव रज्ज्वाम्। निद्रोक्ता तत्त्वाप्रतिबोधलक्षणं तम इति। ताभ्यां स्वप्ननिद्राभ्यां युक्तौ विश्वतैजसौ। अतस्तौ कार्यकारणबद्धावित्युक्तौ। प्राज्ञस्तु स्वप्नवर्जित-केवलयैव निद्रया युत इति कारणबद्ध इत्युक्तम्। नोभयं पश्यन्ति तुरीये निश्चिता ब्रह्मविदो विरुद्धत्वात्सवितरीव तमः। अतो न कार्यकारणबद्ध इत्युक्तस्तुरीयः।।१४।।

अन्यथा गृह्णतः स्वप्नो, निद्रा तत्त्वमजानतः।
विपर्यासे तयोः क्षीणे तुरीयं पदमश्नुते।।१५।।

अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते।
अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा ।।१६।।

(रज्जुसर्प की भाँति तत्त्व से) विपरीत ग्रहण होने पर स्वप्न होता है और केवल तत्त्व को न जानने से निद्रा होती है। पर इन दोनों विपर्यय के क्षीण हो जाने पर (साधक) तुरीय पद को प्राप्त करता है।।१५।।

जब जीव अनादि माया से सोया हुआ तत्त्वबोध के द्वारा भली प्रकार से जग जाता है तभी उसे जन्म, निद्रा तथा स्वप्न से रहित अद्वैत आत्मतत्त्व का बोध प्राप्त होता है ।।१६।।

---

कदा तुरीये निश्चितो भवतीत्युच्यते। स्वप्नजागरितयोरन्यथा रज्ज्वां सर्प इव गृह्णतस्तत्त्वं स्वप्नो भवति। निद्रा तत्त्वमजानतस्तिसृष्ववस्थासु तुल्या। स्वप्ननिद्रयोस्तुल्यत्वाद्विश्वतैजसयोरेकराशित्वम्। अन्यथाग्रहणप्राधान्याच्च, गुणभूता निद्रेति तस्मिन्विपर्यासः स्वप्नः। तृतीये तु स्थाने तत्त्वाज्ञानलक्षणो निद्रैवकेवला विपर्यासः। अतस्तयोः कार्यकारणस्थानयोरन्यथाग्रहणलक्षणविपर्यासे कार्यकारणबन्धरूपे परमार्थतत्त्वप्रतिबोधतः क्षीणे तुरीयं पदमश्नुते तदोभयलक्षणं बन्धरूपं तत्रापश्यंस्तुरीये निश्चितो भवतीत्यर्थः।।१५।।

योऽयं संसारी जीवः स उभयलक्षणेन तत्त्वाप्रतिबोधरूपेण बीजात्मनाऽन्यथाग्रहणलक्षणेन चानादिकालप्रवृत्तेन मायालक्षणेन स्वप्नेन ममायं पिता पुत्रोऽयं नप्ता क्षेत्रं पशवोऽहमेषां स्वामी सुखी दुःखी क्षयितोऽहमनेन वर्धितश्चानेनेत्येवंप्रकारान्स्वप्नान्स्थानद्वयेऽपि पश्यन्सुप्तो यदा वेदान्तार्थतत्त्वाभिज्ञेन परमकारुणिकेन गुरुणा नास्येवं त्वं हेतुफलात्मकः किं तु तत्त्वमसीति प्रतिबोध्यमानो यदा तदैवं प्रतिबुध्यते। कथं नास्मिन्बाह्यमाभ्यन्तरं वा जन्मादिभावविकारोऽस्त्यतोऽजं सबाह्याभ्यन्तरो ह्यज इति श्रुतेः सर्वभावविकारवर्जितमित्यर्थः। यस्माज्जन्मादिकारणभूतं नास्मिन्नविद्यातमोबीजं निद्रा विद्यत इत्यनिद्रम्। अनिद्रं हि तत्तुरीयमत एवास्वप्नम्। तन्निमित्तत्वादन्यथाग्रहणस्य। यस्माच्चानिद्रमस्वप्नं तस्मादजमद्वैतं तुरीयमात्मानं बुध्यते तदा।।१६।।

प्रपञ्चो यदि विद्येत निवर्तेत न संशयः।
मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः ।।१७।।

विकल्पो विनिवर्तेत कल्पितो यदि केनचित्।
उपदेशादयं वादो ज्ञाते द्वैतं न विद्यते।।१८।।

लयचिन्तनार्थ आत्मा के पादों और प्रणव के मात्राओं का अभेद

(उपनिषद्)

सोऽयमात्माऽध्यक्षरमोंकारोऽधिमात्रं पादा मात्रा
मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति।।८।।

(सत्य तो यह है कि) यदि प्रपंच होता, तो वह निःसन्देह निवृत्त हो जाता। पर यह द्वैत तो रज्जु-सर्पवत् माया मात्र है, परमार्थतः अद्वैत ही है।।१७।।

(प्रपञ्च की भाँति गुरु-शिष्यादि) विकल्प की यदि किसी ने कल्पना की होती, वह विकल्प भी निवृत्त हो जाता। पर गुरु-शिष्यादि यह वाद केवल उपदेश के लिये है। अतएव तत्त्वसाक्षात्कार हो जाने पर सम्पूर्ण द्वैत नहीं रह जाता है।।१८।।

वह यह आतमा अक्षर के अनुरोध से ओंकारस्वरूप है और वह मात्राओं को आश्रय करके स्थित रहता है। इसीलिये आत्मा के पाद ही ओंकार की मात्राएँ हैं और ओंकार की मात्राएँ ही आत्मा के पाद हैं, अकार, उकार और मकार—ये ही प्रणव की मात्रा है ।।८।।

---

प्रपञ्चनिवृत्त्या चेत्प्रतिबुध्यतेऽनिवृत्ते प्रपञ्चे कथमद्वैतमिति। उच्यते। सत्यमेवं स्यात्प्रपञ्चो यदि विद्येत। रज्ज्वां सर्प इव कल्पितत्वान्न तु स विद्यते। विद्यमानश्चेन्निवर्तेत न संशयः। न हि रज्ज्वां भ्रान्तिबुद्ध्या कल्पितः सर्पो विद्यमानः सन्विवेकतो निवृत्तः। नैव माया मायाविना प्रयुक्ता तद्दर्शिनां चक्षुर्बन्धापगमे विद्यमाना सती निवृत्ता। तथेदं प्रपञ्चाख्यं मायामात्रं द्वैतं रज्जुवन्मायाविवच्चाद्वैतं परमार्थतस्तस्मान्न कश्चित्प्रपञ्चः प्रवृत्तो निवृत्तो वाऽस्तीत्यभिप्रायः।।१७।।

ननु शास्ता शास्त्रं शिष्य इति विकल्पः कथं निवर्तत इत्युच्यते। विकल्पो विनिवर्तेत यदि केनचित्कल्पितः स्यात्। यथाऽयं प्रपञ्चो मायारज्जुसर्पवत्तथाऽयं शिष्यादिभेदविकल्पोऽपि प्राक्प्रतिबोधादेवोपदेशनिमित्तोऽत उपदेशादयं वादः,शिष्यः शास्ता शास्त्रमिति। उपदेशकार्ये तु ज्ञाने निर्वृत्ते ज्ञाते परमार्थतत्त्वे द्वैतं न विद्यते ।।१८।।

*प्रथममाह्निकम्*

अभिधेयप्रधान ओंकारश्चतुष्पादात्मेति व्याख्यातो; यः सोऽयमात्माऽध्यक्षरमक्षरमधि-

अकार और विश्व का अभेद

जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्राऽऽप्ते-
रादिमत्त्वाद्वाऽऽप्नोति ह वै सर्वान्कामानादिश्च भवति य एवं वेद ।।९।।

अर्थवाद

अकार और तैजस का अभेद

स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्क-
र्षादुभयत्वाद्वोत्कर्षति ह वै ज्ञानसंततिं समा-
नश्च भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति य एवं
वेद ।।१०।।

जाग्रत्-स्थानवाला वैश्वानर व्याप्ति तथा आदिमत्त्व के कारण (प्रणव की) पहली मात्रा अकारस्वरूप है। इस प्रकार जो साधक जानता है; वह समस्त कामनाओं को प्राप्त कर लेता है और (सभी महापुरुषों में) प्रधान हो जाता है।।९।।

स्वप्नस्थानवाला तैजस उत्कर्ष तथा मध्यवर्तित्व इन दोनों कारणों से ओंकार की द्वितीय मात्रा उकारस्वरूप है। इस प्रकार जो साधक जान लेता है, वह अपनी ज्ञानसंतति का उत्कर्ष करता है और सबके प्रति समान होता है। इसके अतिरिक्त इसके वंश में कोई पुरुष ब्रह्मज्ञान से हीन नहीं होता है।।१०।।

---

कृत्याभिधानप्राधान्येन वर्ण्यमानोऽध्यक्षरम्। किं पुनस्तदक्षरमित्याह। ओंकारः। सोऽयमोंकारः पादशः प्रविभज्यमानोऽधिमात्रं मात्रामधिकृत्य वर्तत इत्यधिमात्रम्। कथमात्मनो ये पादास्त ओंकारस्य मात्राः। कास्ताः अकार उकारो मकार इति ।।८।।

तत्र विशेषनियमः क्रियते। जागरितस्थानो यः स ओंकारस्याकारः प्रथमा मात्रा। केन सामान्येनेत्याह। आप्तेराप्तिर्व्याप्तिरकारेण सर्वा वाग्व्याप्ता। "अकारो वै सर्वा वाक्" इति श्रुतेः। तथा वैश्वानरेण जगत्। "तस्य ह वैतस्याऽऽत्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाः" इत्यादिश्रुतेः। अभिधानाभिधेययोरेकत्वं चावोचाम। आदिरस्य विद्यत इत्यादिमद्य-थैवाऽऽदिमदकाराख्यमक्षरं तथैव वैश्वानरस्तस्माद्वा सामान्यादकारत्वं वैश्वानरस्य। तदेकत्वविदः फलमाह। आप्नोति ह वै सर्वान्कामानादिः प्रथमश्च भवति महतां य एवं वेद यथोक्तमेकत्वं वेदेत्यर्थः।।९।।

स्वप्नस्थानस्तैजसो यः स ओंकारस्योकारो द्वितीया मात्रा। केन सामान्येनेत्याह। उत्कर्षात्। अकारादुत्कृष्ट इव ह्युकारस्तथा तैजसो विश्वादुभयत्वाद्वाऽकारमकार-योर्मध्यस्थ उकारस्तथा विश्वप्राज्ञयोर्मध्ये तैजसोऽत उभयभाक्त्वसामान्यात्। विद्वत्फल-मुच्यते। उत्कर्षति ह वै ज्ञानसंततिम्। विज्ञानसंततिं वर्धयतीत्यर्थः। समानस्तुल्यश्च

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वा मिनोति ह वा इदꣳ सर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद ।।११।।

अत्रैते श्लोका भवन्ति (गौडपादीयश्लोकाः)—

विश्वस्यात्वविवक्षायामादिसामान्यमुत्कटम् ।
मात्रासंप्रतिपत्तौ स्यादाप्तिसामान्यमेव च।।१९।।

सुषुप्तिस्थान वाला प्राज्ञ; मान तथा लय इन दोनों कारणों से ओंकार की तीसरी मात्रा मकार स्वरूप है। जो साधक इस प्रकार जान लेता है, वह इस सम्पूर्ण जगत् को माप लेता है और सबका विलयस्थान हो जाता है।।११।।

जब विश्वात्मा का अकार-मात्रत्व बतलाना अभीष्ट हो, उस समय समझना चाहिए कि उन दोनों में प्राथमिकत्व की समानता स्पष्ट है। अत्व विवक्षा पद की व्याख्या मात्रा-सम्प्रतिपत्ति है। विश्व और अकार की समानता में (इनमें) व्याप्तिरूप सामान्य भी स्फुट ही है।।१९।।

---

मित्रपक्षस्येव शत्रुपक्षाणामप्रद्वेष्यो भवति। अब्रह्मविदस्य कुले न भवति य एवं वेद ।।१०।।

सुषुप्तिस्थानः प्राज्ञो यः स मकार ओंकारस्य तृतीया मात्रा। केन सामान्येनेत्याह सामान्यमिदमत्र। मितेर्मितिर्मानं मीयेते इव हि विश्वतैजसौ प्राज्ञेन प्रलयोत्पत्त्योः प्रवेशनिर्गमाभ्यां प्रस्थेनेब यवाः। तथोंकारसमाप्तौ पुनः प्रयोगे च प्रविश्य निर्गच्छत इवाकारोकारौ मकारे। अपीतेर्वा। अपीतिरप्यय एकीभावः। ओंकारोच्चारणेऽन्त्येऽक्षर एकीभूताविवाकारोकारौ। तथा विश्वतैजसौ सुषुप्तिकाले प्राज्ञे एकीभूतौ। अतो वा सामान्यादेकत्वं प्राज्ञमकारयोः। विद्वत्फलमाह। मिनोति ह वा इदं सर्वं जगद्याथात्म्यं जानातीत्यर्थः। अपीतिश्च जगत्कारणात्मा भवतीत्यर्थः। अत्रावान्तरफलवचनं प्रधानसाधनस्तुत्यर्थम्।।११।।

विश्वस्यात्वमकारमात्रत्वं यदा विवक्ष्यते तदाऽऽदित्वसामान्यमुक्तन्यायेनोत्कटमुद्भूतं दृश्यते इत्यर्थः। अत्वविवक्षायामित्यस्य व्याख्यानं मात्रासंप्रतिपत्ताविति। विश्वस्याकारमात्रत्वं यदा संप्रतिपद्यते इत्यर्थः। आप्तिसामान्यमेव चोत्कटमित्यनुवर्तते चशब्दात्।।१९।।

तैजसस्योत्वविज्ञान उत्कर्षो दृश्यते स्फुटम्।
मात्रासंप्रतिपत्तौ स्यादुभयत्वं तथाविधम् ।।२०।।

मकारभावे प्राज्ञस्य मानसामान्यमुत्कटम् ।
मात्रासंप्रतिपत्तौ तु लयसामान्यमेव च ।।२१।।

त्रिषु धामसु यत्तुल्यं सामान्यं वेत्ति निश्चितः।
स पूज्यः सर्वभूतानां वन्द्यश्चैव महामुनिः ।।२२।।

अकारो नयते विश्वमुकारश्चापि तैजसम् ।
मकारश्च पुनः प्राज्ञं नामात्रे विद्यते गतिः।।२३।।

तैजस का उकार मात्रारूप जानने में उन दोनों का उत्कर्ष स्पष्ट दीखता है और उनका उभयत्व भी स्फुट ही है ।।२०।।

प्राज्ञ को मकारमात्रारूप जानने में उन दोनों में मान और लयरूप समानता सपष्ट है।।२१।।

जो पुरुष जाग्रदादि तीनों स्थानों में बतलायी गई तुल्यता और समानता को निश्चित रूप से जानता है, वह महामुनि है तथा समस्त प्राणियों का वन्दनीय व पूजनीय हो जाता है।।२२।।

(पृथक्-पृथक् उपासना किये जाने पर) अकार विश्व को प्राप्त करा देता है, उकार तैजस को और मकार प्राज्ञ को प्राप्त करा देता है; पर अमात्र में कोई गति नहीं है।।२३।।

---

तैजसस्योत्वविज्ञाने उकारत्वविवक्षायामुत्कर्षो दृश्यते स्फुटं स्पष्टमित्यर्थः। उभयत्वं च स्फुटमेवेति। पूर्ववत्सर्वम्।।२०।।

मकारत्वे प्राज्ञस्य मितिलयावुत्कृष्टे सामान्ये इत्यर्थः।।२१।।

यथोक्तस्थानत्रये तुल्यमुक्तं सामान्यं वेत्त्येवमेवैतदिति निश्चितो यः स पूज्यो वन्द्यश्च ब्रह्मविल्लोके भवति।।२२।।

यथोक्तैः सामान्यैरात्मपादानां मात्राभिः सहैकत्वं कृत्वा यथोक्तोंकारं प्रतिपद्य यो ध्यायति तमकारो नयते विश्वं प्रापयति। अकारालम्बनमोंकारं विद्वान्वैश्वानरो भवतीत्यर्थः। तथोकारस्तैजसम्। मकारश्चापि पुनः प्राज्ञं चशब्दान्नयते इत्यनुवर्तते। क्षीणे तु मकारे बीजभावक्षयादमात्र ओंकारे गतिर्न विद्यते क्वचिदित्यर्थः।।२३।।

(उपनिषद्)

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोंकार आत्मैव संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद ।।१२।।

पूर्ववत्—

अत्रैते श्लोका भवन्ति—

(गौडपादीयश्लोकाः।)

ओंकारं पादशो विद्यात्पादा मात्रा न संशयः।
ओंकारं पादशो ज्ञात्वा किंचिदपि चिन्तयेत्।।२४।।

मात्रा रहित ओंकार तुरीय आत्मस्वरूप ही है। वह (मनवाणी के अविषय होने से) अव्यवहार्य प्रपञ्च उपशम शिव और अद्वैतस्वरूप है। इस प्रकार ओंकार आत्मस्वरूप ही है। इसे जो इस रूप में जानता है, वह अपने आत्मा में भली प्रकार से प्रवेश कर जाता है।।१२।।

(माण्डूक्योपनिषत्मूलमन्त्रहिन्दीमिताक्षरा समाप्त)

(यथोक्त समानता के कारण) एक-एक पाद करके जानो। इसमें किंचित् संदेह नहीं कि पाद ही ओंकार की मात्राएँ है। इस प्रकार पादक्रम से ओंकार को जानकर दृष्ट अथवा अदृष्ट किसी भी प्रयोजन का चिन्तन न करे।।२४।।

---

अमात्रो, मात्रा यस्य नास्ति सोऽमात्र, ओंकारश्चतुर्थस्तुरीय आत्मैव केवलोऽभिधानाभिधेयरूपयोर्वाङ्मनसयोः क्षीणत्वादव्यवहार्यः। प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैतः संवृत्त एवं यथोक्तविज्ञानवता प्रयुक्त ओंकारस्त्रिमात्रस्त्रिपादः आत्मैव। संविशत्यात्मना स्वेनैव स्वं पारमार्थिकमात्मानं य एवं वेद। परमार्थदर्शी ब्रह्मवित्तृतीयं बीजभावं दग्ध्वाऽऽत्मानं प्रविष्टः इति न पुनर्जायते तुरीयस्याबीजत्वात्। न हि रज्जुसर्पयोर्विवेके रज्ज्वां प्रविष्टः सर्पो बुद्धिसंस्कारात्पुनः पूर्ववत्तद्विवेकिनामुत्थास्यति। मन्दमध्यमधियां तु प्रतिपन्नसाधकभावानां सन्मार्गगामिनां(णां) संन्यासिनां मात्राणां पादानां च क्लृप्तसामान्यविदां यथावदुपास्यमान ओंकारो ब्रह्मप्रतिपत्तय आलम्बनीभवति। तथा च वक्ष्यति— "आश्रमास्त्रिविधा हीनां' इत्यादि।।१२।।

(इति माण्डूक्यमूलमन्त्रभाष्यम्)

यथोक्तैः सामान्यैः पादा एव मात्रा मात्राश्च पादास्तस्मादोंकारं पादशो विद्यादित्यर्थः। एवमोंकारे ज्ञाते दृष्टार्थमदृष्टार्थं वा न किंचित्प्रयोजनं चिन्तयेत्कृतार्थत्वादित्यर्थः।।२४।।

युञ्जीत प्रणवे चेतः प्रणवो ब्रह्म निर्भयम्।
प्रणवे नित्ययुक्तस्य न भयं विद्यते क्वचित्।।२५।।

प्रणवो ह्यपरं ब्रह्म प्रणवश्च परः स्मृतः।
अपूर्वोऽनन्तरोऽबाह्योऽनपरः प्रणवोऽव्ययः।।२६।।

सर्वस्य प्रणवो ह्यादिर्मध्यमन्तस्तथैव च।
एवं हि प्रणवं ज्ञात्वा व्यश्नुते तदनन्तरम् ।।२७।।

प्रणव में ही मन को समाहित करे क्योंकि प्रणव भयशून्य ब्रह्मस्वरूप है। इस प्रकार प्रणव में नित्य समाहित रहने वाले पुरुष को कहीं भी भय नहीं है।।२५।।

प्रणव ही अपर ब्रह्म है और प्रणव ही परब्रह्म माना गया है, वह प्रणव कारणरहित अन्तर्बाह्यशून्य कार्यरहित तथा अव्यय है।।२६।।

सबका उत्पत्ति, स्थिति और लय स्थान प्रणव ही है। इस प्रणव को जानने के बाद साधक प्रणव को ही प्राप्त कर लेता है।।२७।।

---

युञ्जीत समादध्याद्यथाव्याख्याते परमार्थरूपे प्रणवे चेतो मनः। यस्मात्प्रणवो ब्रह्म निर्भयम्। न हि तत्र सदा युक्तस्य भयं विद्यते क्वचित्। "विद्वान्न बिभेति कुतश्चन" इति श्रुतेः।।२५।।

परापरे ब्रह्मणी प्रणवः परमार्थतः क्षीणेषु मात्रापादेषु पर एवाऽऽत्मा ब्रह्मेति न पूर्वं कारणमस्य विद्यत इत्यपूर्वः। नास्यान्तरं भिन्नजातीयं किंचिद्विद्यत इत्यनन्तरः। तथा बाह्यमन्यन्न विद्यत इत्यबाह्यः। अपरं कार्यमस्य न विद्यत इत्यनपरः। "सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः" सैन्धवघनवदित्यर्थः।।२६।।

आदिमध्यान्ता उत्पत्तिस्थितिप्रलयाः सर्वस्यैव। मायाहस्तिरज्जुसर्पमृगतृष्णिकास्वप्नादिवदुत्पद्यमानस्य वियदादिप्रपञ्चस्य यथा मायाव्यादयः। एवं हि प्रणवमात्मानं मायाव्यादिस्थानीयं ज्ञात्वा तत्क्षणादेव तदात्मभावं व्यश्नुत इत्यर्थः।।२७।।

प्रणवं हीश्वरं विद्यात्सर्वस्य हृदये स्थितम्।
सर्वव्यापिनमोंकारं मत्वा धीरो न शोचति ।।२८।।

अमात्रोऽनन्तमात्रश्च द्वैतस्योपशमः शिवः।
ओंकारो विदितो येन स मुनिर्नेतरो जनः।।२९।।

इति माण्डूक्योपनिषदर्थाविष्करणपरायां (सु) गौडपादीय-कारिकायां (सु) प्रथममागमप्रकरणम्।।१।।

ॐ तत्सत्।

सबके हृदय में स्थित प्रणव को ही ईश्वर जाने। इस प्रकार आकाशतुल्य सर्वव्यापक ओंकार को जानकर बुद्धिमान् पुरुष शोक नहीं करता।।२८।।

जिसने मात्रारहित तथा अनन्त मात्रा वाले, निखिल द्वैत के उपशमस्वरूप मंगलमय ओंकार को जान लिया है, वही (परमार्थतत्त्व का मन्ता होने से) मुनि है। (परशास्त्रज्ञ होते हुए भी) अन्य पुरुष मुनि नहीं है।।२९।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्ययतीन्द्रकुलतिलककैलासपीठाधीश्वरपरमादर्शमहामण्डलेश्वरस्वामिविद्यानन्दगिरि-विरचितामाण्डूक्यकारिकाप्रथमागमप्रकरणस्य विद्यानन्दीमिताक्षरा ।।१।।

---

सर्वस्य प्राणिजातस्य स्मृतिप्रत्ययास्पदे हृदये स्थितमीश्वरं प्रणवं विद्यात्सर्वव्यापिनं व्योमवदोंकारमात्मानमसंसारिणं धीरो बुद्धिमान्मत्वा न शोचति। शोकनिमित्तानुपपत्तेः। "तरति शोकमात्मवित्" इत्यादिश्रुतिभ्यः।।२८।।

अमात्रस्तुरीय ओंकारो मीयतेऽनयेति मात्रा परिच्छित्तिः साऽनन्ता यस्य सोऽनन्त-मात्रः। नैतावत्त्वमस्य परिच्छेत्तुं शक्यते इत्यर्थः। सर्वद्वैतोपशमत्वादेव शिवः। ओंकारो यथाव्याख्यातो विदितो येन स परमार्थतत्त्वस्य मननान्मुनिः। नेतरो जनः शास्त्र-विदपीत्यर्थः।।२९।।

प्रथममाह्निकम्

*इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य शंकरभगवतः कृतावागमशास्त्रविवरणे गौडपादीयकारिका-सहितमाण्डूक्योपनिषद्भाष्ये प्रथममागमप्रकरणम्।।१।।*

# अथ गौडपादीयकारिकायां वैतथ्याख्यं द्वितीयं प्रकरणम्

## हरिः ॐ

वैतथ्यं सर्वभावानां स्वप्न आहुर्मनीषिणः।
अन्तःस्थानात्तु भावानां संवृतत्वेन हेतुना ।।१।।

अदीर्घत्वाच्च कालस्य गत्वा देशान्न पश्यति।
प्रतिबुद्धश्च वै सर्वस्तस्मिन्देशे न विद्यते ।।२।।

(स्वप्न में प्रतीत होने वाले) सभी पदार्थ शरीर के भीतर ही स्थित रहते हैं, वहाँ के संकुचित स्थान के कारण मनीषियों ने स्वप्न में दीखने वाले सभी पदार्थों का मिथ्यात्व बतलाया है।।१।।

काल की अदीर्घता के कारण स्वप्नद्रष्टा देह से बाहर जाकर उन देशों को नहीं देखता है। क्योंकि जागने पर सभी व्यक्ति उस देश में विद्यमान नहीं रहते, जहाँ वह स्वप्न में अपने को देखता था। (इससे देह से बाहर जाकर स्वप्न में देखना सिद्ध नहीं होता) ।।२।।

---

ॐ। ज्ञाते द्वैतं न विद्यत इत्युक्तम्, एकमेवाद्वितीयमित्यादिश्रुतिभ्यः। आगममात्रं तत्। तत्रोपपत्त्याऽपि द्वैतस्य वैतथ्यं शक्यतेऽवधारयितुमिति द्वितीयं प्रकरणमारभ्यते—वैतथ्यमित्यादिना। वितथस्य भावो वैतथ्यम्, असत्यत्वमित्यर्थः। कस्य? सर्वेषां बाह्याध्यात्मिकानां भावानां पदार्थानां स्वप्न उपलभ्यमानानाम्। आहुः कथयन्ति। मनीषिणः प्रमाणकुशलाः। वैतथ्ये हेतुमाह—अन्तःस्थानात्। अन्तःशरीरस्य मध्ये स्थानं ह्येषाम्। तत्र हि भावा उपलभ्यन्ते पर्वतहस्त्यादयो न बहिः शरीरात्। तस्मात्ते वितथा भवितुमर्हन्ति। नन्वपवरकाद्यन्तरुपलभ्यमानैर्घटादिभिरनैकान्तिको हेतुरित्याशङ्क्याऽऽह—संवृतत्वेन हेतुनेति। अन्तःसंवृते स्थानादित्यर्थः। न ह्यन्तः संवृते देहान्तर्नाडीषु पर्वतहस्त्यादीनां संभवोऽस्ति। न हि देहे पर्वतोऽस्ति।।१।।

स्वप्नदृश्यानां भावानामन्तःसंवृतस्थानमित्येतदसिद्धम्। यस्मात्प्राच्येषु सुप्तः उदक्षु स्वप्नान्पश्यन्निव दृश्यत इत्येतदाशङ्क्याऽऽह। न देहाद्बहिर्देशान्तरं गत्वा स्वप्नान्पश्यति। यस्मात्सुप्तमात्र एव देहदेशाद्योजनशतान्तरिते मासमात्रप्राप्ये देशे स्वप्नान्पश्यन्निव दृश्यते। न च तद्देशप्राप्तेरागमनस्य च दीर्घः कालोऽस्ति। अतोऽदीर्घत्वाच्च

अभावश्च रथादीनां श्रूयते न्यायपूर्वकम् ।
वैतथ्यं तेन वै प्राप्तं आहुः प्रकाशितम् ।। ३।।

अन्तःस्थानात्तु भेदानां तस्माज्जागरिते स्मृतम् ।
यथा तत्र तथा स्वप्ने संवृतत्वेन भिद्यते ।।४।।

स्वप्न में दीखने वाले रथादि का अभाव तर्कपूर्वक श्रुतियों में सुना जाता है। अतः स्वप्न में युक्ति से सिद्ध मिथ्यात्व को ही श्रुति में स्पष्ट किया गया है, ऐसा ब्रह्मवेत्ता कहते हैं।। ३।।

उक्त कारणों से ही जाग्रत् अवस्था में भी पदार्थों का मिथ्यात्व सिद्ध होता है। दृश्यत्व हेतु स्वप्न के समान जाग्रत् के पदार्थों में भी मिथ्यात्व सिद्ध कर रहा है। केवल शरीर के भीतर होना और संकुचित स्थान में रहना ही स्वप्न के पदार्थों में वैशिष्ट्य है ।। ४।।

---

कालस्य न स्वप्नदृग्देशान्तरं गच्छति। किंच प्रतिबुद्धश्च वै सर्वः स्वप्नदृक्स्वप्नदर्शनदेशे न विद्यते। यदि च स्वप्ने देशान्तरं गच्छेद्यस्मिन्देशे स्वप्नान्पश्येत्तत्रैव प्रतिबुध्येत। न चैतदस्ति। रात्रौ सुप्तोऽहनीव भावान्पश्यति बहुभिः संगतो यैश्च संगतो भवति तैर्गृह्येत। न च गृह्यते। गृहीतश्चेत्त्वामद्य तत्रोपलब्धवन्तो वयमिति ब्रूयुः। न चैतदस्ति। तस्मान्न देशान्तरं गच्छति स्वप्ने ।। २।।

इतश्च स्वप्नदृश्या भावा वितथाः। यतोऽभावश्चैव रथादीनां स्वप्नदृश्यानां श्रूयते न्यायपूर्वकं युक्तितः श्रुतौ "न तत्र रथाः" इत्यत्र। तेनान्तःस्थानसंवृतत्वादिहेतुना प्राप्तं वैतथ्यं तदनुवादिन्या श्रुत्या स्वप्ने स्वयंज्योतिष्ट्वप्रतिपादनपरया प्रकाशितमाहुर्ब्रह्मविदः ।। ३।।

जाग्रद्दृश्यानां भावानां वैतथ्यमिति प्रतिज्ञा। दृश्यत्वादिति हेतुः। स्वप्नदृश्यभाववदिति दृष्टान्तः। यथा तत्र स्वप्ने दृश्यानां भावानां वैतथ्यं तथा जागरितेऽपि दृश्यत्वमविशिष्टमिति हेतूपनयः। तस्माज्जागरितेऽपि वैतथ्यं स्मृतमिति निगमनम्। अन्तःस्थानात्संवृतत्वेन च स्वप्नदृश्यानां भावानां जाग्रद्दृश्येभ्यो भेदः। दृश्यत्वमसत्यत्वं चाविशिष्टमुभयत्र।। ४।।

स्वप्नजागरिते स्थाने ह्येकमाहुर्मनीषिणः ।
भेदानां हि समत्वेन प्रसिद्धेनैव हेतुना ।।५।।

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा ।
वितथैः सदृशाः सन्तोऽवितथा इव लक्षिताः।। ६।।

सप्रयोजनता तेषां स्वप्ने विप्रतिपद्यते।
तस्मादाद्यन्तवत्त्वेन मिथ्यैव खलु ते स्मृताः ।। ७।।

दृश्यत्व और मिथ्यात्व तो उभयत्र समान है, इस प्रकार मिथ्यात्व के प्रयोजक दृश्यत्व रूप प्रसिद्ध हेतु पदार्थों में समान होने के कारण मनीषियों ने स्वप्न और जाग्रद् अवस्था को समान ही बतलाया है ।।५।।

जो वस्तु आदि और अन्त में असद् रूप है, वह वर्तमान में भी असद् ही मानी जाती है। मृगतृष्णिकादि असद् वस्तुओं के समान होते हुए भी (अनात्मज्ञ पुरुषों द्वारा) वे सद्रूप समझे जाते हैं।। ६।।

जाग्रत् के पदार्थों में सप्रयोजनता नहीं कर सकते क्योंकि स्वप्न में उसके विपरीत देखा जाता है, अर्थात् स्वप्न की वस्तु से जाग्रत् में काम नहीं चलता और स्वप्न में जाग्रत् की वस्तु से काम नहीं चलता। अतएव आद्यन्तवत्त्व हेतु से निश्चय ही वे दोनों अवस्था के पदार्थ मिथ्या ही माने गये हैं।। ७।।

---

प्रसिद्धेनैव भेदानां ग्राह्यग्राहकत्वेन हेतुना समत्वेन स्वप्नजागरितस्थानयोरेकत्वमाहुर्विवेकिन इति पूर्वप्रमाणसिद्धस्यैव फलम् ।। ५।।

इतश्च वैतथ्यं जाग्रद्दृश्यानां भेदानामाद्यन्तयोरभावाद्यदादावन्ते च नास्ति वस्तु मृगतृष्णिकादि तन्मध्येऽपि नास्तीति निश्चितं लोके। तथेमे जाग्रद्दृश्या भेदाः। आद्यन्तयोरभावाद्वितथैरेव मृगतृष्णिकादिभिः सदृशत्वाद्वितथा एव तथाऽप्यवितथा इव लक्षिता मूढैरनात्मविद्भिः ।।६।।

स्वप्नदृश्यवज्जागरितदृश्यानामप्यसत्त्वमिति यदुक्तं, तदयुक्तम्। यस्माज्जाग्रद्दृश्या अन्नपानवाहनादयः क्षुत्पिपासादिनिवृत्तिं कुर्वन्तो गमनागमनादिकार्यं च सप्रयोजना दृष्टाः। न तु स्वप्नदृश्यानां तदस्ति। तस्मात्स्वप्नदृश्यवज्जाग्रद्दृश्यानामसत्त्वं मनोरथमात्रमिति, तन्न।

अपूर्वं स्थानिधर्मो हि यथा स्वर्गनिवासिनाम् ।
तानयं प्रेक्षते गत्वा यथैवेह सुशिक्षितः ।। ८।।
स्वप्नवृत्तावपि त्वन्तश्चेतसा कल्पितं त्वसत्।

जैसे स्वर्ग निवासी इन्द्रादि देवों की सहस्त्र नेत्रत्वादि अपूर्व अवस्था सुनी जाती है वैसे ही यह स्वप्न भी स्वप्नद्रष्टा का ही अपूर्व धर्म है। यह स्वप्न पदार्थों को जाकर वैसे ही देखता है जैसे कि इस लोक में देशान्तरीय मार्ग के सम्बन्ध में सुशिक्षित पुरुष नियत स्थान में जाकर अभीष्ट लक्ष्य को देखता है ।। ८।।

यद्यपि स्वप्न अवस्था में भी चित्त के अन्तःकल्पित पदार्थ असत् और चित्त से बाहर इन्द्रियों

---

कस्मात्। यस्मात्सप्रयोजनता दृष्टा याऽन्नपानादीनां सा स्वप्ने विप्रतिपद्यते। जागरिते हि भुक्त्वा पीत्वा च तृप्तो विनिवर्तिततृट्सुप्तमात्र एव क्षुत्पिपासाद्यार्तमहोरात्रोषितम-भुक्तवन्तमात्मानं मन्यते। यथा स्वप्ने भुक्त्वा पीत्वा चातृप्तोत्थितस्तथा। तस्माज्जाग्रद्-दृश्यानां स्वप्ने विप्रतिपत्तिर्दृष्टा। अतो मन्यामहे तेषामप्यसत्त्वं स्वप्नदृश्यवदनाशङ्क-नीयमिति। तस्मादाद्यन्तवत्त्वमुभयत्र समानमिति मिथ्यैव खलु ते स्मृताः।। ७।।

स्वप्नजाग्रद्भेदयोः समत्वाज्जाग्रद्भेदानामसत्त्वमिति यदुक्तं तदसत्। कस्मात्। दृष्टान्तस्यासिद्धत्वात्। कथम्। न हि जाग्रद्दृष्टा एवैते भेदाः स्वप्ने दृश्यन्ते। किं तर्हि। अपूर्वं स्वप्ने पश्यति चतुर्दन्तं गजमारूढमष्टभुजमात्मानं मन्यते। अन्यदप्येवं प्रकारमपूर्वं पश्यति स्वप्ने। तन्नान्येनासता सममिति सदेव। अतो दृष्टान्तोऽसिद्धः। तस्मात्स्वप्नवज्जागरित-स्यासत्त्वमित्ययुक्तम्। तन्न। स्वप्ने दृष्टमपूर्वं यन्मन्यसे न तत्स्वतः सिद्धम्। किं तर्हि। अपूर्वस्थानिधर्मो हि स्थानिनो द्रष्टुरेव हि स्वप्नस्थानतो धर्मः। यथा स्वर्गनिवासिनामिन्द्रादीनां सहस्राक्षत्वादि तथा स्वप्नदृशोऽपूर्वोऽयं धर्मः। न स्वतःसिद्धो द्रष्टुः स्वरूपवत्। तानेवंप्रकारानपूर्वान्स्वचित्त-विकल्पानयं स्थानी स्वप्नदृक्स्वप्नस्थानं गत्वा प्रेक्षते। यथैवेह लोके सुशिक्षितो देशान्तरमार्गस्तेन मार्गेण देशान्तरं गत्वा तान्पदार्थान्पश्यति तद्वत्। तस्माद्यथा स्थानिधर्माणां रज्जुसर्पमृग-तृष्णिकादीनामसत्त्वं तथा स्वप्नदृश्यानामपूर्वाणां स्थानिधर्मत्वमेवेत्यसत्त्वमतो न स्वप्नदृष्टान्त-स्यासिद्धत्वम्।। ८।।

अपूर्वत्वाशङ्कां निराकृत्य स्वप्नदृष्टान्तस्य पुनः स्वप्नतुल्यतां जाग्रद्भेदानां प्रपञ्चय-न्नाह— स्वप्नवृत्तावपि स्वप्नस्थानेऽप्यन्तश्चेतसा मनोरथसंकल्पितमसत्। संकल्पानन्तरं स्वप्न-

बहिश्चेतोगृहीतं सद्दृष्टं वैतथ्यमेतयोः।। ९।।

जाग्रद्वृत्तावपि त्वन्तश्चेतसा कल्पितं त्वसत्।
बहिश्चेतोगृहीतं सद्युक्तं वैतथ्यमेतयोः ।।१०।।

उभयोरपि वैतथ्यं भेदानां स्थानयोर्यदि ।
क एतान्बुध्यते भेदान्को वै तेषां विकल्पकः।। ११।।

कल्पयत्यात्मनाऽऽत्मानमात्मा देवः स्वमायया ।
स एव बुध्यते भेदानिति वेदान्तनिश्चयः ।। १२।।

द्वारा गृहीत पदार्थ सत् जान पड़ते हैं, तथापि इन दोनों में मिथ्यात्व समानरूप से ही देखा गया है।। ९।।

स्वप्नवत् जाग्रदवस्था में भी चित्त के भीतर कल्पित पदार्थ असत् और चित्त से बाहर गृहीत पदार्थ सत् समझा गया है। किन्तु इन दोनों में ही मिथ्यात्व मानना उचित है।। १०।।

यदि दोनों ही अवस्थाओं के दीखने वाले पदार्थों में मिथ्यात्व है, तो इन पदार्थों को कौन जानता है और कौन उनकी कल्पना करता है।। ११।।

स्वयंप्रकाश आत्मदेव माया से अपने को ही स्वयं अनेक भेदों में कल्पना करता है और उन भेदों को वही जानता भी है। बस, यही वेदान्त का निश्चय है।। १२।।

---

समकालमेवादर्शनात्।तत्रैव स्वप्ने बहिश्चेतसा गृहीतं चक्षुरादिद्वारेणोपलब्धं घटादि सदित्येवमसत्त्वमिति निश्चितेऽपि सदसद्विभागो दृष्टः। उभयोरप्यन्तर्बहिश्चेतःकल्पितयोर्वैतथ्यमेव दृष्टम्।। ९।।

सदसतोर्वैतथ्यं युक्तम्। अन्तर्बहिश्चेतःकल्पितत्वाविशेषादिति। व्याख्यातमन्यत् ।।१०।।

चोदकश्चाऽऽह—स्वप्नजाग्रत्स्थानयोर्भेदानां यदि वैतथ्यं, क एतानन्तर्बहिश्चेतः कल्पितान्बुध्यते। को वै तेषां विकल्पकः। स्मृतिज्ञानयोः क आलम्बनमित्यभिप्रायः। न चेन्निरात्मवाद इष्टः।। ११।।

स्वयं स्वमायया स्वमात्मानमात्मा देव आत्मन्येव वक्ष्यमाणं भेदाकारं कल्पयति रज्ज्वादाविव सर्पादीन्। स्वयमेव च तान्बुध्यते भेदांस्तद्वदेवेत्येवं वेदान्तनिश्चयः। नान्योऽस्ति ज्ञानस्मृत्याश्रयः। न च निरास्पदे एव ज्ञानस्मृती वैनाशिकानामिवेत्यभिप्रायः । ।१२।।

विकरोत्यपरान्भावानन्तश्चित्ते व्यवस्थितान्।
नियतांश्च बहिश्चित्त एवं कल्पयते प्रभुः।।१३।।

चित्तकाला हि येऽन्तस्तु द्वयकालाश्च ये बहिः।
कल्पिता एव ते सर्वे विशेषो नान्यहेतुकः ।।१४।।

समर्थ आत्मा अपने चित्त में वासनारूप से रहे हुए अन्य लौकिक पदार्थों को नाना रूप से विकृत कर देता है। ठीक वैसे ही बहिश्चित्त होकर सभी पृथिव्यादि व्यावहारिक और कल्पनाकाल में प्रतीत होने वाले अनियत रज्जु-सर्पादि की भी वैसे ही कल्पना कर लेता है।। १३।।

जो आन्तरिक स्वप्न दृश्यादि पदार्थ केवल कल्पना काल में रहते हैं और जो जाग्रत् के बाह्य पदार्थ दो काल वाले हैं, वे सभी कल्पित हैं। बाह्य पदार्थों में द्विकालिकत्वरूप विशेष भी कल्पना के कारण से ही है; अन्य कारण से नहीं।। १४।।

---

संकल्पयन्केन प्रकारेण कल्पयतीत्युच्यते। विकरोति नाना करोत्यपराँल्लौकिकान्भावान्पदार्थाञ्शब्दादीनन्यांश्चान्तश्चित्ते वासनारूपेण व्यवस्थितानव्याकृतान्नियतांश्च पृथ्व्यादीननियतांश्च कल्पनाकालान्बहिश्चित्तः संस्तथाऽन्तश्चित्तो मनोरथादिलक्षणानित्येवं कल्पयति। प्रभुरीश्वर आत्मेत्यर्थः।।१३।।

स्वप्नवच्चित्तपरिकल्पितं सर्वमित्येतदाशङ्क्यते। यस्माच्चित्तपरिकल्पितैर्मनोरथादिलक्षणैश्चित्तपरिच्छेद्यैर्वैलक्षण्यं बाह्यानामन्योन्यपरिच्छेद्यत्वमिति सा न युक्ताऽऽशङ्का। चित्तकाला हि येऽन्तस्तु चित्तपरिच्छेद्याः। नान्यश्चित्तकालव्यतिरेकेण परिच्छेदकः कालो येषां ते चित्तकालाः। कल्पनाकाल एवोपलभ्यन्त इत्यर्थः। द्वयकालश्च भेदकाला अन्योन्यपरिच्छेद्याः। यथाऽऽगोदोहनमास्ते यावदास्ते तावद्गां दोग्धि यावद्गां दोग्धि तावदास्ते। तावानयमेतावान्स इति परस्परपरिच्छेद्यपरिच्छेदकत्वं बाह्यानां भेदानां ते द्वयकालाः। अन्तश्चित्तकाला बाह्याश्च द्वयकालाः। कल्पिता एव ते सर्वे। न बाह्यो द्वयकालत्वविशेषः कल्पितत्वव्यतिरेकेणान्यहेतुकः। अत्रापि हि स्वप्नदृष्टान्तो भवत्येव।। १४।।

अव्यक्ता एव येऽन्तस्तु स्फुटा एव च ये बहिः ।
कल्पिता एव ते सर्वे विशेषस्त्विन्द्रियान्तरे ।।१५।।
जीवं कल्पयते पूर्वं ततो भावान्पृथग्विधान् ।
बाह्यानाध्यात्मिकांश्चैव यथाविद्यस्तथास्मृतिः ।।१६।।

वासनामात्रजन्य जो स्वप्नदृश्यादि आन्तरिक पदार्थ हैं, वे अव्यक्त ही हैं और जो बाह्य हैं, वे चक्षुरादि इन्द्रियों से स्पष्ट प्रतीत होने वाले हैं, फिर भी वे सभी कल्पित ही हैं। उनकी विशेषता जो केवल इन्द्रियों के कारण से है अर्थात् एक इन्द्रिय से दूसरी इन्द्रिय के बिना ही प्रतीत होते हैं।।१५।।

(शुद्ध आत्मा में वह प्रभु) पहले कर्तृत्वादि विशिष्ट जीव की कल्पना करता है, तत्पश्चात् भिन्न-भिन्न प्रकार के बाह्य और आध्यात्मिक पदार्थों की कल्पना करता है। जीव जैसा विचार वाला होता है, वैसे ही उसकी स्मृति भी होती है।। १६।।

---

यदप्यन्तरव्यक्तत्वं भावानां मनोवासनामात्राभिव्यक्तानां स्फुटत्वं वा बहिश्चक्षुरादीन्द्रियान्तरग्राह्याणां विशेषो नासौ भेदानामस्तित्वकृतः स्वप्नेऽपि तथा दर्शनात्। किं तर्हीन्द्रियान्तरकृत एव। अतः कल्पिता एव जाग्रद्भावा अपि स्वप्नभाववदिति सिद्धम्। ।१५।।

बाह्याध्यात्मिकानां भावानामितरेतरनिमित्तनैमित्तिकतया कल्पनायां किं मूलमिति। उच्यते। जीवं हेतुफलात्मकम्। अहंकरोमि ममसुखदुःखे इत्येवंलक्षणम्। अनेवंलक्षण एव शुद्ध आत्मनि रज्ज्वामिव सर्पं कल्पयते पूर्वम्। ततस्तादर्थ्येन क्रियाकारकफलभेदेन प्राणादीन्नानाविधान्भावान्बाह्यानाध्यात्मिकांश्चैव कल्पयते। तत्र कल्पनायां को हेतुरित्युच्यते। योऽसौ स्वयं कल्पितो जीवः सर्वकल्पनायामधिकृतः स यथाविद्यो यादृशी विद्या विज्ञानमस्येति यथाविद्यस्तथाविधैव स्मृतिस्तस्येति तथास्मृतिर्भवति स इति। अतो हेतुकल्पनाविज्ञानात्फलविज्ञानं ततो हेतुफलस्मृतिस्ततस्तद्विज्ञानं तदर्थक्रियाकारकतत्फलभेदविज्ञानानि। तेभ्यस्तत्स्मृतिस्तत्स्मृतेश्च पुनस्तद्विज्ञानानीत्येवं बाह्यानाध्यात्मिकांश्चेतरेतरनिमित्तनैमित्तिकभावेनानेकधा कल्पयते ।। १६।।

अनिश्चिता यथा रज्जुरन्धकारे विकल्पिता ।
सर्पधारादिभिर्भावैस्तद्वदात्मा विकल्पितः ।। १७।।
निश्चितायां यथा रज्ज्वां विकल्पो विनिवर्तते ।
रज्जुरेवेति चाद्वैतं तद्वदात्मविनिश्चयः ।। १८।।
प्राणादिभिरनन्तैश्च भावैरेतैर्विकल्पितः ।

जैसे (लोक में अपने से) निश्चित न की गयी रज्जु अंधकार में सर्प, जलधारा तथा दण्डादि भावों से कल्पना की जाती है, वैसे ही आत्मा भी अनेक प्रकार से विकल्प का विषय बन रहा है ।। १७।।

'यह रज्जु ही है', इस प्रकार रज्जु के निश्चय हो जाने पर जैसे उसमें सर्पादि विकल्प सर्वथा मिट जाता है और केवल रज्जु का निश्चय होता है; वैसे ही आत्मा का निश्चय संपूर्ण कर्तृत्वादि विकल्प को समाप्त कर देता है ।। १८।।

(आगे कहे जाने वाले) जो इन प्राणादि अनन्त पदार्थों के रूप से विकल्प के विषय बन रहे

---

तत्र जीवकल्पना सर्वकल्पनामूलमित्युक्तं सैव जीवकल्पना किंनिमित्तेति दृष्टान्तेन प्रतिपादयति—यथा लोके स्वेनरूपेणानिश्चिताऽनवधारितैवमेवेति रज्जुर्मन्दान्धकारे किं सर्प उदकधारा दण्ड इति वाऽनेकधा विकल्पिता भवति पूर्वं स्वरूपानिश्चयनिमित्तम्। यदि हि पूर्वमेव रज्जुः स्वरूपेण निश्चिता स्यात्, न सर्पादिविकल्पोऽभविष्यत्। यथा स्वहस्ताङ्गुल्यादिषु। एष दृष्टान्तः। तद्वद्धेतुफलादिसंसारधर्मानर्थविलक्षणतया स्वेन विशुद्धविज्ञप्तिमात्रसत्ताऽद्वयरूपेणानिश्चितत्वाज्जीवप्राणाद्यनन्तभावभेदैरात्मा विकल्पित इत्येष सर्वोपनिषदां सिद्धान्तः।। १७।।

रज्जुरेवेति निश्चये सर्वविकल्पनिवृतौ रज्जुरेवेति चाद्वैतं यथा तथा "नेति नेति" इति सर्वसंसारधर्मशून्यप्रतिपादकशास्त्रजनितविज्ञानसूर्यालोककृतात्मविनिश्चयः "आत्मैवेदं सर्वम्" "अपूर्वोऽनपरोऽनन्तरोऽबाह्यः" "सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः" "अजरोऽमरोऽमृतोऽभय एक एवाद्वय" इति ।।१८।।

यद्यात्मैक एवेति निश्चयः कथं प्राणादिभिरनन्तैर्भावैरेतैः संसारलक्षणैर्विकल्पित इति। उच्यते। शृणु मायैषा तस्याऽऽत्मनो देवस्य। यथा मायाविना विहिता माया गगनम-

मायैषा तस्य देवस्य यया संमोहितः स्वयम् ।।१९।।

प्राण इति प्राणविदो भूतानीति च तद्विदः ।
गुणा इति गुणविदस्तत्त्वानीति च तद्विदः ।।२०।।

पादा इति पादविदो विषया इति तद्विदः ।
लोका इति लोकविदो देवा इति च तद्विदः ।।२१।।

वेदा इति वेदविदो यज्ञा इति च तद्विदः ।
भोक्तेति च भोक्तृविदो भोज्यमिति च तद्विदः ।।२२।।

हैं, वह यह उस आत्मदेव की माया ही है। जिससे वह स्वयं भी मोहित हुए के समान मोहग्रस्त हो रहा है ।। १९।।

हिरण्यगर्भादि प्राण के उपासक मानते हैं कि प्राण ही जगत् का हेतु है। भूतज्ञ चार्वाक आदि कहते हैं कि पृथिव्यादि भूतचतुष्टय ही जगत् का कारण है। गुणज्ञ सांख्यवादी मानते हैं कि सत्त्वादि तीन गुण ही सृष्टि के कारण हैं और तत्त्वविद् शैवों का कहना है कि (आत्मा, अविद्या तथा शिव ऐसे संक्षेपतः) ये तीन तत्त्व ही जगत् के प्रवर्तक हैं ।। २०।।

एक आत्मा के विश्वादि पाद ही सम्पूर्ण व्यवहार के हेतु हैं, ऐसा पादवेत्ता मानते हैं। वात्स्यायन आदि विषयवेत्ता कहते हैं—शब्दादि विषय ही तात्त्विक वस्तु है। लोकवेत्ता पौराणिकों का कहना है कि भूर्भुवः स्वः ये लोक ही सत्य हैं और देव उपासक मानते हैं कि इन्द्रादि देवता ही कर्म फल प्रदान करके सृष्टि का संचालन कर रहे हैं।। २१।।

ऋगादि चारों वेद ही पारमार्थिक वस्तु हैं—ऐसा वेद पारायणों में तत्पर वेदज्ञ मानते हैं। ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ ही संसार के मूल कारण हैं—ऐसा याज्ञिक कहते हैं। आत्मा केवल

---

तिविमलं कुसुमितैः सफलपलाशैस्तरुभिराकीर्णमिव करोति तथेयमपि देवस्य माया ययाऽयं स्वयमपि मोहित इव मोहितो भवति। "मम माया दुरत्यया" इत्युक्तम् ।।१९।।

प्राणः प्राज्ञो बीजात्मा तत्कार्यभेदा हीतरे स्थित्यन्ताः। अन्ये च सर्वे लौकिकाः सर्वप्राणिपरिकल्पिता भेदा रज्ज्वामिव सर्पादयः। तच्छून्य आत्मन्यात्मस्वरूपानिश्चय-

सूक्ष्म इति सूक्ष्मविदः स्थूल इति च तद्विदः ।
मूर्त इति मूर्तविदोऽमूर्त इति च तद्विदः ।।२३।।

काल इति कालविदो दिश इति च तद्विदः ।
वादा इति वादविदो भुवनानीति तद्विदः ।।२४।।

मन इति मनोविदो बुद्धिरिति च तद्विदः ।
चित्तमिति चित्तविदो धर्माधर्मौ च तद्विदः ।।२५।।

पञ्चविंशक इत्येके षड्विंश इति चापरे ।
एकत्रिंशक इत्याहुरनन्त इति चापरे ।।२६।।

भोक्ता है कर्ता नहीं—ऐसा भोक्तात्मवादी सांख्य मानते हैं और भोज्यवादी सूपकारादि भोज्य को ही परमार्थ तत्त्व कहते हैं ।।२२।।

आत्मा परमाणु के समान सूक्ष्म है, ऐसा सूक्ष्मवेत्ता मानते हैं। स्थूलवादी चार्वाक कहते हैं 'स्थूलदेहोऽहम्' इस प्रतीति से स्थूल ही परमार्थ तत्त्व है। साकार उपासक मूर्तात्मवादी कहते हैं कि परमार्थ वस्तु साकार है और शून्यवादियों का कहना है कि वह परमार्थ वस्तु आकार रहित है ।।२३।।

कालज्ञ ज्योतिषी लोग कहते हैं, काल ही परमार्थ तत्त्व है। स्वरोदय शास्त्री का कहना है कि केवल दिशाएँ परमार्थ है। वाद के रहस्यवेत्ता कहते हैं कि धातुवाद, मन्त्रवाद आदि परमार्थ तत्त्व हैं और भुवनकोश के रहस्यवेत्ता का कहना है कि चौदह भुवन ही सार तत्त्व है ।।२४।।

मनोवेत्ता मानते हैं कि मन ही आत्मा है और बौद्धों का कहना है कि बुद्धि ही आत्मा है। चित्त ही परमार्थ तत्त्व है, ऐसा चित्तज्ञ कहते हैं, तथा धर्माधर्म रहस्यवेत्ता मीमांसक धर्माधर्म को ही सत्य मानते हैं।।२५।।

(पुरुष, प्रधान, महतत्त्व, अहंकार, पञ्चतन्मात्रा एकादश इन्द्रियाँ और मन तथा पंच विषय इन) पच्चीस तत्त्वों को सांख्यवादी मानते हैं और पातञ्जलमतावलम्बी ईश्वर को भी छब्बीसवें तत्त्व रूप

---

हेतोरविद्यया कल्पिता इति पिण्डीकृतोऽर्थः प्राणादिश्लोकानाम्। प्रत्येकं पदार्थव्याख्याने

लोकाँल्लोकविदः प्राहुराश्रमा इति तद्विदः ।
स्त्रीपुंनपुंसकं लैङ्गाः परापरमथापरे ।।२७।।

सृष्टिरिति सृष्टिविदो, लय इति च तद्विदः ।
स्थितिरिति स्थितिविदः सर्वे चेह तु सर्वदा ।।२८।।

यं भावं दर्शयेद्यस्य तं भावं स तु पश्यति ।
तं चावति स भूत्वाऽसौ तद्ग्रहः समुपैति तम् ।।२९।।

में मानते हैं। पाशुपतमतावलम्बी उक्त पच्चीस तत्त्वों के अतिरिक्त राग, अविद्या, नियति, काल, कला और माया इन छः तत्त्वों को भी मानते हैं। एवं अन्य वादी परमार्थ वस्तु को अनन्त भेद वाला मानते हैं ।।२६।।

लोकानुरंजन को लौकिक पुरुष तात्त्विक बतलाते हैं और दक्षादि आश्रमवादी आश्रम को ही प्रधान मानते हैं। लिङ्गवादी वैयाकरण स्त्रीलिङ्ग, पुँल्लिङ्ग और नपुंसक लिङ्गों को ही परमार्थ बतलाते हैं तथा दूसरे लोग परात्परब्रह्म को तत्त्व मानते हैं ।।२७।।

सृष्टि ही सत्य है, ऐसे सृष्टिवादी कहते हैं। लयवादी लय को ही परमार्थ मानते हैं और स्थितिवेत्ता स्थिति को सत्य मानते हैं। इस प्रकार उक्तानुक्त वाद आत्मतत्त्व में कल्पित हैं ।।२८।।

(आचार्य) प्राणादि में जिस किसी भाव को परमार्थ-तत्त्वरूप से दिखला देता है, वह साधक उसी को आत्मभूत हुआ देखता है। तथा इस प्रकार देखने वाले उस व्यक्ति की भी वह पदार्थ तद्रूप होकर रक्षा करता है, फिर तो उसमें उत्पन्न अभिनिवेश उसके आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लेता है ।।२९।।

---

फल्गुप्रयोजनत्वाद्यत्नो न कृतः ।। २० ।। २१ ।। २२ ।। २३ ।। २४ ।। २५ ।। २६ ।। २७ ।। २८ ।।

किं बहुना प्राणादीनामन्यतममुक्तमनुक्तं वा यं भावं पदार्थं दर्शयेद्यस्याऽऽचार्योऽन्यो वाऽऽप्त इदमेव तत्त्वमिति स तं भावमात्मभूतं पश्यत्ययमहमिति वा ममेति वा तं च द्रष्टारं स भावोऽवति यो दर्शितो भावोऽसौ भूत्वा रक्षति। स्वेनाऽऽत्मना सर्वतो निरुणद्धि। तस्मिन्ग्रहस्तद्ग्रहस्तदभिनिवेशः इदमेव तत्त्वमिति। स तं ग्रहीतारमुपैति तस्याऽऽत्मभावं निगच्छतीत्यर्थः ।।२९।।

एतैरेषोऽपृथग्भावैः पृथगेवेति लक्षितः ।
एवं यो वेद तत्त्वेन कल्पयेत्सोऽविशङ्कितः ।।३०।।

स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा ।
तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः ।।३१।।

सर्वाधिष्ठान होने के कारण यह आत्मा इन प्राणादि अपृथक् भावों से पृथक् ही है ऐसा लक्षित हो रहा है। (विवेकियों की दृष्टि में तो सब कुछ आत्मा ही है) इस बात को जो तात्त्विक रूप से जानता है; वह निःशंक होकर (श्रुति और युक्ति से वेदार्थ की) कल्पना करता है ।।३०।।

जैसे (न होते हुए भी अविवेकियों द्वारा) स्वप्न और माया देखे गये हैं तथा जैसे गन्धर्व नगर देखते-देखते अकस्मात् विलीन होता देखा गया है वैसे ही विचक्षण पुरुषों ने श्रुतियों में इस जगत् को देखा है ।।३१।।

---

एतैः प्राणादिभिरात्मनोऽपृथग्भावैरपृथग्भूतैरेष आत्मा रज्जुरिव सर्पादिविकल्पनारूपैः पृथगेवेति लक्षितोऽभिलक्षितो निश्चितो मूढैरित्यर्थः। विवेकिनां तु रज्ज्वामिव कल्पिताः सर्पादयो नाऽऽत्मव्यतिरेकेण प्राणादयः सन्तीत्यभिप्रायः। "इदं सर्वं यदयमात्मा" इति श्रुतेः। एवमात्मव्यतिरेकेणासत्त्वं रज्जुसर्पवदात्मनि कल्पितानामात्मानं च केवलं निर्विकल्पं यो वेद तत्त्वेन श्रुतितो युक्तितश्च सोऽविशङ्कितो वेदार्थं विभागतः कल्पयेत्कल्पयतीत्यर्थः। इदमेवंपरं वाक्यमदोऽन्यपरमिति। न ह्यनध्यात्मविद्वेदार्थतत्त्वं ज्ञातुं शक्नोति तत्त्वतः। न ह्यनध्यात्मवित्कश्चित्क्रियाफलमुपाश्नुते इति हि मानवं वचनम्।।३०।।

यदेतद्द्वैतस्यासत्त्वमुक्तं युक्तितस्तदेतद्वेदान्तप्रमाणावगतमित्याह। स्वप्नश्च माया च स्वप्नमाये असद्वस्त्वात्मिके असत्यौ सद्वस्त्वात्मिके इव लक्ष्येते अविवेकिभिः। यथा च प्रसारितपण्यापणगृहप्रासादस्त्रीपुंजनपदव्यवहाराकीर्णमिव गन्धर्वनगरं दृश्यमानमेव सदकस्मादभावतां गतं दृष्टम्। यथा च स्वप्नमाये दृष्टे असद्रूपे तथा विश्वमिदं द्वैतं समस्तमसद्दृष्टम्। क्वेत्याह। वेदान्तेषु। "नेह नानाऽस्ति किंचन"। "इन्द्रो मायाभिः"। "आत्मैवेदमग्र आसीत्"। "ब्रह्मैवेदमग्र आसीत्"। "द्वितीयाद्वै भयं भवति"। "न तु तद्-

**न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः ।**
**न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ।।३२।।**

न प्रलय है, न उत्पत्ति है, और न संसारी बद्ध जीव है, न मोक्ष का साधन ही है तथा न मुमुक्षु है, न बन्धनमुक्त ही है। बस! यही परमार्थता है ।।३२।।

---

द्वितीयमस्ति"। "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्।" इत्यादिषु। विचक्षणैर्निपुणतरवस्तुदर्शिभिः पण्डितैरित्यर्थः।

"तमःश्वभ्रनिभं दृष्टं वर्षबुद्बुदसंनिभम्।
नाशप्रायं सुखाद्धीनं नाशोत्तरमभावगम्"।।

इति व्यासस्मृतेः ।।३१।।

प्रकरणार्थोपसंग्रहार्थोऽयं श्लोकः। यदा वितथं द्वैतमात्मैवैकः परमार्थतः संस्तदेदं निष्पन्नं भवति सर्वोऽयं लौकिको वैदिकश्च व्यवहारोऽविद्याविषय एवेति तदा न निरोधः। निरोधनं निरोधः प्रलय उत्पत्तिर्जननं बद्धः संसारी जीवः साधकः साधनवान्मोक्षस्य मुमुक्षुर्मोचनार्थी मुक्तो विमुक्तबन्धः। उत्पत्तिप्रलययोरभावाद्बद्धादयो न सन्तीत्येषा परमार्थता। कथमुत्पत्ति-प्रलययोरभाव इत्युच्यते। द्वैतस्यासत्त्वात्। "यत्र हि द्वैतमिव भवति"। "य इह नानेव पश्यति"। "आत्मैवेदं सर्वम्"। "ब्रह्मैवेदं सर्वम्"। "एकमेवाद्वितीयम्" "इदंसर्वं यदयमात्मा" इत्यादिनाना-श्रुतिभ्यो द्वैतस्यासत्त्वं सिद्धम्। सतो ह्युत्पत्तिः प्रलयो वा स्यान्नासतः शशविषाणादेः। नाप्यद्वैत-मुत्पद्यते लीयते वा। अद्वयं चोत्पत्तिप्रलयवच्चेति विप्रतिषिद्धम्। यस्तु पुनर्द्वैतसंव्यवहारः स रज्जुसर्पवदात्मनि प्राणादिलक्षणः कल्पित इत्युक्तम्। न हि मनोविकल्पनाया रज्जुसर्पा-दिलक्षणाया रज्ज्वां प्रलय उत्पत्तिर्वा। न च मनसि रज्जुसर्पस्योत्पत्तिः प्रलयो वा। न चोभयतो वा। तथा मानसत्वाविशेषाद्द्वैतस्य। न हि नियते मनसि सुषुप्ते वा द्वैतं गृह्यते। अतो मनोविकल्पनामात्रं द्वैतमिति सिद्धम्। तस्मात्सूक्तं द्वैतस्यासत्त्वान्निरोधाद्यभावः परमार्थतेति।

यद्येवं द्वैताभावे शास्त्रव्यापारो नाद्वैते, विरोधात्। तथा च सत्यद्वैतस्य वस्तुत्वे प्रमाणाभावाच्छून्यवादप्रसङ्गः। द्वैतस्य चाभावान्न रज्जुसर्पादिविकल्पनाया निरास्पदत्वा-नुपपत्तिरिति प्रत्युक्तमेतत्कथमुज्जीवयसीत्याह। रज्जुरपि सर्पविकल्पस्याऽऽस्पदभूता विकल्पितैवेति दृष्टान्तानुपपत्तिः। न। विकल्पनाक्षयेऽविकल्पितस्याविकल्पित्वादेव

**भावैरसद्भिरेवायमद्वयेन च कल्पितः ।**
**भावा अप्यद्वयेनैव तस्मादद्वयता शिवा ।।३३।।**

रज्जु सर्प की भाँति यह आत्मतत्त्व प्राणादि अनन्त असद् भावों से और अद्वैतरूप से कल्पित है। वे प्राणादि असद् भाव भी अद्वैत सत्स्वरूप आत्मा में ही कल्पना किये गये हैं। अतः अद्वैत भाव ही मंगलमय है ।।३३।।

---

सत्त्वोपपत्तेः। रज्जुसर्पवदसत्त्वमिति चेत्। न। एकान्तेनाविकल्पितत्वादविकल्पितरज्ज्वंशवत्प्राक्सर्पाभावविज्ञानात्। विकल्पयितुश्च प्राग्विकल्पनोत्पत्तेः सिद्धत्वाभ्युपगमादसत्त्वानुपपत्तिः।

कथं पुनः स्वरूपे व्यापाराभावे शास्त्रस्य द्वैतविज्ञाननिवर्तकत्वम्। नैष दोषः। रज्ज्वां सर्पादिवदात्मनि द्वैतस्याविद्याध्यस्तत्वात्। कथं? सुख्यहं दुःखी मूढो जातो मृतो जीर्णो देहवान्पश्यामि शृणोमि व्यक्तोऽव्यक्तः कर्ता फली संयुक्तो वियुक्तः क्षीणो वृद्धोऽहं ममैत इत्येवमादयः सर्व आत्मन्यध्यारोप्यन्ते। आत्मैतेष्वनुगतः सर्वत्राव्यभिचारात्। यथा सर्पधारादिभेदेषु रज्जुः। यदा चैवं विशेष्यस्वरूपप्रत्ययस्य सिद्धत्वान्न कर्तव्यत्वं शास्त्रेण। अकृतकर्तृ च शास्त्रं कृतानुकारित्वेऽप्रमाणम्। यतोऽविद्याध्यारोपितसुखित्वादिविशेषप्रतिबन्धादेवाऽऽत्मनः स्वरूपेणानवस्थानं स्वरूपावस्थानं च श्रेय इति।

सुखित्वादिनिवर्तकं शास्त्रमात्मन्यसुखित्वादिप्रत्ययकरणेन नेति नेत्यस्थूलादिवाक्यैरात्मस्वरूपवदसुखित्वाद्यपि सुखित्वादिभेदेषु नानुवृत्तोऽस्ति धर्मः। यद्यनुवृत्तः स्यान्नाध्यारोप्येत सुखित्वादिलक्षणो विशेषः। यथोष्णत्वविशेषवत्यग्नौ शीतता। तस्मान्निर्विशेष एवाऽऽत्मनि सुखित्वादयो विशेषाः कल्पिताः। यत्त्वसुखित्वादिशास्त्रमात्मनस्तत्सुखित्वादिविशेषनिवृत्त्यर्थमेवेति सिद्धम्। "सिद्धं तु निवर्तकत्वात्" इत्यागमविदां सूत्रम्।।३२।।

पूर्वश्लोकार्थस्य हेतुमाह—यथा रज्ज्वामसद्भिः सर्पधारादिभिरद्वयेन च रज्जुद्रव्येण सताऽयं सर्प इयं धारा दण्डोऽयमिति वा रज्जुद्रव्यमेव कल्प्यत, एवं प्राणादिभिरनन्तैरसद्भिरेवाविद्यमानैः न परमार्थतः। न ह्यप्रचलिते मनसि कश्चिद्भाव उपलक्षयितुं शक्यते केनचित्। न चाऽऽत्मनः प्रचलनमस्ति। प्रचलितस्यैवोपलभ्यमाना भावा न परमार्थतः सन्तः कल्पयितुं शक्याः। अतोऽसद्भिरेव प्राणादिभावैरद्वयेन च परमार्थसताऽऽत्मना

नाऽऽत्मभावेन नानेदं न स्वेनापि कथंचन ।
न पृथङ्नापृथक्किंचिदिति तत्त्वविदो विदुः ।।३४।।

वीतरागभयक्रोधैर्मुनिभिर्वेदपारगैः ।
निर्विकल्पो ह्ययं दृष्टः प्रपञ्चोपशमोऽद्वयः ।।३५।।

अद्वितीयब्रह्म में नानात्व न परमार्थ आत्मस्वरूप से है और न अपने जगद् रूप से ही कुछ है। कोई भी वस्तु न ब्रह्म से भिन्न है और न अभिन्न है। ऐसा तत्त्वज्ञानी जानते हैं ।।३४।।

जिनके राग, भय और क्रोधादि समस्त दोष मिट गये हैं, ऐसे वेद के पारगामी मननशील विवेकियों द्वारा ही यह निर्विकल्प प्रपञ्चोपशम अद्वैत देखा गया है ।।३५।।

---

रज्जुवत्सर्वविकल्पास्पदभूतेनायं स्वयमेवाऽऽत्मा कल्पितः। सदैकस्वभावोऽपि संस्ते च प्राणादिभावा अप्यद्वयेनैव सताऽऽत्मना विकल्पिताः। न हि निरास्पदा काचित्कल्पनोपलभ्यते। अतः सर्वकल्पनास्पदत्वात्स्वेनाऽऽत्मनाऽद्वयस्याव्यभिचारात्कल्पनावस्थायामप्यद्वयता शिवा। कल्पना एव त्वशिवाः। रज्जुसर्पादिवत्त्रासादिकारिण्यो हि ताः। अद्वयताऽभयाऽतः सैव शिवा।।३३।।

कुतश्चाद्वयता शिवा। नानाभूतं पृथक्त्वमन्यस्यान्यस्माद्यत्र दृष्टं तत्राशिवं भवेत्। न ह्यत्राद्वये परमार्थसत्यात्मनि प्राणादिसंसारजातमिदं जगदात्मभावेन परमार्थस्वरूपेण निरूप्यमाणं नानावस्त्वन्तरभूतं भवति। यथा रज्जुस्वरूपेण प्रकाशेन निरूप्यमाणो नै नानाभूतः कल्पितः सर्पोऽस्ति तद्वत्। नापि स्वेन प्राणाद्यात्मनेदं विद्यते कदाचिदपि रज्जुसर्पवत्कल्पितत्वादेव। तथाऽन्योन्यं न पृथक्प्राणादि वस्तु यथाऽश्वान्महिषः पृथग्विद्यते, एव। अतोऽसत्त्वान्नापृथग्विद्यतेऽन्योन्यं परेण वा किंचिदिति एवं परमार्थतत्त्वविदो ब्राह्मणा विदुः। अतोऽशिवहेतुत्वाभावादद्वयतैव शिवेत्यभिप्रायः।।३४।।

तदेतत्सम्यग्दर्शनं स्तूयते। विगतरागभयद्वेषक्रोधादिसर्वदोषैः सर्वदा मुनिभिर्मननशीलैर्विवेकिभिर्वेदपारगैरवगतवेदार्थतत्त्वैर्ज्ञानिभिर्निर्विकल्पः सर्वविकल्पशून्योऽयमात्मा दृष्ट उपलब्धो वेदान्तार्थतत्परैः प्रपञ्चोपशमः प्रपञ्चो द्वैतभेदविस्तारस्तस्योपशमोऽभावो यस्मिन्स आत्मा प्रपञ्चोपशमोऽत एवाद्वयः। विगतदोषैरेव पण्डितैर्वेदान्तार्थतत्परैः संन्यासिभिः परमात्मा द्रष्टुं शक्यो नान्यै रागादिकलुषितचेतोभिः स्वपक्षपातिदर्शनैस्तार्किकादिभिरित्यभिप्रायः।।३५।।

तस्मादेवं विदित्वैनमद्वैते योजयेत्स्मृतिम् ।
अद्वैतं समनुप्राप्य जडवल्लोकमाचरेत् ।।३६।।

निःस्तुतिर्निर्नमस्कारो निःस्वधाकार एव च ।
चलाचलनिकेतश्च यतिर्यादृच्छिको भवेत् ।। ३७।।

तत्त्वमाध्यात्मिकं दृष्ट्वा तत्त्वं दृष्ट्वा तु बाह्यतः ।
तत्त्वीभूतस्तदारामस्तत्त्वादप्रच्युतो भवेत् ।।३८।।

इति गौडपादीयकारिकायां (सु) वैतथ्याख्यं द्वितीयं प्रकरणम् ।।२।।

इसलिये इस अद्वैत आत्मतत्त्व को इस प्रकार से जानकर अद्वैत में ही मन को लगावे, तथा सर्वलोक व्यवहारातीत अद्वैत तत्त्व को भली प्रकार से प्राप्त कर लोक में जड़वत् आचरण करे।।३६।।

तत्त्वदर्शी यति को, स्तुति, नमस्कार, स्वधाकार आदि सम्पूर्ण कर्मों से रहित हो चल (शरीर) और अचल (आत्मतत्त्व) में ही विश्राम लेना चाहिये तथा यदृच्छा लाभ संतुष्ट होना चाहिये ।।३७।।

तत्त्वज्ञानी आध्यात्मिक तत्त्व को देखकर और पृथिव्यादि बाह्य तत्त्व को भी समझकर तत्त्वीभूत हो तत्त्व में ही रमण करने वाला होकर कभी भी तत्त्व से प्रच्युत न हो ।।३८।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्ययतीन्द्रकुलतिलककैलासपीठाधीश्वरपरमादर्शमहामण्डलेश्वरस्वामिविद्यानन्दगिरि-विरचितामाण्डूक्यकारिकाद्वितीयवैतथ्यप्रकरणस्य विद्यानन्दीमिताक्षरा ।।२।।

---

यस्मात्सर्वानर्थप्रशमरूपत्वादद्वयं शिवमभयमत एवं विदित्वैनमद्वैते स्मृतिं योजयेत्। अद्वैतावगमायैव स्मृतिं कुर्यादित्यर्थः। तच्चाद्वैतमवगम्याहमस्मि परं ब्रह्मेति विदित्वाऽशनायाद्यतीतं साक्षादपरोक्षादजमात्मानं सर्वलोकव्यवहारातीतो जडवल्लोकमाचरेत्। अप्रख्यापयन्नात्मानमहमेवंविध इत्यभिप्रायः।।३६।।

कया चर्यया लोकमाचरेदित्याह—स्तुतिनमस्कारादिसर्वकर्मवर्जितस्त्यक्तसर्वबाह्यैषणः प्रतिपन्नपरमहंसपारिव्राज्य इत्यभिप्रायः। "एतं वै तमात्मानं विदित्वा" इत्यादिश्रुतेः। "तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः" इत्यादिस्मृतेश्च। चलं शरीरं प्रतिक्षणमन्यथाभावात्। अचलमात्मतत्त्वम्। यदा कदाचिद्भोजनादिव्यवहारनिमित्तमाकाशवदचलरूपमात्मतत्त्वमात्मनो निकेतमाश्रयमात्मस्थितिं विस्मृत्याहमिति मन्यते यदा तदा चलो देहो निकेतो यस्य सोऽयमेवं चलाचलनिकेतो विद्वान्न पुनर्बाह्यविषयाश्रयः। स च यादृच्छिको भवेत्। यदृच्छाप्राप्तकौपीनाच्छादनग्रासमात्रदेहस्थितिरित्यर्थः।।३७।।

बाह्यं पृथिव्यादि तत्त्वमाध्यात्मिकं च देहादिलक्षणं रज्जुसर्पादिवत्स्वप्नमायादिवच्चासत्।

## अथ गौडपादीयकारिकास्वद्वैताख्यं तृतीयं प्रकरणम् ।

ॐ उपासनाश्रितो धर्मो जाते ब्रह्मणि वर्तते ।
प्रागुत्पत्तेरजं सर्वं तेनासौ कृपणः स्मृतः ।।१।।

(मैं उपासक हूँ, ब्रह्म मेरा उपास्य है इस प्रकार मोक्ष के साधनरूप से) उपासना का आश्रय लेने वाला जीव कार्यब्रह्म में रह जाता है। एवं उत्पत्ति से पूर्व सब अजन्मा ब्रह्मरूप था (उत्पत्ति के बाद नहीं), इसी कारण से वह साधक तत्त्वदर्शियों द्वारा दीन माना गया है ।।१।।

---

"वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्" इत्यादिश्रुतेः। "आत्मा च सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजोऽपूर्वोऽनन्त-रोऽबाह्यः कृत्स्न आकाशवत्सर्वगतः। सूक्ष्मोऽचलो निर्गुणो निष्कलो निष्क्रियस्तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि" इति श्रुतेः। इत्येवं तत्त्वं दृष्ट्वा तत्त्वीभूतस्तदारामो न बाह्यरमणो यथाऽतत्त्वदर्शी कश्चिच्चित्तमात्मत्वेन प्रतिपन्नश्चित्तचलनमनुचलितमात्मानं मन्यमानस्तत्त्वाच्चलितं देहादि-भूतमात्मानं कदाचिन्मन्यते प्रच्युतोऽहमात्मतत्त्वादिदानीमिति। समाहिते तु मनसि कदाचित्तत्त्वभूतं प्रसन्नात्मानं मन्यत इदानीमस्मि तत्त्वीभूत इति। न तथाऽऽत्मविद्भवेत्। आत्मन एकरूपत्वात्स्वरूपप्रच्यवनासंभवाच्च। सदैव ब्रह्मास्मीत्यप्रच्युतो भवेत्तत्त्वाद्सदाऽ-ऽप्रच्युतात्मतत्त्वदर्शनो भवेदित्यभिप्रायः। "शुनि चैव श्वपाके च" । "समं सर्वेषु भूतेषु" इत्यादिस्मृतेः ।।३८।।

*इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य शंकर भगवतः कृतौ गौडपादीयागमशास्त्रभाष्ये वैतथ्याख्यं द्वितीयप्रकरणम्।।२।।*

✦द्वितीयमाह्निकम्✦

ओंकारनिर्णय उक्तः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत आत्मेतिप्रतिज्ञामात्रेण, ज्ञाते द्वैतं न विद्यत इति च तत्र। द्वैताभावस्तु वैतथ्यप्रकरणेन स्वप्नमायागन्धर्वनगरादिदृष्टान्तै-र्दृश्यत्वाद्यन्तवत्त्वादिहेतुभिस्तर्केण च प्रतिपादितः। अद्वैतं किमागममात्रेण प्रतिपत्तव्य-माहोस्वित्तर्केणापीत्यत आह शक्यते तर्केणापि ज्ञातुम्। तत्कथमित्यद्वैतप्रकरणमारभ्यते। उपास्योपासनादिभेदजातं सर्वं वितथं केवलश्चाऽऽत्माऽद्वयः परमार्थ इति स्थितमतीते प्रकरणे यतः। उपासनाश्रित उपासनामात्मनो मोक्षसाधनत्वेन गत उपासकोऽहं ममोपास्यं ब्रह्म। तदुपासनं कृत्वा जाते ब्रह्मणीदानीं वर्तमानोऽजं ब्रह्म शरीरपातादूर्ध्वं प्रतिपत्स्ये प्रागुत्पत्तेश्चाजमिदं सर्वमहं च। यदात्मकोऽहं प्रागुत्पत्तेरिदानीं जातो जाते ब्रह्मणि च

अतो वक्ष्याम्यकार्पण्यमजाति समतां गतम् ।
यथा न जायते किंचिज्जायमानं समन्ततः ।। २।।

आत्मा ह्याकाशवज्जीवैर्घटाकाशैरिवोदितः ।

इसलिये अब सर्वत्र समानता को प्राप्त अजन्मा, अदीन भाव का निरूपण करता हूँ। (जिससे कि यह समझ में आ जावे कि रज्जु सर्प की भाँति आविद्यक दृष्टि के कारण) सभी ओर से उत्पन्न होता हुआ भी जिस प्रकार कुछ उत्पन्न नहीं होता है ।।२।।

परमात्मा ही आकाश के समान सूक्ष्म निरवयव और व्यापक है। वह घटाकाशों के समान क्षेत्रज जीव रूप से उत्पन्न हुआ कहा गया है एवं मिट्टी से घटादि के समान

---

वर्तमान उपासनया पुनस्तदेव प्रतिपत्स्य इत्येवमुपासनाश्रितो धर्मः साधको येनैवं क्षुद्र-ब्रह्मवित्तेनासौ कारणेन कृपणो दीनोऽल्पकः स्मृतो नित्याजब्रह्मदर्शिभिरित्यभिप्रायः। "यद्वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते" इत्यादिश्रुतेस्तलवकाराणाम् ।।१।।

सबाह्याभ्यन्तरमजमात्मानं प्रतिपत्तुमशक्नुवन्नविद्यया दीनमात्मानं मन्यमानो जातोऽहं जाते ब्रह्मणि वर्ते, तदुपासनाश्रितः सन्ब्रह्म प्रतिपत्स्य इत्येवं प्रतिपन्नः कृपणो भवति यस्मादतो वक्ष्याम्यकार्पण्यमकृपणभावमजं ब्रह्म। तद्धि कार्पण्यास्पदम् "यत्रान्योऽन्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पं मर्त्यमसत्" "वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्" इत्यादिश्रुतिभ्यः। तद्विपरीतं सबाह्याभ्यन्तरमजमकार्पण्यं भूमाख्यं ब्रह्म। यत्प्राप्याविद्याकृतसर्वकार्पण्यनिवृत्तिस्तदकार्पण्यं वक्ष्यामीत्यर्थः। तदजाति, अविद्यमाना जातिरस्य। समतां गतं सर्वसाम्यं गतम्। कस्मात्। अवयववैषम्याभावात्। यद्धि सावयवं वस्तु तदवयववैर्वैषम्यं गच्छज्जायत इत्युच्यते। इदं तु निरवयवत्वात्समतां गतमिति न कैश्चिदवयवैः स्फुटत्यतोऽजात्यकार्पण्यम्। समन्ततः समन्ताद्यथा न जायते किंचिदल्पमपि न ~~(स्फुटत्यतोऽजात्यकार्पण्यम्। समन्ततः समन्ताद्यथा न जायते किं चिदल्पमपि न)~~ स्फुटति। रज्जुसर्पवदविद्याकृतदृष्ट्या जायमानं येन प्रकारेण न जायते सर्वतोऽजमेव ब्रह्म भवति तथा तं प्रकारं शृण्वित्यर्थः।।२।।

अजाति ब्रह्माकार्पण्यं वक्ष्यामीति यत्प्रतिज्ञातं तत्सिद्ध्यर्थं हेतुं दृष्टान्तं च वक्ष्यामीत्याह। आत्मा परो हि यस्मादाकाशवत्सूक्ष्मो निरवयवः सर्वगतस्तस्मादाकाशवदुक्तो जीवैः

घटादिवच्च संघातैर्जातावेतन्निदर्शनम् ।।३।।

घटादिषु प्रलीनेषु घटाकाशादयो यथा ।
आकाशे संप्रलीयन्ते तद्वज्जीवा इहाऽऽत्मनि ।।४।।

यथैकस्मिन्घटाकाशे रजोधूमादिभिर्युते ।
न सर्वे संप्रयुज्यन्ते तद्वज्जीवाः सुखादिभिः ।।५।।

देहसंघातरूप में भी उत्पन्न हुआ कहा जाता है। (बस, आत्मा से जीवादि की) उत्पत्ति के विषय में यही दृष्टान्त है ।।३।।

जैसे घटादि के नष्ट होने पर घटाकाशादि महाकाश में लीन हो जाते हैं वैसे ही देहादि-संघात के लय होने पर जीव इसी आत्मा में लीन हो जाते हैं ।।४।।

जैसे एक घटाकाश के धूलि-धूमादि से युक्त होने पर सभी घटाकाश उनसे संयुक्त नहीं होते, वैसे (एक जीव के सुखादिमान् होने पर) सभी जीव सुखादियुक्त नहीं होते ।।५।।

---

क्षेत्रज्ञैर्घटाकाशैरिव घटाकाशतुल्यैः उदित उक्तः। स एवाऽऽकाशसमः पर आत्मा। अथवा घटाकाशैर्यथाऽऽकाश उदित उत्पन्नस्तथा परो जीवात्मभिरुत्पन्नो जीवात्मनां परस्मादात्मन उत्पत्तिर्या श्रूयते वेदान्तेषु, सा महाकाशाद्घटाकाशोत्पत्तिसमा, न परमार्थत इत्यभिप्रायः। तस्मादेवाऽऽकाशाद्घटादयः संघाता यथोत्पद्यन्त एवमाकाशस्थानीयात्परमात्मनः पृथिव्यादिभूतसंघाता आध्यात्मिकाश्च कार्यकरणलक्षणा रज्जुसर्पवद्विकल्पिता जायन्ते। अत उच्यते घटादिवच्च संघातैरुदित इति। यदा मन्दबुद्धिं प्रतिपिपादयिषया श्रुत्याऽऽत्मनो जातिरुच्यते जीवादीनां तदा जातावुपगम्यमानायामेतन्निदर्शनं दृष्टान्तो यथोदिताकाशवदित्यादिः।।३।।

यथा घटाद्युत्पत्त्या घटाकाशाद्युत्पत्तिः। यथा च घटादिप्रलये घटाकाशादिप्रलयस्तद्वद्देहादिसंघातोत्पत्त्या जीवोत्पत्तिस्तत्प्रलये च जीवानामिहाऽऽत्मनि प्रलयो न स्वत इत्यर्थः।।४।।

सर्वदेहेष्वात्मैकत्व एकस्मिञ्जननमरणसुखादिमत्यात्मनि सर्वात्मनां तत्संबन्धः क्रियाफलसांकर्यं च स्यादिति ये आहुर्द्वैतिनस्तान्प्रतीदमुच्यते। यथैकस्मिन्घटाकाशे रजोधूमादिभिर्युते संयुक्ते न सर्वे घटाकाशादयस्तद्रजोधूमादिभिः संयुज्यन्ते, तद्वज्जीवाः सुखादिभिः।

नन्वेक एवाऽऽत्मा। बाढम्। ननु न श्रुतं त्वयाऽऽकाशवत्सर्वसंघातेष्वेक एवाऽऽत्मेति। यद्येक एवात्मा तर्हि सर्वत्र सुखी दुःखी च स्यात्। न चेदं सांख्यचोद्यं संभवति। न हि सांख्य आत्मनः सुखदुःखादिमत्त्वमिच्छति बुद्धिसमवायाभ्युपगमात्सुखदुःखादीनाम्। न चोपलब्धिस्वरूपस्याऽऽत्मनो भेदकल्पनायां प्रमाणमस्ति। भेदाभावे प्रधानस्य पारार्थ्यानुपपत्तिरिति चेत्। न। प्रधानकृतस्यार्थस्याऽऽत्मन्यसमवायात्। यदि हि प्रधानकृतो बन्धो मोक्षो वाऽर्थः पुरुषेषु भेदेन समवैति, ततः प्रधानस्य पारार्थ्यमात्मैकत्वे नोपपद्यते इति युक्ता पुरुषभेदकल्पना। न च सांख्यैर्बन्धो मोक्षो वाऽर्थः पुरुषसमवेतोऽभ्युपगम्यते। निर्विशेषाश्च चेतनमात्रा आत्मानोऽभ्युपगम्यन्ते। अतः पुरुषसत्तामात्रप्रयुक्तमेव प्रधानस्य पारार्थ्यं सिद्धं न तु पुरुषभेदप्रयुक्तमिति।

अतः पुरुषभेदकल्पनायां न प्रधानस्य पारार्थ्यं हेतुः। न चान्यत्पुरुषभेदकल्पनायां प्रमाणमस्ति सांख्यानाम्। परसत्तामात्रमेव चैतन्निमित्तीकृत्य स्वयं बध्यते मुच्यते च प्रधानम्। परश्चोपलब्धिमात्रसत्तास्वरूपेण प्रधानप्रवृत्तौ हेतुर्न केनचिद्विशेषेणेति। केवलमूढतयैव पुरुषभेदकल्पना वेदार्थपरित्यागश्च। ये त्वाहुर्वैशेषिकादय इच्छादय आत्मसमवायिन इति। तदप्यसत्। स्मृतिहेतूनां संस्काराणामप्रदेशवत्यात्मन्यसमवायात्।

आत्ममनःसंयोगाच्च स्मृत्युत्पत्तेः स्मृतिनियमानुपपत्तिः। युगपद्वा सर्वस्मृत्युत्पत्तिप्रसङ्गः। न च भिन्नजातीयानां स्पर्शादिहीनानामात्मनां मन आदिभिः संबन्धो युक्तः। न च द्रव्याद्रूपादयो गुणाः कर्मसामान्यविशेषसमवाया वा भिन्नाः सन्ति परेषाम्। यदि ह्यत्यन्तभिन्ना एव द्रव्यात्स्युरिच्छादयश्चाऽऽत्मनस्तथा च सति द्रव्येण तेषां संबन्धानुपपत्तिः। अयुतसिद्धानां समवायलक्षणः संबन्धो न विरुध्यत इति चेत्। न। इच्छादिभ्योऽनित्येभ्य आत्मनो नित्यस्य पूर्वसिद्धत्वान्नायुतसिद्धत्वोपपत्तिः। आत्मनाऽयुतसिद्धत्वे चेच्छादीनामात्मगतमहत्त्ववन्नित्यत्वप्रसङ्गः। स चानिष्टः। आत्मनोऽनिर्मोक्षप्रसङ्गात्।

समवायस्य च द्रव्यादन्यत्वे सति द्रव्येण संबन्धान्तरं वाच्यं यथा द्रव्यगुणयोः। समवायो नित्यसंबन्ध एवेति न वाच्यमिति चेत्तथा च समवायसंबन्धवतां नित्यसंबन्धप्रसङ्गात्पृथक्त्वानुपपत्तिः। अत्यन्तपृथक्त्वे च द्रव्यादीनां स्पर्शवदस्पर्शद्रव्ययोरिव षष्ठ्यर्थानुपपत्तिः। इच्छाद्युपजनापायवद्गुणवत्त्वे चाऽऽत्मनोऽनित्यत्वप्रसङ्गः। देहफला-

रूपकार्यसमाख्याश्च भिद्यन्ते तत्र तत्र वै ।
आकाशस्य न भेदोऽस्ति तद्वज्जीवेषु निर्णयः ।।६।।

नाऽऽकाशस्य घटाकाशो विकारावयवौ यथा ।
नैवाऽऽत्मनः सदा जीवो विकारावयवौ तथा ।।७।।

जैसे आकाश में घटमठादि उपाधि के कारण जहाँ-तहाँ अल्पत्वादि रूप, जलानयनादि कार्य और उनके घटाकाशादि नामों में भेद हो जाता है, फिर भी आकाश में कोई भेद नहीं होता, वैस ही जीवों के सम्बन्ध में निर्णय समझना चाहिये ।।६।।

जैसे महाकाश का विकार या अवयव घटाकाश नहीं, वैसे ही परमात्मा का विकार या अवयव किसी भी अवस्था में जीव नहीं है।।७।।

---

दिवत्सावयवत्वं विक्रियावत्त्वं च देहादिवदेवेति दोषावपरिहार्यौ। यथा त्वाकाशस्याविद्याध्यारोपितरजोधूममलत्वादिदोषवत्त्वं, तथाऽऽत्मनोऽविद्याध्यारोपितबुद्ध्याद्युपाधिकृतसुखदुःखादिदोषवत्त्वे बन्धमोक्षादयो व्यावहारिका न विरुध्यन्ते। सर्ववादिभिरविद्याकृतव्यवहाराभ्युपगमात्परमार्थानभ्युपगमाच्च। तस्मादात्मभेदपरिकल्पना वृथैव तार्किकैः क्रियत इति ।।५।।

कथं पुनरात्मभेदनिमित्त इव व्यवहार एकस्मिन्नात्मन्यविद्याकृत उपपद्यत इति। उच्यते। यथेहाऽऽकाश एकस्मिन्घटकरकापवरकाद्याकाशानामल्पत्वमहत्त्वादिरूपाणि भिद्यन्ते, तथा कार्यमुदकाहरणधारणशयनादिसमाख्याश्च घटाकाशकरकाकाश इत्याद्यास्तत्कृताश्च भिन्ना दृश्यन्ते। तत्र तत्र वै व्यवहारविषय इत्यर्थः। सर्वोऽयमाकाशे रूपादिभेदकृतो व्यवहारो न परमार्थ एव। परमार्थतस्त्वाकाशस्य न भेदोऽस्ति। न चाऽऽकाशभेदनिमित्तो व्यवहारोऽस्त्यन्तरेण परोपाधिकृतं द्वारम्। यथैतत्तद्वद्देहोपाधिभेदकृतेषु जीवेषु घटाकाशस्थानीयेष्वात्मसु निरूपणात्कृतो बुद्धिमद्भिर्निर्णयो निश्चय इत्यर्थः।।६।।

ननु तत्र परमार्थकृत एव घटाकाशादिषु रूपकार्यादिभेदव्यवहार इति। नैतदस्ति। यस्मात्परमार्थाकाशस्य घटाकाशो न विकारः। यथा सुवर्णस्य रुचकादिर्यथा वाऽपां फेनबुद्बुदहिमादिः। नाप्यवयवो यथा वृक्षस्य शाखादिः। न तथाऽऽकाशस्य घटाकाशो

यथा भवति बालानां गगनं मलिनं मलैः
तथा भवत्यबुद्धानामात्माऽपि मलिनो मलैः ।।८।।

मरणे संभवे चैव गत्यागमनयोरपि।
स्थितौ सर्वशरीरेषु आकाशेनाविलक्षणः ।।९।।

संघाताः स्वप्नवत्सर्वे आत्ममायाविसर्जिताः।

जैसे अविवेकियों को धूमादि मल के कारण आकाश मलयुक्त प्रतीत होता है, वैसे ही अविवेकियों की दृष्टि में परमात्मा भी रागद्वेषादि मल से मलिन प्रतीत होता है। (आत्मज्ञानियों की दृष्टि में नहीं)।।८।।

सभी शरीर में आत्मा जन्म, मरण, गमन, आगमन और स्थितिकाल में घटाकाश के समान ही है; विलक्षण नहीं।।९।।

सभी देहादिसंघात स्वप्न में दीखने के समान आत्मा की माया से ही रचे हुए हैं।

---

विकारावयवौ यथा, तथा नैवाऽऽत्मनः परस्य परमार्थसतो महाकाशस्थानीयस्य घटाकाशस्थानीयो जीवः सदा सर्वदा यथोक्तदृष्टान्तवन्न विकारो नाप्यवयवः। अत आत्मभेदकृतो व्यवहारो मृषैवेत्यर्थः।।७।।

यस्माद्यथा घटाकाशादिभेदबुद्धिनिबन्धनो रूपकार्यादिभेदव्यवहारस्तथा देहोपाधिजीवभेदकृतो जन्ममरणादिव्यवहारस्तस्मात्तत्कृतमेव क्लेशकर्मफलमलवत्त्वमात्मनो न परमार्थत इत्येतमर्थं दृष्टान्तेन प्रतिपिपादयिषन्नाह—यथा भवति लोके बालानामविवेकिनां गगनमाकाशं घनरजोधूमादिमलैर्मलिनं मलवन्न गगनं मलवद्याथात्म्यविवेकिनाम्, तथा भवत्यात्मा परोऽपि यो विज्ञाता प्रत्यक्क्लेशकर्मफलमलैर्मलिनोऽबुद्धानां प्रत्यगात्मविवेकरहितानां नाऽऽत्माऽबुधारोपितक्लेशादिमलैर्मलिनो भवतीत्यर्थः।।८।।

पुनरप्युक्तमेवार्थं प्रपञ्चयति—घटाकाशजन्मनाशगमनागमनस्थितिवत्सर्वशरीरेष्वात्मनो जन्ममरणादिराकाशेनाविलक्षणः प्रत्येतव्य इत्यर्थः।।९।।

घटादिस्थानीयास्तु देहादिसंघाताः स्वप्नदृश्यदेहादिवन्मायाविकृतदेहादिवच्चाऽऽत्ममायाविसर्जिता आत्मनो मायाऽविद्या तया प्रत्युपस्थापिता, न परमार्थतः सन्तीत्यर्थः।

आधिक्ये सर्वसाम्ये वा नोपपत्तिर्हि विद्यते।।१०।।

रसादयो हि ये कोशा व्याख्यातास्तैत्तिरीयके ।
तेषामात्मा परो जीवः खं यथा संप्रकाशितः ।।११।।

द्वयोर्द्वयोर्मधुज्ञाने परं ब्रह्म प्रकाशितम्।
पृथिव्यामुदरे चैव यथाऽऽकाशः प्रकाशितः।।१२।।

स्वप्न की अपेक्षा जाग्रत् देहादि के उत्कर्ष या सबकी समानता में कोई युक्ति नहीं है।।१०।।

तैत्तिरीय शाखोपनिषद् में अन्न रसमयादि कोशों की स्पष्ट विवेचना की गई है। आकाश के समान परमात्मा ही उनके अन्तरतम जीव रूप से बतलाया गया है।।११।।

लोक में जैसे ही पृथिवी और उदर में एक ही आकाश अनुमान से बतलाया गया है, वैसे ही बृहदारण्योक्त मधु ब्राह्मण के (अध्यात्म और अधिदैव इन) दोनों स्थलों में एक ही ब्रह्म प्रकाशित किया गया है।।१२।।

---

यद्याधिक्यमधिकभावस्तिर्यग्देहाद्यपेक्षया देवादिकार्यकरणसंघातानां, यदि वा सर्वेषां समतैव, नैषामुपपत्तिः संभवः सद्भावप्रतिपादको हेतुर्विद्यते। नास्ति हि यस्मात्तस्मादविद्याकृता एव न परमार्थतः सन्तीत्यर्थः।।१०।।

उत्पत्त्यादिवर्जितस्याद्वयस्याऽऽत्मतत्त्वस्य श्रुतिप्रमाणकत्वप्रदर्शनार्थं वाक्यान्युपन्यस्यन्ते। रसादयोऽन्नरसमयः प्राणमयः इत्येवमादयः कोशा इव कोशा असयादेरिवोत्तरोत्तरस्यापेक्षया बहिर्भावात्पूर्वपूर्वस्य व्याख्याता विस्पष्टमाख्यातास्तैत्तिरीयके तैत्तिरीयकशाखोपनिषद्ब्रह्मवल्ल्यां, तेषां कोशानामात्मा येनाऽऽत्मना पञ्चापि कोशा आत्मवन्तोऽन्तरतमेन। स हि सर्वेषां जीवननिमित्तत्वाज्जीवः। कोऽसावित्याह। पर एवाऽऽत्मा यः पूर्वम् "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इति प्रकृतः। यस्मादात्मनः स्वप्नमायादिवदाकाशादिक्रमेण रसादयः कोशलक्षणाः संघाता आत्ममायाविसर्जिता इत्युक्तम्। स आत्माऽस्माभिर्यथा खं तथेति संप्रकाशित, आत्मा ह्याकाशवदित्यादिश्लोकैः। न तार्किकपरिकल्पितात्मवत्पुरुषबुद्धिप्रमाणगम्य इत्यभिप्रायः।।११।।

किं चाधिदैवमध्यात्मं च तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः पृथिव्याद्यन्तर्गतो यो विज्ञाता पर एवाऽऽत्मा ब्रह्म सर्वमिति द्वयोर्द्वयोराऽऽद्वैतक्षयात्परं ब्रह्म प्रकाशितम्। क्वेत्याह।

जीवात्मनोरनन्यत्वमभेदेन प्रशस्यते।
नानात्वं निन्द्यते यच्च तदेवं हि समञ्जसम्।।१३।।
जीवात्मनोः पृथक्त्वं यत्प्रागुत्पत्तेः प्रकीर्तितम्।
भविष्यद्वृत्त्या गौणं, तन्मुख्यत्वं हि न युज्यते।।१४।।

क्योंकि श्रुति युक्ति से जीव और परमात्मा के एकत्व की एक स्वर से प्रशंसा की गई है और शास्त्रबाह्य नानात्व की निन्दा की गई है। अतः एकत्व ही श्रुति एवं न्यायसंगत सिद्धांत है।।१३।।

उत्पत्तिबोधक श्रुतिवाक्यों से पहले कर्मकाण्ड में जीव और परमात्मा का पृथक्त्व कहा गया है, वह भविष्यद्वृत्ति से गौण है, उसे मुख्यार्थ मानना उचित नहीं है।।१४।।

---

ब्रह्मविद्याख्यं मध्वमृतममृतत्वं मोदनहेतुत्वाद्विज्ञायते यस्मिन्निति मधुज्ञानं मधुब्राह्मणं तस्मिन्नित्यर्थः। किमिवेत्याह। पृथिव्यामुदरे चैव यथैक आकाशोऽनुमानेन प्रकाशितो लोके तद्वदित्यर्थः।।१२।।

यद्युक्तितः श्रुतितश्च निर्धारितं जीवस्य परस्य चाऽऽत्मनो जीवात्मनोरनन्यत्वमभेदेन प्रशस्यते स्तूयते शास्त्रेण व्यासादिभिश्च। यच्च सर्वप्राणिसाधारणं स्वाभाविकं शास्त्रबहिष्कृतैः कुतार्किकैर्विरचितं नानात्वदर्शनं निन्द्यते "न तु तद्द्वितीयमस्ति" "द्वितीयाद्वै भयं भवति" "उदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति" "इदं सर्वं यदयमात्मा" "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" इत्यादिवाक्यैश्चान्यैश्च ब्रह्मविद्भिः। यच्चैतत्तदेवं हि समञ्जसमृज्ववबोधं न्याय्यमित्यर्थः। यास्तु तार्किकपरिकल्पिताः कुदृष्टयस्ता अनृज्व्यो निरूप्यमाणा न घटनां प्राञ्चन्तीत्यभिप्रायः।।१३।।

ननु श्रुत्याऽपि जीवपरमात्मनोः पृथक्त्वं यत्प्रागुत्पत्तेरुत्पत्त्यर्थोपनिषद्वाक्येभ्यः पूर्वं प्रकीर्तितं कर्मकाण्डे। अनेकशः कामभेदत इदंकामोऽदःकाम इति। परश्च "स दाधार पृथिवीं द्याम्" इत्यादिमन्त्रवर्णैः। तत्र कथं कर्मज्ञानकाण्डवाक्यविरोधे ज्ञानकाण्डवाक्यार्थस्यैवैकत्वस्य सामञ्जस्यमवधार्यते इति? अत्रोच्यते "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" "यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गाः" "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः" "तदैक्षत" "तत्तेजोऽसृजत" इत्याद्युत्पत्त्यर्थोपनिषद्वाक्येभ्यः प्राक्पृथक्त्वं कर्मकाण्डे प्रकीर्तितं यत्तन्न परमार्थम्। किं तर्हि? गौणम्। महाकाशघटाकाशादिभेदवत्। यथौदनं पचतीति

मृल्लोहविस्फुलिङ्गाद्यैः सृष्टिर्या चोदिताऽन्यथा।
उपायः सोऽवताराय नास्ति भेदः कथंचन ।।१५।।

(उपनिषद् वाक्यों में) जो मृत्तिका, लोहपिण्ड तथा विस्फुलिङ्गादि दृष्टान्तों से भिन्न-भिन्न प्रकार की सृष्टि बतलायी गयी है; वह तो केवल ब्रह्मात्म में बुद्धि के प्रवेश के लिये उपाय मात्र है। उससे किसी प्रकार का भेद सिद्ध नहीं होता।।१५।।

---

भविष्यद्वृत्त्या तद्वत्। न हि भेदवाक्यानां कदाचिदपि मुख्यभेदार्थत्वमुपपद्यते। स्वाभाविकाविद्यावत्प्राणिभेददृष्ट्यनुवादित्वादात्मभेदवाक्यानाम्। इहचोपनिषत्सूत्पत्तिप्रलयादिवाक्यैर्जीवपरमात्मनोरेकत्वमेव प्रतिपिपादयिषितम्। "तत्त्वमसि" "अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद" इत्यादिभिः। अत उपनिषत्स्वेकत्वं श्रुत्या प्रतिपिपादयिषितं भविष्यतीति भाविनीमेकवृत्तिमाश्रित्य लोके भेददृष्ट्यनुवादो गौण एवेत्यभिप्रायः। अथवा "तदैक्षत" "तत्तेजो ऽसृजत" इत्याद्युत्पत्तेः प्राक् "एकमेवाद्वितीयम्" इत्येकत्वं प्रकीर्तितम्। तदेव च "तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि" इत्येकत्वं भविष्यतीति तां भविष्यद्वृत्तिमपेक्ष्य यज्जीवात्मनोः पृथक्त्वं यत्र क्वचिद्वाक्ये गम्यमानं तद्गौणम्। यथौदनं पचतीति तद्वत्।।१४।।

ननु यद्युत्पत्तेः प्रागजं सर्वमेकमेवाद्वितीयं तथाऽप्युत्पत्तेरूर्ध्वं जातमिदं सर्वं जीवाश्च भिन्ना इति? मैवम्। अन्यार्थत्वादुत्पत्तिश्रुतीनाम्। पूर्वमपि परिहृत एवायं दोषः। स्वप्नवदात्ममायाविसर्जिताः संघाता घटाकाशोत्पत्तिभेदादिवज्जीवानामुत्पत्तिभेदादिरिति। इत एवोत्पत्तिभेदादिश्रुतिभ्य आकृष्येह पुनरुत्पत्तिश्रुतीनामैदंपर्यप्रतिपिपादयिषयोपन्यासः। मृल्लोहविस्फुलिङ्गादिदृष्टान्तोपन्यासैः सृष्टिर्या चोदिता प्रकाशिताऽन्यथा च स सर्वः सृष्टिप्रकारो जीवपरमात्मैकत्वबुद्ध्यवतारायोपायोऽस्माकम्। यथा प्राणसंवादे वागाद्यासुरपाप्मवेधाद्याख्यायिका कल्पिता प्राणवैशिष्ट्यबोधावताराय। तदप्यसिद्धमिति चेत्। न। शाखाभेदेष्वन्यथाऽन्यथा च प्राणादिसंवादश्रवणात्। यदि हि संवादः परमार्थ एवाभूदेकरूप एव संवादः सर्वशाखास्वश्रोष्यद्विरुद्धानेकप्रकारेण नाश्रोष्यत्। श्रूयते तु। तस्मान्न तादर्थ्यं संवादश्रुतीनाम्। तथोत्पत्तिवाक्यानि प्रत्येतव्यानि। कल्पसर्गभेदात्संवादश्रुतीनामुत्पत्तिश्रुतीनां च प्रतिसर्गमन्यथात्वमिति चेन्न। निष्प्रयोजनत्वाद्यथोक्तबुद्ध्यवतारप्रयोजनव्यतिरेकेण। न ह्यन्यप्रयोजनवत्त्वं संवादोत्पत्तिश्रुतीनां शक्यं कल्पयितुम्। तथात्वप्रतिपत्तये ध्यानार्थमिति चेन्न। कलहोत्पत्तिप्रलयानां प्रतिपत्तेरनिष्टत्वात्। तस्मादुत्पत्त्यादिश्रुतय आत्मैकत्वबुद्ध्यवतारायैव नान्यार्थाः कल्पयितुं युक्ताः। अतो नास्त्युत्पत्त्यादिकृतो भेदः कथंचन।।१५।।

**आश्रमास्त्रिविधा हीनमध्यमोत्कृष्टदृष्टयः।**
**उपासनोपदिष्टेयं तदर्थमनुकम्पया ।।१६।।**

**स्वसिद्धान्तव्यवस्थासु द्वैतिनो निश्चिता दृढम्।**
**परस्परं विरुध्यन्ते तैरयं न विरुध्यते ।।१७।।**

निकृष्ट, मध्यम और उत्कृष्ट दृष्टि वाले तीन प्रकार के अधिकारी हैं। दयालु वेद ने अनुकम्पा करके मन्द और मध्यम दृष्टि वालों के लिये कर्म और उपासना का उपदेश किया हैं।।१६।।

(कपिल आदि द्वैतवादी) स्वरचित सिद्धान्तों की व्याख्या में अनुरक्त एवं दृढग्रही होने के कारण विरोध करते हैं। किन्तु यह (अद्वैतात्मदर्शन वैदिक सिद्धान्त सबसे अभिन्न होने के कारण) उनसे विरोध नहीं करता।।१७।।

---

यदि पर एवाऽऽत्मा नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव एकः परमार्थः सन् "एकमेवाद्वितीयम्" इत्यादिश्रुतिभ्योऽसदन्यत्किमर्थेयमुपासनोपदिष्टा। "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" "य आत्माऽपहतपाप्मा" "स क्रतुं कुर्वीत"। "आत्मेत्येवोपासीत" इत्यादिश्रुतिभ्यः। कर्माणि चाग्निहोत्रादीनि? शृणु तत्र कारणम्। आश्रमा आश्रमिणोऽधिकृताः। वर्णिनश्च मार्गगाः। आश्रमशब्दस्य प्रदर्शनार्थत्वात्त्रिविधाः। कथम्। हीनमध्यमोत्कृष्टदृष्टयः। हीना निकृष्टा मध्यमोत्कृष्टा च दृष्टिर्दर्शनसामर्थ्यं येषां ते मन्दमध्यमोत्तमबुद्धिसामर्थ्योपेता इत्यर्थः। उपासनोपदिष्टेयं तदर्थं मन्दमध्यमदृष्ट्याश्रमाद्यर्थं कर्माणि च। न चाऽऽत्मैक एवाद्वितीय इति निश्चितोत्त- मदृष्ट्यर्थं दयालुना वेदेनानुकम्पया सन्मार्गगाः सन्तः कथमिमामुत्तमामेकत्वदृष्टिं प्राप्नुयुरिति।

"यन्मनसा न मनुते येनाऽऽहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते"।।

"तत्त्वमसि" "आत्मैवेदं सर्वम्" इत्यादिश्रुतिभ्यः।।१६।।

शास्त्रोपपत्तिभ्यामवधारितत्वाददृयात्मदर्शनं सम्यग्दर्शनं तद्बाह्यत्वान्मिथ्यादर्शनमन्यत्। इतश्च मिथ्यादर्शनं द्वैतिनां रागद्वेषादिदोषास्पदत्वात्। कथं? स्वसिद्धान्तव्यवस्थासु स्वसिद्धान्तरचनानियमेषु कपिलकणादबुद्धार्हतादिदृष्ट्यनुसारिणो द्वैतिनो निश्चिताः।

अद्वैतं परमार्थो हि द्वैतं तद्भेद उच्यते।
तेषामुभयथा द्वैतं तेनायं न विरुध्यते।।१८।।

मायया भिद्यते ह्येतन्नान्यथाऽजं कथंचन।
तत्त्वतो भिद्यमाने हि मर्त्यताममृतं व्रजेत्।।१९।।

क्योंकि अद्वैत परमार्थ है और द्वैत उसी का कल्पित भेद कहा जाता हे। पर उन द्वैतवादियों की दृष्टि में तो (परमार्थतः और अपरमार्थतः) दोनों प्रकार से द्वैत ही है। ऐसी स्थिति में उनके साथ यह अद्वैतात्म दर्शन विरोध नही करता है।।१८।।

इस परमार्थ सत् अजन्मा अद्वैत में रज्जु सर्पादिवत् माया से ही भेद दीखता है, अन्य किसी प्रकार से नहीं। यदि उसमें तत्त्वतः भेद हो तो स्वभाव से अमर होकर आत्मा मर्त्यभाव को प्राप्त होने लगेगा।।१९।।

---

एवमेवैष परमार्थो नान्यथेति तत्र तत्रानुरक्ताः प्रतिपक्षं चाऽऽत्मनः पश्यन्तस्तं द्विषन्त इत्येवं रागद्वेषोपेताः स्वसिद्धान्तदर्शननिमित्तमेव परस्परमन्योन्यं विरुध्यन्ते। तैरन्योन्य-विरोधिभिरस्मदीयोऽयं वैदिकः सर्वानन्यत्वादात्मैकत्वदर्शनपक्षो न विरुध्यते। यथा स्वहस्तपादादिभिः। एवं रागद्वेषादिदोषानास्पदत्वादात्मैकत्वबुद्धिरेव सम्यग्दर्शन-मित्यभिप्रायः।।१७।।

केन हेतुना तैर्न विरुध्यते? इत्युच्यते। अद्वैतं परमार्थो हि यस्माद्द्वैतं नानात्वं तस्याद्वैतस्य भेदस्तद्भेदस्तस्य कार्यमित्यर्थः। "एकमेवाद्वितीयम्"। "तत्तेजोऽसृजत" इति श्रुतेः। उपपत्तेश्च। स्वचित्तस्पन्दनाभावे समाधौ मूर्छायां सुषुप्तौ चाभावात्। अतस्तद्भेद उच्यते द्वैतम्। द्वैतिनां तु तेषां परमार्थतश्चापरमार्थतश्चोभयथाऽपि द्वैतमेव। यदि च तेषां भ्रान्तानां द्वैतदृष्टिरस्माकमद्वैतदृष्टिरभ्रान्तानाम्। तेनायं हेतुनाऽस्मत्पक्षो न विरुध्यते तैः। "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते"। "न तु तद्द्वितीयमस्ति" इति श्रुतेः। यथा मत्तगजारूढ उन्मत्तं भूमिष्ठं प्रति गजारूढोऽहं वाहय मां प्रतीति ब्रुवाणमपि तं प्रति न वाहयत्यविरोध-बुद्ध्या तद्वत्। ततः परमार्थतो ब्रह्मविदात्मैव द्वैतिनाम्। तेनायं हेतुनाऽस्मत्पक्षो न विरुध्यते तैः ।।१८।।

द्वैतमद्वैतभेद इत्युक्ते द्वैतमप्यद्वैतवत्परमार्थसदिति स्यात्कस्यचिदाशङ्केत्यत आह। यत्परमार्थसदद्वैतं मायया भिद्यते ह्येतत्तैमिरिकानेकचन्द्रवद्रज्जुः सर्पधारादिभिर्भेदैरिव

अजातस्यैव भावस्य जातिमिच्छन्ति वादिनः।
अजातो ह्यमृतो भावो मर्त्यतां कथमेष्यति।।२०।।

न भवत्यमृतं मर्त्यं न मर्त्यममृतं तथा।
प्रकृतेरन्यथाभावो न कथंचिद्भविष्यति।।२१।।

स्वभावेनामृतो यस्य भावो गच्छति मर्त्यताम्।
कृतकेनामृतस्तस्य कथं स्थास्यति निश्चलः।।२२।।

(कुछ उपनिषद् व्याख्याता) द्वैतवादी अजन्मा आत्मतत्त्व की उत्पत्ति परमार्थतः सिद्ध करना चाहते हैं। पर भला जो पदार्थ स्वभाव से अजन्मा और अमर है; वह मरणशीलता को कैसे प्राप्त हो सकेगा।।२०।।

लोक में अमर वस्तु कभी भी मरणशील नहीं होती और न मरणशील कभी अमर होती है, क्योंकि कोई भी वस्तु अपने स्वभाव के विपरीत नहीं हो सकती है।।२१।।

जिस वादी के मत में स्वभाव से अमर पदार्थ भी मर्त्यभाव को प्राप्त होता है, उसके सिद्धान्तानुसार कृतिजन्य होने के कारण वह अमृत पदार्थ निश्चल (अमृत स्वभाव भी) कैसे हो सकता है।।२२।।

---

न परमार्थतो निरवयवत्वादात्मनः। सावयवं ह्यवयवान्यथात्वेन भिद्यते। यथा मृद्घटादिभेदैः। तस्मान्निरवयवमजं नान्यथा कथंचन केनचिदपि प्रकारेण न भिद्यत इत्यभिप्रायः। तत्त्वतो भिद्यमाने ह्यमृतमजमद्वयं स्वभावतः सन्मर्त्यतां व्रजेत्। यथाऽग्निः शीतताम्। तच्चानिष्टं स्वभाववैपरीत्यगमनम्। सर्वप्रमाणविरोधात्। अजमव्ययमात्मतत्त्वं माययैव भिद्यते न परमार्थतः। तस्मान्न परमार्थसदद्वैतम्।।१९।।

ये तु पुनः केचिदुपनिषद्व्याख्यातारो ब्रह्मवादिनो वावदूका अजातस्यैवाऽऽत्मतत्त्वस्यामृतस्य स्वभावतो जातिमुत्पत्तिमिच्छन्ति परमार्थत एव तेषां जातं चेत्तदेव मर्त्यतामेष्यत्यवश्यम्। स चाजातो ह्यमृतो भावः स्वभावतः सन्नात्मा कथं मर्त्यतामेष्यति। न कथंचन मर्त्यत्वं स्वभाववैपरीत्यमेष्यतीत्यर्थः।।२०।।

यस्मान्न भवत्यमृतं मर्त्यंलोके नापि मर्त्यममृतं तथा। ततः प्रकृतेः स्वभावस्यान्यथाभावः स्वतः प्रच्युतिर्न कथंचिद्भविष्यति। अग्नेरिवौष्ण्यस्य।।२१।।

यस्य पुनर्वादिनः स्वभावेनामृतो भावो मर्त्यतां गच्छति परमार्थतो जायते तस्य

भूततोऽभूततो वाऽपि सृज्यमाने समा श्रुतिः ।
निश्चितं युक्तियुक्तं च यत्तद्भवति नेतरत् ।।२३।।

नेह नानेति चाऽऽम्नायादिन्द्रो मायाभिरित्यपि ।
अजायमानो बहुधा मायया जायते तु सः ।।२४।।

परमार्थतः या अपरमार्थतः किसी प्रकार भी सृष्टि होने में श्रुति तो एक सी ही रहेगी। फिर भी उनमें निश्चित और युक्तिसंगत जो मत हो वही श्रुति का तात्पर्य हो सकता है; अन्य नहीं।।२३।।

यदि वास्तव में सृष्टि हुई होती तो 'यहाँ वस्तु कुछ नहीं है', 'परमात्मा माया से अनेकरूप वाला हो जाता है' तथा 'अजन्मा होता हुआ भी माया के द्वारा वह अनेक रूप से उत्पन्न होता है' इत्यादि श्रुतिवाक्यों में नानात्व का निषेध और माया से नानात्व का प्रतिपादन नहीं किया जाता।।२४।।

---

प्रागुत्पत्तेः स भावः स्वभावतोऽमृत इति प्रतिज्ञा मृषैव। कथं तर्हि कृतकेनामृतस्तस्य स भावः कृतकेनामृतः स कथं स्थास्यति निश्चलोऽमृतस्वभावतया न कथंचित्स्थास्यत्यात्मजातिवादिनः सर्वदाऽजं नाम नास्त्येव सर्वमेतन्मर्त्यम्। अतोऽनिर्मोक्षप्रसङ्ग इत्यभिप्रायः।।२२।।

नन्वजातिवादिनः सृष्टिप्रतिपादिका श्रुतिर्न संगच्छते प्रामाण्यम्? बाढं विद्यते सृष्टिप्रतिपादिका श्रुतिः। सा त्वन्यपरा। उपायः सोऽवतारायेत्यवोचाम। इदानीमुक्तेऽपि परिहारे पुनश्चोद्यपरिहारौ विवक्षितार्थं प्रति सृष्टिश्रुत्यक्षराणामानुलोम्यविरोधाशङ्कामात्रपरिहारार्थौ। भूततः परमार्थतः सृज्यमाने वस्तुन्यभूततो मायया वा मायाविनेव सृज्यमाने वस्तुनि समा तुल्या सृष्टिश्रुतिः। ननु गौणमुख्ययोर्मुख्ये शब्दार्थप्रतिपत्तिर्युक्ता? न। अन्यथा सृष्टेरप्रसिद्धत्वान्निष्प्रयोजनत्वाच्चेत्यवोचाम। अविद्यासृष्टिविषयैव सर्वा गौणी मुख्या च सृष्टिर्न परमार्थतः। "सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः" इति श्रुतेः। तस्माच्छ्रुत्या निश्चितं यदेकमेवाद्वितीयमजममृतमिति युक्तियुक्तं च। युक्त्या च संपन्नं तदेवेत्यवोचाम पूर्वैर्ग्रन्थैः। तदेव श्रुत्यर्थो भवति नेतरत्कदाचिदपि।।२३।।

कथं श्रुतिनिश्चय इत्याह—यदि हि भूतत एव सृष्टिः स्यात्ततः सत्यमेव नाना वस्त्विति तदभावप्रदर्शनार्थं आम्नायो न स्यात्। अस्ति च "नेह नानाऽस्ति किंचन" इत्यादि-

संभूतेरपवादाच्च संभवः प्रतिषिध्यते ।
को न्वेनं जनयेदिति कारणं प्रतिषिध्यते ।।२५।।

जो संभूति की उपासना करते हैं, वे घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं। इस श्रुति में हिरण्यगर्भ की उपास्यत्व की निन्दा द्वारा कार्यवर्ग मात्र का प्रतिषेध किया गया तथा 'इसे कौन उत्पन्न करे' इत्यादि आक्षेपार्थक श्रुति वाक्य से कारण का भी प्रतिषेध कर दिया गया है।।२५।।

---

राम्नायो द्वैतभावप्रतिषेधार्थः। तस्मादात्मैकत्वप्रतिपत्त्यर्था कल्पिता सृष्टिरभूतैव प्राण-संवादवत्। "इन्द्रो मायाभिः" इत्यप्यभूतार्थप्रतिपादकेन मायाशब्देन सृष्टेर्व्यपदेशात्। ननु प्रज्ञावचनो मायाशब्दः? सत्यम्। इन्द्रियप्रज्ञाया अविद्यामयत्वेन मायात्वाभ्युपगमाददोषः। मायाभिरिन्द्रियप्रज्ञाभिरविद्यारूपाभिरित्यर्थः। "अजायमानो बहुधा विजायते" इति श्रुतेः। तस्मान्माययैव जायते तु सः। तुशब्दोऽवधारणार्थः—माययैवेति। न ह्यजायमानत्वं बहुधा जन्म चैकत्र संभवति। अग्नाविव शैत्यमौष्ण्यं च। फलवत्त्वाच्चाऽऽत्मैकत्वदर्शनमेव श्रुतिनिश्चितोऽर्थः। "तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" इत्यादिमन्त्रवर्णात्। "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति" इति निन्दितत्वाच्च सृष्ट्यादिभेददृष्टेः।।२४।।

"अन्धं तमः प्रविशन्ति ये संभूतिमुपासते" इति संभूतेरुपास्यत्वापवादात्संभवः प्रतिषिध्यते। न हि परमार्थतः संभूतायां संभूतौ तदपवाद उपपद्यते। ननु विनाशेन संभूतेः समुच्चयविध्यर्थः संभूत्यपवादः। यथा "अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते" इति? सत्यमेव, देवतादर्शनस्य संभूतिविषयस्य विनाशशब्दवाच्यस्य च कर्मणः समुच्चयविधानार्थः संभूत्यपवादः। तथाऽपि विनाशाख्यस्य कर्मणः स्वाभाविकाज्ञानप्रवृत्तिरूपस्य मृत्योरतितरणार्थत्ववद्देवतादर्शनकर्मसमुच्चयस्य पुरुषसंस्कारार्थस्य कर्मफलरागप्रवृत्तिरूपस्य साध्यसाधनैषणाद्वयलक्षणस्य मृत्योरतितरणार्थत्वम्। एवं ह्येषणाद्वयरूपान्मृत्योरशुद्धेर्वियुक्तः पुरुषः संस्कृतः स्यादतो मृत्योरतितरणार्था देवतादर्शनकर्मसमुच्चयलक्षणा ह्यविद्या। एवमेवैषणालक्षणादविद्यया मृत्योरतितीर्णस्य विरक्तस्योपनिषच्छास्त्रार्थालोचनपरस्य नान्तरीयकी परमात्मैकत्वविद्योत्पत्तिरिति पूर्वभाविनीमविद्यामपेक्ष्य पश्चाद्भाविनी ब्रह्मविद्याऽमृतत्वसाधनमेकेन पुरुषेण संबध्यमानाऽविद्यया समुच्चीयत इत्युच्यते। अतोऽन्यार्थत्वादमृतत्वसाधनं ब्रह्मविद्यामपेक्ष्य निन्दार्थ एव भवति संभूत्यपवादः। यद्यप्यशुद्धिवियोगहेतुरतन्निष्ठत्वात्। अत एव संभूतेरपवादात्संभूतेरापेक्षिकमेव सत्त्वमिति।

स एष नेति नेतीति व्याख्यातं निह्नुते यतः ।
सर्वमग्राह्यभावेन हेतुनाऽजं प्रकाशते ।।२६।।

सतो हि मायया जन्म युज्यते न तु तत्त्वतः।
तत्त्वतो जायते यस्य जातं तस्य हि जायते ।।२७।।

क्योंकि 'वह यह आत्मा यह नहीं है, यह नहीं है' इत्यादि श्रुतिवाक्य से आत्मा का अग्राह्यत्व के कारण पूर्वोक्त सभी भाव पदार्थ का प्रतिषेध किया है। अतः ऐसे निषेध हेतु के द्वारा ही आत्मा प्रकाशित होता है ।।२६।।

माया से ही सद् वस्तु का जन्म हो सकता है; तत्त्वतः नहीं। जिसके मत में सद्वस्तु का जन्म तात्त्विक होता है, उसके मतानुसार भी उत्पत्तिशील का ही जन्म होता है, परमार्थ सत् अजन्मा अद्वैत तत्त्व का नहीं ।।२७।।

---

परमार्थसदात्मैकत्वमपेक्ष्यानृताख्यः संभवः प्रतिषिध्यते। एवं मायानिर्मितस्यैव जीवस्याविद्यया प्रत्युपस्थापितस्याविद्यानाशे स्वभावरूपत्वात्परमार्थतः को न्वेनं जनयेत्। न हि रज्ज्वामविद्यारोपितं सर्पं पुनर्विवेकतो नष्टं जनयेत्कश्चित्। तथा न कश्चिदेनं जनयेदिति को न्वित्याक्षेपार्थत्वात्कारणं प्रतिषिध्यते। अविद्योद्भूतस्य नष्टस्य जनयितृ कारणं न किंचिदस्तीत्यभिप्रायः। "नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्" इति श्रुतेः।।२५।।

सर्वविशेषप्रतिषेधेन "अथात आदेशो नेति नेति" इति प्रतिपादितस्याऽऽत्मनो दुर्बोधत्वं मन्यमाना श्रुतिः पुनः पुनरुपायान्तरत्वेन तस्यैव प्रतिपिपादयिषया यद्यद्व्याख्यातं तत्सर्वं निह्नुते। ग्राह्यं जनिमद्बुद्धिविषयमपलपत्यर्थात् "स एष नेति नेति" इत्यात्मनोऽदृश्यतां दर्शयन्ती श्रुतिरुपायस्योपेयनिष्ठतामजानत उपायत्वेन व्याख्यातस्योपेयवद्ग्राह्यता मा भूदित्यग्राह्यभावेन हेतुना कारणेन निह्नुत इत्यर्थः। ततश्चैवमुपायस्योपेयनिष्ठतामेव जानत, उपेयस्य च नित्यैकरूपत्वमिति तस्य सबाह्याभ्यन्तरमजमात्मतत्त्वं प्रकाशते स्वयमेव ।।२६।।

एवं हि श्रुतिवाक्यशतैः सबाह्याभ्यन्तरमजमात्मतत्त्वमद्वयं न ततोऽन्यदस्तीति निश्चितमेतत्। युक्त्या चाधुनैतदेव पुनर्निर्धार्यत इत्याह। तत्रैतत्स्यात्सदाऽग्राह्यमेव चेदसदेवाऽऽत्मतत्त्वमिति, तन्न। कार्यग्रहणात्। यथा सतो मायाविनो मायया जन्मकार्यम्। एवं जगतो जन्मकार्यं गृह्यमाणं मायाविनमिव परमार्थसन्तमात्मानं जगज्जन्म

असतो मायया जन्म तत्त्वतो नैव युज्यते ।
वन्ध्यापुत्रो न तत्त्वेन मायया वाऽपि जायते ।।२८।।

यथा स्वप्ने द्वयाभासं स्पन्दते मायया मनः ।
तथा जाग्रद्द्वयाभासं स्पन्दते मायया मनः ।।२९।।

असद् वस्तु का जन्म माया से या तत्त्वतः किसी प्रकार भी होना संभव नहीं है, क्योंकि वन्ध्यापुत्र न तत्त्व से और न माया से ही उत्पन्न होता है (अतः असत्कार्यवाद सर्वथा असंगत है)।।२८।।

जैसे स्वप्नावस्था में माया के द्वारा ही मन ग्राह्य ग्राहक रूप द्वैताभास रूप से स्फुरित होता है वैसे ही जाग्रत् काल में भी यह मन माया से (नाना रूपों में) स्फुरित होता है ।।२९।।

---

मायास्पदमवगमयति। यस्मात्सतो हि विद्यमानात्कारणान्मायानिर्मितस्य हस्त्यादि-कार्यस्येव जगज्जन्म युज्यते नासतः कारणात्। न तु तत्त्वत एवाऽऽत्मनो जन्म युज्यते। अथवा सतो विद्यमानस्य वस्तुनो रज्ज्वादेः सर्पादिवन्मायया जन्म युज्यते, न तु तत्त्वतो यथा, तथाऽग्राह्यस्यापि सत एवाऽऽत्मनो रज्जुसर्पवज्जगद्रूपेण मायया जन्म युज्यते न तु तत्त्वत एवाजस्याऽऽत्मनो जन्म। यस्य पुनः परमार्थसदजमात्मतत्त्वं जगद्रूपेण जायते वादिनो न हि तस्याजं जायत इति शक्यं वक्तुं विरोधात्। ततस्तस्यार्थाज्जातं जायत इत्यापन्नं ततश्चानवस्था जाताज्जायमानत्वेन। तस्मादजमेकमेवाऽऽत्मतत्त्वमिति सिद्धम् ।।२७।।

असद्वादिनामसतोऽभावस्य मायया तत्त्वतो वा न कथंचन जन्म युज्यते। अदृष्टत्वात्। न हि वन्ध्यापुत्रो मायया तत्त्वतो वा जायते। तस्मादत्रासद्वादो दूरत एवानुपपन्न इत्यर्थः।।२८।।

कथं पुनः सतो माययैव जन्मेत्युच्यते। यथा रज्ज्वां विकल्पितः सर्पो रज्जुरूपेणा-वेक्ष्यमाणः सन्नेवं मनः परमार्थविज्ञप्त्याऽऽत्मरूपेणावेक्ष्यमाणं सद्ग्राह्यग्राहकरूपेण द्वयाभासं स्पन्दते स्वप्ने मायया रज्ज्वामिव सर्पः। तथा तद्वदेव जाग्रज्जागरिते स्पन्दते मायया मनः इवेत्यर्थः ।।२९।।

अद्वयं च द्वयाभासं मनः स्वप्ने न संशयः ।
अद्वयं च द्वयाभासं तथा जाग्रन्न संशयः ।।३०।।

मनोदृश्यमिदं द्वैतं यत्किंचित्सचराचरम् ।
मनसो ह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते ।।३१।।

आत्मसत्यानुबोधेन न संकल्पयते यदा ।
अमनस्तां तदा याति ग्राह्याभावे तदग्रहम् ।।३२।।

जैसे स्वप्न काल में अद्वितीय मन ही ग्राह्य-ग्राहकादि द्वैत रूप से भासता है इसमें सन्देह नहीं, ठीक वैसे ही जाग्रत् काल में भी निःसन्देह अद्वितीय मन ही ग्राहकादि द्वैत से भासने वाला है ।।३०।।

मन से देखने योग्य यह जो कुछ जड़ चेतन द्वैत है, वह मनोदृश्य मन ही है क्योंकि मन के अमनीभाव (निरोध) हो जाने पर सुषुप्ति अवस्था में द्वैत उपलब्ध नहीं होता ।।३१।।

जब (शास्त्र और आचार्य के उपदेश में) आत्मसत्य के बोध हो जाने पर मन संकल्प नहीं करता, तब मन अमनीभाव को प्राप्त हो जाता है। इस अवस्था में (दाह्य के अभाव में अग्नि के दाहकत्व शान्त हो जाने के सदृश ही) ग्राह्य वस्तु के अभाव हो जाने पर वह मन ग्रहणादि विकल्प से शून्य हो जाता है ।।३२।।

---

रज्जुरूपेण सर्प इव परमार्थत आत्मरूपेणाद्वयं सद्द्वयाभासं मनः स्वप्ने न संशयः। न हि स्वप्ने हस्त्यादि ग्राह्यं तद्ग्राहकं वा चक्षुरादिद्वयं विज्ञानव्यतिरेकेणास्ति। जाग्रदपि तथैवेत्यर्थः। परमार्थसद्विज्ञानमात्राविशेषात् ।।३०।।

रज्जुसर्पवद्विकल्पनारूपं द्वैतरूपेण मन एवेत्युक्तम्। तत्र किं प्रमाणमित्यन्वय-व्यतिरेकलक्षणमनुमानमाह। कथं? तेन हि मनसा विकल्प्यमानेन दृश्यं मनोदृश्यमिदं द्वैतं सर्वं मन इति प्रतिज्ञा। तद्भावे भावात्तदभावे चाभावात्। मनसो ह्यमनीभावे निरुद्धे विवेकदर्शनाभ्यासवैराग्याभ्यां रज्ज्वामिव सर्पे लयं गते वा सुषुप्ते द्वैतं नैवोपलभ्यत इत्यभावात्सिद्धं द्वैतस्यासत्त्वमित्यर्थः ।।३१।।

कथं पुनरमनीभाव इति। उच्यते। आत्मैव सत्यमात्मसत्यं मृत्तिकावत्। "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" इति श्रुतेः। तस्य शास्त्राचार्योपदेशमन्ववबोध

अकल्पकमजं ज्ञानं ज्ञेयाभिन्नं प्रचक्षते ।
ब्रह्मज्ञेयमजं नित्यमजेनाजं विबुध्यते ।।३३।।

निगृहीतस्य मनसो निर्विकल्पस्य धीमतः।
प्रचारः स तु विज्ञेयः सुषुप्तेऽन्यो न तत्समः।।३४।।

सम्पूर्ण कल्पनाओं से रहित अजन्मा (ज्ञप्ति मात्र) ज्ञान को तत्त्वज्ञानी लोग ज्ञेय ब्रह्म से अभिन्न बतलाते हैं। जिस ज्ञान का ज्ञेय ब्रह्म है, वह ज्ञान आत्मस्वरूप, अज और नित्य है ऐसे अजन्मा ज्ञान से अजन्मा ज्ञेय रूप आत्मतत्त्व स्वयं ही जाना जाता है (वह किसी अन्य ज्ञान की अपेक्षा नहीं करता)।।३३।।

निरुद्ध, सर्वकल्पनाशून्य, विवेकयुक्त मन का जो व्यापार है, वह विशेष रूप से योगियों द्वारा जानने योग्य है। सुषुप्ति काल में चित्त की वृत्ति अन्य प्रकार की रहती है, निरुद्धावस्था के समान नहीं।।३४।।

---

आत्मसत्यानुबोधः। तेन संकल्प्याभावतया न संकल्पयते। दाह्याभावे ज्वलनमिवाग्नेः। यदा यस्मिन्काले तदा तस्मिन्कालेऽमनस्काममनीभावं याति ग्राह्याभावे तन्मनोऽग्रहं ग्रहणविकल्पनावर्जितमित्यर्थः ।।३२।।

यद्यसदिदं द्वैतं तर्हि केन स्वमजमात्मतत्त्वं विबुध्यत इति। उच्यते। अकल्पकं सर्वकल्पनावर्जितमत एवाजं ज्ञानं ज्ञप्तिमात्रं ज्ञेयेन परमार्थसता ब्रह्मणाऽभिन्नं प्रचक्षते कथयन्ति ब्रह्मविदः। न हि विज्ञातुर्विज्ञातेविपरिलोपो विद्यतेऽग्न्युष्णवत्। "विज्ञान-मानन्दं ब्रह्म"। "सत्यं ज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इत्यादिश्रुतिभ्यः। तस्यैव विशेषणं ब्रह्म ज्ञेयं यस्य स्वस्य तदिदं ब्रह्मज्ञेयमौष्ण्यस्येवाग्निवदभिन्नम्। तेनाऽऽत्मस्वरूपेणाजेन ज्ञानेनाजं ज्ञेयमात्मतत्त्वं स्वयमेव विबुध्यतेऽवगच्छति नित्यप्रकाशस्वरूप इव सविता। नित्यविज्ञानैकरसघनत्वान्न ज्ञानान्तरमपेक्षत इत्यर्थः।।३३।।

आत्मसत्यानुबोधेन संकल्पमकुर्वद्बाह्यविषयाभावे निरिन्धनाग्निवत्प्रशान्तं निगृहीतं निरुद्धं मनो भवतीत्युक्तम्। एवं च मनसो ह्यमनीभावे द्वैताभावश्चोक्तः। तस्यैवं निगृहीतस्य निरुद्धस्य मनसो निर्विकल्पस्य सर्वकल्पनावर्जितस्य धीमतो विवेकवतः प्रचरणं प्रचारो यः स तु प्रचारो विशेषेण ज्ञेयो योगिभिः। ननु सर्वप्रत्ययाभावे यादृशः सुषुप्तस्थस्य मनसः प्रचारस्तादृश एव निरुद्धस्यापि, प्रत्ययाभावाविशेषात्किं तत्र

लीयते हि सुषुप्ते तन्निगृहीतं न लीयते।
तदेव निर्भयं ब्रह्म ज्ञानालोकं समन्ततः ।।३५।।

अजमनिद्रमस्वप्नमनामकमरूपकम् ।
सकृद्विभातं सर्वज्ञं नोपचारः कथंचन ।।३६।।

स्वप्नावस्था में मन (अपने कारण अविद्या में) लीन होता है, किन्तु निरुद्ध मन उसमें लीन नहीं होता। उस समय तो सभी ओर से ज्ञान, प्रकाश, भयशून्य केवल ब्रह्म ही रहता है।।३५।।

वह ब्रह्म अजन्मा, अज्ञानरूप निद्रा से रहित, स्वप्न से शून्य, नामरूप से रहित और सदा भासने वाला होने के कारण सदा नित्य प्रकाश और सर्वरूप होता हुआ ज्ञानस्वरूप है, ऐसे ब्रह्म में कोई उपचार (समाधि आदि कर्तव्य) नहीं है।।३६।।

---

विज्ञेयमिति। अत्रोच्यते। नैवम्। यस्मात्सुषुप्तेऽन्यः प्रचारोऽविद्यामोहतमोग्रस्तस्यान्तर्लीनानेकानर्थप्रवृत्तिबीजवासनावतो मनस, आत्मसत्यानुबोधहुताशविप्लुष्टाविद्याद्यनर्थप्रवृत्तिबीजस्य निरुद्धस्यान्य एव प्रशान्तसर्वक्लेशरजसः स्वतन्त्रः प्रचारः। अतो न तत्समः। तस्माद्युक्तः स विज्ञातुमित्यभिप्रायः।।३४।।

प्रचारभेदे हेतुमाह। लीयते सुषुप्तौ हि यस्मात्सर्वाभिरविद्यादिप्रत्ययबीजवासनाभिः सह तमोरूपमविशेषरूपं बीजभावमापद्यते, तद्विवेकविज्ञानपूर्वकं निरुद्धं निगृहीतं सन्न लीयते, तमोबीजभावं नाऽऽपद्यते, तस्माद्युक्तः प्रचारभेदः सुषुप्तस्य समाहितस्य च मनसः। यदा ग्राह्यग्राहकाविद्याकृतमलद्वयवर्जितं, तदा परमद्वयं ब्रह्मैव तत्संवृत्तमित्यतस्तदेव निर्भयम्। द्वैतग्रहणस्य भयनिमित्तस्याभावात्। शान्तमभयं ब्रह्म। यद्विद्वान्न बिभेति कुतश्चन। तदेव विशेष्यते ज्ञप्तिर्ज्ञानमात्मस्वभावचैतन्यं तदेव ज्ञानमालोकः प्रकाशो यस्य तद्ब्रह्म ज्ञानालोकं विज्ञानैकरसघनमित्यर्थः। समन्ततः समन्तात्सर्वतो व्योमवन्नैरन्तर्येण व्यापकमित्यर्थः।।३५।।

जन्मनिमित्ताभावात्सबाह्याभ्यन्तरं ज़म्। अविद्यानिमित्तं हिजन्म रज्जुसर्पवदित्यवोचाम। सा चाविद्याऽऽत्मसत्यानुबोधेन निरुद्धा यतोऽतोऽजमत एवानिद्रम्। अविद्यालक्षणाऽनादिमाया निद्रा। स्वापात्प्रबुद्धोऽद्वयस्वरूपेणाऽऽत्मनाऽतोऽस्वप्नम्। अप्रबोधकृते ह्यस्य नामरूपे प्रबोधाच्च ते रज्जुसर्पवद्विनष्टे इति न नाम्नाऽभिधीयते ब्रह्म

सर्वाभिलापविगतः, सर्वचिन्तासमुत्थितः।
सुप्रशान्तः सकृज्ज्योतिः समाधिरचलोऽभयः।।३७।।

ग्रहो न तत्र नोत्सर्गश्चिन्ता यत्र न विद्यते।
आत्मसंस्थं तदा ज्ञानमजाति समतां गतम्।।३८।।

वह आत्मा सभी प्रकार के वागादि व्यवहार से रहित, चिन्तनादि सभी मनोव्यापार से शून्य, अतीत, अत्यन्त प्रशान्त नित्य प्रकाश, समाधिरूप, चलनादि क्रिया से शून्य और निर्भय है।।३७।।

जिस ब्रह्मतत्त्व में न तो ग्रहण है और न त्याग ही है। जिसमें किसी प्रकार का चिन्तन नहीं है। उस अवस्था में आत्मा में ही स्थित जन्मरहित ज्ञान समता को प्राप्त कर लेता है।।३८।।

---

रूप्यते वा न केनचित्प्रकारेणेत्यनामकमरूपकं च तत्। "यतो वाचो निवर्तन्ते" इत्यादिश्रुतेः। किं च सकृद्विभातं सदैव विभातं सदा भारूपमग्रहणान्यथाग्रहणाविर्भावतिरोभाववर्जितत्वात्। ग्रहणाग्रहणे हि रात्र्यहनी तमश्चाविद्यालक्षणं सदाऽप्रभातत्वे कारणं तदभावान्नित्य- चैतन्यभारूपत्वाच्च युक्तं सकृद्विभातमिति। अत एव सर्वं च तज्ज्ञस्वरूपं चेति सर्वज्ञम्। नेह ब्रह्मण्येवंविधःउपचरणमुपचारः कर्तव्यः। यथाऽन्येषामात्मस्वरूपव्यतिरेकेण समाधानाद्युपचारः, नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावत्वाद्ब्रह्मणः। कथंचन न कथंचिदपि कर्तव्यसंभवोऽविद्यानाश इत्यर्थः।।३६।।

* तृतीयमाह्निकम् *

अनामकत्वाद्युक्तार्थसिद्धये हेतुमाह—अभिलप्यतेऽनेनेत्यभिलापो वाक्करणं सर्वप्रकारस्याभिधानस्य तस्माद्विगतः। वागत्रोपलक्षणार्था सर्वबाह्यकरणवर्जित इत्येतत्। तथा सर्वचिन्तासमुत्थितः। चिन्त्यतेऽनयेति चिन्ता बुद्धिस्तस्याः समुत्थितोऽन्तःकरणवर्जित इत्यर्थः। "अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः" इति श्रुतेः। "अक्षरात्परतः परः"। यस्मात्सर्वविशेषवर्जितोऽतः सुप्रशान्तः। सकृज्ज्योतिः सदैव ज्योतिरात्मचैतन्यस्वरूपेण। समाधिनिमित्तप्रज्ञावगम्यत्वात्। समाधीयतेऽस्मिन्निति वा समाधिः। अचलोऽविक्रियः। अतएवाभयो विक्रियाभावात्।।३७।।

यस्माद्ब्रह्मैव समाधिरचलोऽभय इत्युक्तमतो न तत्र तस्मिन्ब्रह्मणि ग्रहो ग्रहणमुपादानं, नोत्सर्ग उत्सर्जनं हानं वा विद्यते। यत्र हि विक्रिया तद्विषयत्वं वा तत्र

अस्पर्शयोगो वै नाम दुर्दर्शः सर्वयोगिभिः।
योगिनो बिभ्यति, ह्यस्मादभये भयदर्शिनः।।३९।।

मनसो निग्रहायत्तमभयं सर्वयोगिनाम्।
दुःखक्षयः प्रबोधश्चाप्यक्षया शान्तिरेव च।।४०।।

सर्व सम्बन्धरूप स्पर्श से रहित होने के कारण औपनिषद अस्पर्श योग निस्सन्देह योगियों के लिये कठिनता से प्राप्त होता है। इस अभय पद में भी भय को देखने वाले योगी लोग इस अस्पर्श योग से भयभीत होते हैं।।३९।।

सभी द्वैतवादी योगियों का अभय, दुःखों का नाश, आत्मबोध और मोक्ष नामक अक्षय शान्ति भी मनोनिग्रह के अधीन है।।४०।।

---

हानोपादाने स्यातां न तद्द्वयमिह ब्रह्मणि संभवति। विकारहेतोरन्यस्याभावान्निरवयवत्वाच्च। अतो न तत्र हानोपादाने संभवतः। चिन्ता यत्र न विद्यते। सर्वप्रकारैव चिन्ता न संभवति यत्रामनस्त्वात्कुतस्तत्र हानोपादाने इत्यर्थः। यदैवाऽऽत्मसत्यानुबोधो जातस्तदैवाऽऽत्मसंस्थं विषयाभावादग्न्युष्णवदात्मन्येव स्थितं ज्ञानम्। अजाति जातिवर्जितम्। समतां गतं परं साम्यमापन्नं भवति। यदादौ प्रतिज्ञातमतो वक्ष्याम्यकार्पण्यमजाति समतां गतमितीदं तदुपपत्तितः शास्त्रतश्चोक्तमुपसंह्रियते। अजाति समतां गतमित्येतस्मादात्मसत्यानुबोधात्कार्पण्यविषयमन्यत्। "यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः" इति श्रुतेः। प्राप्यैतत्सर्वः कृतकृत्यो ब्राह्मणो भवतीत्यभिप्रायः।।३८।।

यद्यपीदमित्थं परमार्थतत्त्वं तथाऽपि तस्मिन्केचिन्मुह्यन्तीत्याह। अस्पर्शयोगो नामायं सर्वसंबन्धाख्यस्पर्शवर्जितत्वादस्पर्शयोगो नाम वै स्मर्यते प्रसिद्ध उपनिषत्सु। दुःखेन दृश्यत इति दुर्दर्शः सर्वैर्योगिभिः, वेदान्तविहितविज्ञानरहितैः सर्वयोगिभिरात्मसत्यानुबोधायासलभ्य एवेत्यर्थः। योगिनो बिभ्यति ह्यस्मात्सर्वभयवर्जितादप्यात्मनाशरूपमिमं योगं मन्यमाना भयं कुर्वन्ति अभयेऽस्मिन्भयदर्शिनो भयनिमित्तात्मनाशदर्शनशीला अविवेकिन इत्यर्थः।।३९।।

येषां पुनर्ब्रह्मस्वरूपव्यतिरेकेण रज्जुसर्पवत्कल्पितमेव मन इन्द्रियादि च न परमार्थतो विद्यते तेषां ब्रह्मस्वरूपाणामभयं मोक्षाख्या चाक्षया शान्तिः स्वभावत एव

उत्सेक उदधेर्यद्वत्कुशाग्रेणैकबिन्दुना।
मनसो निग्रहस्तद्वद् भवेदपरिखेदतः।।४१।।

उपायेन निगृह्णीयाद्विक्षिप्तं कामभोगयोः।
सुप्रसन्नं लये चैव यथा कामो लयस्तथा।।४२।।

जैसे कुशा के अग्रभाग से एक-एक बूँद के द्वारा समुद्र को सुखाना (लम्बे धैर्यपूर्वक प्रयत्न से हो सकता है) ठीक वैसे ही खेदरहित (प्रयत्नशील) योगियों का मनोनिग्रह धैर्य से हो सकता है।।४१।।

काम और भोगरूप विषयों में विक्षिप्त चित्त का आगे कहे जाने वाले उपाय से निग्रह करे, एवं लयावस्था में अत्यन्त आयास रहित चित्त का भी (निग्रह करे) क्योंकि जिस प्रकार काम अनर्थ का कारण है उसी प्रकार लय भी अनर्थ का कारण है।।४२।।

---

सिद्धा नान्यायत्ता नोपचारः कथंचनेत्यवोचाम। ये त्वतोऽन्ये योगिनो मार्गगा हीनमध्यमदृष्टयो मनोऽन्यदात्मव्यतिरिक्तमात्मसंबन्धि पश्यन्ति तेषां मोक्षफलमाह मनस इति तेषामात्मसत्यानुबोधरहितानां मनसो निग्रहायत्तमभयं सर्वेषां योगिनाम्। किं च दुःखक्षयोऽपि। न ह्यात्मसंबन्धिनि मनसि प्रचलिते दुःखक्षयोऽस्त्यविवेकिनाम्। किं चाऽऽत्मप्रबोधोऽपि मनोनिग्रहायत्त एव। तथाऽक्षयाऽपि मोक्षाख्या शान्तिस्तेषां मनोनिग्रहायत्तैव।।४०।।

मनसो निग्रहे तेषामुपायमाह—उत्सेक इति। मनोनिग्रहोऽपि तेषामुदधेः कुशाग्रेणैकबिन्दुनोत्सेचनेन शोषणव्यवसायवद्व्यवसायवतामनवसन्नान्तःकरणानामनिर्वेदादपरिखेदतो भवतीत्यर्थः।।४१।।

किमपरिखिन्नव्यवसायमात्रमेव मनोनिग्रह उपायो नेत्युच्यते। अपरिखिन्नो व्यवसायवान्सन्वक्ष्यमाणेनोपायेन कामभोगविषयेषु विक्षिप्तं मनो निगृह्णीयान्निरुन्ध्यादात्मन्येवेत्यर्थः। किं च लीयतेऽस्मिन्निति सुषुप्तो लयस्तस्मिँल्लये च सुप्रसन्नमायासवर्जितमपीत्येतन्निगृह्णीयादित्यनुवर्तते। सुप्रसन्नं चेत्कस्मान्निगृह्यत इति। उच्यते। यस्माद्यथा कामोऽनर्थहेतुस्तथा लयोऽपि। अतः कामविषयस्य मनसो निग्रहवल्लयादपि निरोद्धव्यमित्यर्थः।।४२।।

दुःखं सर्वमनुस्मृत्य कामभोगान्निवर्तयेत्।
अजं सर्वमनुस्मृत्य जातं नैव तु पश्यति।।४३।।

लये संबोधयेच्चित्तं विक्षिप्तं शमयेत्पुनः।
सकषायं विजानीयात्समप्राप्तं न चालयेत्।।४४।।

नाऽऽस्वादयेत्सुखं तत्र निःसङ्गः प्रज्ञया भवेत्।

(अविद्या से प्रतीत होने वाला) सम्पूर्ण द्वैत दुःख रूप है, ऐसा निरन्तर स्मरण करते हुए इच्छाजनित भोग से (वैराग्य द्वारा हटावे) पूनः सदा सभी वस्तुओं को अजन्मा ब्रह्मरूप स्मरण करता हुआ फिर किसी द्वैतजात को नहीं देखता है।।४३।।

(इस प्रकार बारम्बार अभ्यास द्वारा) लयावस्था में गये हुये चित्त को सावधान करे। पुनः विषयों में विक्षिप्त चित्त को शान्त करे, (और इन दोनों की अन्तरालावस्था मे रहने से) चित्त राग युक्त हो रहा हो, तो उसे भी समझे और यत्नपूर्वक समता को प्राप्त हुए चित्त को विषयाभिमुख न होने दे।।४४।।

(निर्विकल्पक समाधि की इच्छा वाला योगी उस साम्यावस्था में प्राप्त हुए) सुख का आस्वाःदन न करे, बल्कि विवेकवती बुद्धि के द्वारा उसमें मिथ्यात्व भावना करते हुए निसंग

---

कः स उपाय इति, उच्यते। सर्वं द्वैतमविद्याविजृम्भितं दुःखमेवेत्यनुस्मृत्य कामभोगात्कामनिमित्तो भोग इच्छाविषयस्तस्माद्विप्रसृतं मनो निवर्तयेद्वैराग्यभावनयेत्यर्थः। अजं ब्रह्म सर्वमित्येतच्छास्त्राचार्योपदेशतोऽनुस्मृत्य तद्विपरीतं द्वैतजातं नैव तु पश्यति, अभावात्।।४३।।

एवमनेन ज्ञानाभ्यासवैराग्यद्वयोपायेन लये सुषुप्ते लीनं संबोधयेन्मनः। आत्मविवेकदर्शनेन योजयेत्। चित्तं मन इत्यनर्थान्तरम्। विक्षिप्तं च कामभोगेषु शमयेत्पुनः। एवं पुनः पुनरभ्यस्यतो लयात्संबोधितं विषयेभ्यश्च व्यावर्तितं नापि साम्यापन्नमन्तरालावस्थं सकषायं सरागं बीजसंयुक्तं मन इति विजानीयात्। ततोऽपि यत्नतः साम्यमापादयेत्। यदा तु समप्राप्तं भवति समप्राप्त्यभिमुखी भवतीत्यर्थः। ततस्तन्न विचालयेद्विषयाभिमुखं न कुर्यादित्यर्थः।।४४।।

समाधित्सतो योगिनो यत्सुखं जायते तन्नाऽऽस्वादयेत्। तत्र न रज्येतेत्यर्थः। कथं तर्हि। निःसङ्गो निस्पृहः प्रज्ञया विवेकबुद्ध्या यदुपलभ्यते सुखं तदविद्यापरि-

निश्चलं निश्चरच्चित्तमेकीकुर्यात्प्रयत्नतः।।४५।।

यदा न लीयते चित्तं न च विक्षिप्यते पुनः।
अनिङ्गनमनाभासं निष्पन्नं ब्रह्म तत्तदा।।४६।।

स्वस्थं शान्तं सनिर्वाणमकथ्यं सुखमुत्तमम्।
अजमजेन ज्ञेयेन सर्वज्ञं परिचक्षते।।४७।।

रहे। फिर यदि किसी कारण से चित्त बाहर जावे तो उसे प्रयत्नपूर्वक निश्चल तथा समाहित करे।।४५।।

(उक्त उपाय से निगृहीत) चित्त जब सुषुप्ति में लीन न हो और न फिर विषयों में ही विक्षिप्त हो तथा (निवास स्थान में स्थित दीपक के समान) निश्चल एवं कल्पित विषय के प्रकाश से रहित हो जाय, तो उस समय चित्त ब्रह्म स्वरूप हो जाता है।।४६।।

(ब्रह्मतत्त्वदर्शी पुरुष उस अवस्था में प्रतीत होने वाले आनन्द को) स्वस्थ, शान्त, कैवल्ययुक्त, अकथनीय, निरतिशय सुखस्वरूप, उत्पत्तिरहित अजन्मा ब्रह्म से अभिन्न और सर्वज्ञ कहते हैं।।४७।।

---

कल्पितं मृषैवेति विभावयेत्। ततोऽपि सुखरागान्निगृह्णीयादित्यर्थः। यदा पुनः सुखरागान्निवृत्तं निश्चलस्वभावं सन्निश्चरद्बहिर्निर्गच्छद्भवति चित्तं ततस्ततो नियम्योक्तोपायेनाऽऽत्मन्येवैकीकुर्यात्प्रयत्नतः। चित्स्वरूपसत्तामात्रमेवाऽऽपादयेदित्यर्थः।।४५।।

यथोक्तेनोपायेन निगृहीतं चित्तं यदा सुषुप्ते न लीयते न च पुनर्विषयेषु विक्षिप्यते, अनिङ्गनमचलं निवातप्रदीपकल्पम्। अनाभासं न केनचित्कल्पितेन विषयभावेनावभासत इति। यदेवंलक्षणं चित्तं तदा निष्पन्नं ब्रह्म ब्रह्मस्वरूपेण निष्पन्नं चित्तं भवतीत्यर्थः।।४६।।

यथोक्तं परमार्थसुखमात्मसत्यानुबोधलक्षणं स्वस्थं स्वात्मनि स्थितम्। शान्तं सर्वानर्थोपशमरूपम्। सनिर्वाणं निर्वृत्तिर्निर्वाणं कैवल्यं सह निर्वाणेन वर्तते। तच्चाकथ्यं न शक्यते कथयितुम्। अत्यन्तासाधारणविषयत्वात्। सुखमुत्तमं निरतिशयं हि तद्योगिप्रत्यक्षमेव। न जातमित्यजं यथा विषयविषयम्। अजेनानुत्पन्नेन ज्ञेयेनाव्यतिरिक्तं सत्स्वेन सर्वज्ञरूपेण सर्वज्ञं ब्रह्मैव सुखं परिचक्षते कथयन्ति ब्रह्मविदः।।४७।।

न कश्चिज्जायते जीवः संभवोऽस्य न विद्यते।
एतत्तदुत्तमं सत्यं यत्र किंचिन्न जायते।।४८।।
इति गौडपादीयकारिकायामद्वैताख्यं तृतीयं प्रकरणम्।।३।। ॐ तत्सत्।।

(अथालातशान्त्याख्यं चतुर्थप्रकरणम्)

ज्ञानेनाऽऽकाशकल्पेन धर्मान्यो गगनोपमान्।
ज्ञेयाभिन्नेन संबुद्धस्तं वन्दे द्विपदां वरम्।।१।।

(किसी प्रकार से भी) कोई जीव उत्पन्न नहीं होता क्योंकि इसका कोई कारण नहीं है। जिस सत्यस्वरूप ब्रह्म में कोई वस्तु अणुमात्र भी उत्पन्न नहीं होती, यह सर्वोत्तम सत्य है।।४८।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्ययतीन्द्रकुलतिलककैलासपीठाधीश्वरपरमादर्शमहामण्डलेश्वरस्वामिविद्यानन्दगिरि-विरचितामाण्डूक्यकारिकातृतीयाद्वैतप्रकरणस्य विद्यानन्दीमिताक्षरा ।।३।।

ज्ञेय (आत्मत्त्व) से अभिन्न आकाशतुल्य ज्ञान के द्वारा आकाश सदृश जीवों को जिसने जाना है, उस पुरुषोत्तम नारायण की मैं वन्दना करता हूँ।।१।।

---

सर्वोऽप्ययं मनोनिग्रहादिर्मृल्लोहादिवत्सृष्टिरुपासना चोक्ता परमार्थस्वरूपप्रतिपत्त्युपायत्वेन न परमार्थसत्येति। परमार्थसत्यं तु न कश्चिज्जायते जीवः कर्ता भोक्ता च नोत्पद्यते केनचिदपि प्रकारेण। अतः स्वभावतोऽजस्यास्यैकस्याऽऽत्मनः संभवः कारणं न विद्यते नास्ति। यस्मान्न विद्यतेऽस्य कारणं तस्मान्न कश्चिज्जायते जीव इत्येतत्। पूर्वेषूपायत्वेनोक्तानां सत्यानामेतत्तदुत्तमं सत्यं, यस्मिन्सत्यस्वरूपे ब्रह्मण्यणुमात्रमपि किंचिन्न जायत इति।।४८।। - तृतीयमाह्निकम् -

*इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य शंकरभगवतः कृतौ गौडपादीयभाष्य आगमशास्त्रविवरणेऽद्वैताख्यं तृतीय-प्रकरणभाष्यं समाप्तम्।।३।। ॐ तत्सत्।।*

ओंकारनिर्णयद्वारेणाऽऽगमतः प्रतिज्ञातस्याद्वैतस्य बाह्यविषयभेदवैतथ्याच्च सिद्धस्य पुनरद्वैते शास्त्रयुक्तिभ्यां साक्षान्निर्धारितस्यैतत्तदुत्तमं सत्यमित्युपसंहारः कृतः। (अन्ते तस्यैतस्याऽऽगमार्थस्याद्वैतदर्शनस्य प्रतिपक्षभूता द्वैतिनो वैनाशिकाश्च तेषां चान्योन्यविरोधाद्रागद्वेषादिक्लेशास्पदं दर्शनमिति, मिथ्यादर्शनत्वं सूचितम्। क्लेशानास्पदत्वादात्मैकत्वबुद्धिरेव सम्यग्दर्शनमित्यद्वैतदर्शनं स्तूयते। तदिह विस्तरेणान्योन्यओंकार-

अस्पर्शयोगो वै नाम सर्वसत्त्वसुखो हितः।
अविवादोऽविरुद्धश्च देशितस्तं नमाम्यहम्।।२।।

(जिस योग का किसी से सम्बन्ध नहीं है और जो सम्पूर्ण प्राणियों के लिये सुखावह है एवं जिसमें किसी का विरोध और विवाद नहीं है) ऐसे सम्पूर्ण प्राणियों के सुखप्रद, हितकर, निर्विवाद और सबके अविरोधी जिस अस्पर्श योग का उपदेश किया गया है, उसे भी मैं नमस्कार करता हूँ।।२।।

---

~~निर्णयद्वारेणाऽऽगमतः प्रतिज्ञातस्याद्वैतस्य बाह्यविषयभेदवैतथ्याच्च सिद्धस्यपुनरद्वैत शास्त्रयुक्तिभ्यां साक्षान्निर्धारितस्यैतत्तदुत्तमं सत्यमित्युपसंहारः कृतः।~~ अन्ते तस्यैतस्याऽऽगमार्थस्याद्वैतदर्शनस्य प्रतिपक्षभूता द्वैतिनो वैनाशिकाश्च तेषां चान्योन्यविरोधाद्रागद्वेषादिक्लेशास्पदं दर्शनमिति, मिथ्यादर्शनत्वं सूचितम्। क्लेशानास्पदत्वादात्मैकत्वबुद्धिरेव सम्यग्दर्शनमित्यद्वैतदर्शनं स्तूयते। तदिह विस्तरेणान्योन्यविरुद्धतयाऽसम्यग्दर्शनत्वं प्रदर्श्य तत्प्रतिषेधेनाद्वैतदर्शनसिद्धिरुपसंहर्तव्याऽऽवीतन्यायेनेत्यलातशान्तिरारभ्यते। तत्राद्वैतदर्शनसंप्रदायकर्तुरद्वैतस्वरूपेणैव नमस्कारार्थोऽयमाद्यश्लोकः। आचार्यपूजा ह्यभिप्रेतार्थसिद्ध्यर्थेष्यते शास्त्रारम्भे। आकाशेनेषदसमाप्तमाकाशकल्पमाकाशतुल्यमित्येतत्। तेनाऽऽकाशकल्पेन ज्ञानेन, किम्, धर्मानात्मनः, किंविशिष्टान्गगनोपमान्गगनमुपमा येषां ते गगनोपमास्तानात्मनो धर्मान्। ज्ञानस्यैव पुनर्विशेषणम्—ज्ञेयैर्धर्मैरात्मभिरभिन्नमग्न्युष्णवत्सवितृप्रकाशवच्च ज्ञानं तेन ज्ञेयाभिन्नेन ज्ञानेनाऽऽकाशकल्पेन ज्ञेयात्मस्वरूपाव्यतिरिक्तेन गगनोपमान्धर्मान्यः संबुद्धः संबुद्धवान्नित्यमेवेश्वरो यो नारायणाख्यस्तं वन्देऽभिवादये द्विपदां वरं द्विपदोपलक्षितानां पुरुषाणां वरं प्रधानं पुरुषोत्तममित्यभिप्रायः। उपदेष्टृनमस्कारमुखेन (ण) ज्ञानज्ञेयज्ञातृभेदरहितं परमार्थतत्त्वदर्शनमिह प्रकरणे प्रतिपिपादयिषितं प्रतिपक्षप्रतिषेधद्वारेण प्रतिज्ञातं भवति।।१।।

अधुनाऽद्वैतदर्शनयोगस्य नमस्कारस्तत्स्तुतये। स्पर्शनं स्पर्शः संबन्धो न विद्यते यस्य योगस्य केनचित्कदाचिदपि सोऽस्पर्शयोगो ब्रह्मस्वभाव एव, वै नामेति ब्रह्मविदामस्पर्शयोग इत्येवं प्रसिद्ध इत्यर्थः। स च सर्वसत्त्वसुखो भवति, कश्चिदत्यन्तसुखसाधनविशिष्टोऽपि दुःखरूपः, यथा तपः। अयं तु न तथा। किं तर्हि सर्वसत्त्वानां सुखः। तथेह भवति कश्चिद्विषयोपभोगः सुखो न हितः। अयं तु सुखो हितश्च। नित्यमप्रचलितस्वभावत्वात्।

भूतस्य जातिमिच्छन्ति वादिनः केचिदेव हि।
अभूतस्यापरे धीरा विवदन्तः परस्परम्।।३।।

भूतं न जायते किंचिदभूतं नैव जायते।
विवदन्तो द्वया ह्येवमजातिं ख्यापयन्ति ते।।४।।

कुछ सांख्यमतावलम्बी द्वैतवादी ही विद्यमान वस्तु की उत्पत्ति मानते हैं, (इनके विपरीत नैयायिकादि) पाण्डित्याभिमानी अविद्यमान वस्तु की उत्पत्ति मानते हैं। ऐसे परस्पर विवाद करते-करते हुए एक दूसरे को जीतना चाहते हैं।।३।।

कोई भी विद्यमान वस्तु (विद्यमान होने के कारण) ही उत्पन्न नहीं होती है (ऐसा कुछ लोग मानते हैं और कुछ लोग कहते हैं कि शशशृङ्ग के समान) असद् वस्तु का जन्म नहीं होता। इस प्रकार परस्पर विवाद करने वाले ये वास्तव में अद्वैतवादी ही हैं, क्योंकि ये अजातवाद का ही उक्तरीत्या समर्थन करते हैं।।४।।

---

किं चाविवादो विरुद्धवदनं विवादः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहेण यस्मिन्न विद्यते सोऽविवादः। कस्मात्। यतोऽविरुद्धश्च य ईदृशो योगो देशित उपदिष्टः शास्त्रेण तं नमाम्यहं प्रणमामीत्यर्थः।।२।।

कथं द्वैतिनः परस्परं विरुध्यन्त इति। उच्यते। भूतस्य विद्यमानस्य वस्तुनो जातिमुत्पत्तिमिच्छन्ति वादिनः केचिदेव हि सांख्या, न सर्व एव द्वैतिनः। यस्मादभूतस्या विद्यमानस्यापरे वैशेषिका नैयायिकाश्च धीरा धीमन्तः प्राज्ञाभिमानिन इत्यर्थः। विवदन्तो विरुद्धं वदन्तो ह्यन्योन्यमिच्छन्ति जेतुमित्यभिप्रायः।।३।।

तैरेवं विरुद्धवदनेनान्योन्यपक्षप्रतिषेधं कुर्वद्भिः किं ख्यापितं भवतीति। उच्यते। भूतं विद्यमानं वस्तु न जायते किंचिद्विद्यमानत्वादेवाऽऽत्मवदित्येवं वदन्नसद्वादी सांख्यपक्षं प्रतिषेधति सज्जन्म। तथाऽभूतमविद्यमानमविद्यमानत्वान्नैव जायते शशविषाणवदित्येवं वदन्सांख्योऽप्यसद्वादिपक्षमसज्जन्म प्रतिषेधति। विवदन्तो विरुद्धं वदन्तो द्वया द्वैतिनोऽप्येतेऽन्योन्यस्य पक्षौ सदसतोर्जन्मनी प्रतिषेधन्तोऽजातिमनुत्पत्तिमर्थात्ख्यापयन्ति प्रकाशयन्ति ते।।४।।

ख्याप्यमानामजातिं तैरनुमोदामहे वयम्।
विवदामो न तैः सार्धमविवादं निबोधत।।५।।

अजातस्यैव धर्मस्य जातिमिच्छन्ति वादिनः।
अजातो ह्यमृतो धर्मो मर्त्यतां कथमेष्यति।।६।।

न भवत्यमृतं मर्त्यं न मर्त्यममृतं तथा।
प्रकृतेरन्यथाभावो न कथंचिद्भविष्यति।।७।।

स्वभावेनामृतो यस्य धर्मो गच्छति मर्त्यताम्।
कृतकेनामृतस्तस्य कथं स्थास्यति निश्चलः।।८।।

उन द्वैतवादियों द्वारा बतलायी गयी अजाति का, हम (ऐसा ही हो इस प्रकार केवल) अनुमोदन करते हैं, उनके साथ विवाद नहीं करते। (अतः हे शिष्यो! हमारे उपदेश किये हुए) उस विवाद रहित परमार्थ दर्शन को तुम भली प्रकार समझ लो।।५।।

(कुछ उपनिषद् व्याख्याता) द्वैतवादी अजन्मा आत्मतत्त्व की उत्पत्ति परमार्थतः सिद्ध करना चाहते हैं। पर भला जो पदार्थ स्वभाव से अजन्मा और अमर है, वह मरणशीलता को कैसे प्राप्त हो सकेगा।।६।।

लोक में अमर वस्तु कभी भी मरणशील नहीं हो सकती और मरणशील अमर नहीं होती क्योंकि कोई भी वस्तु अपने स्वभाव के विपरीत नहीं हो सकती है।।७।।

जिस वादी के मत में स्वभाव से अमर पदार्थ भी मर्त्य भाव को प्राप्त होता है, उसके सिद्धान्तानुसार कृतिजन्य होने के कारण वह अमृत पदार्थ निश्चल (अमृत स्वभाव भी) कैसे हो सकता है।।८।।

---

तैरेवं ख्याप्यमानामजातिमेवमस्त्वित्यनुमोदामहे केवलं, न तैः सार्धं विवदामः पक्षप्रतिपक्षग्रहणेन। यथा तेऽन्योन्यमित्यभिप्रायः। अतस्तमविवादं विवादरहितं परमार्थदर्शनमनुज्ञातमस्माभिर्निबोधत हे शिष्याः।।५।।

सदसद्वादिनः सर्वेऽपीति। पुरस्तात्कृतभाष्यः श्लोकः ।।६।।

उक्तार्थानां श्लोकानामिहोपन्यासः परवादिपक्षाणामन्योन्यविरोधख्यापितानुपपत्त्यनुमोदनप्रदर्शनार्थः।।७।।८।।

सांसिद्धिकी स्वाभाविकी सहजा अकृता च या।
प्रकृतिः सेति विज्ञेया स्वभावं न जहाति या।।९।।

जरामरणनिर्मुक्ताः सर्वे धर्माः स्वभावतः।
जरामरणमिच्छन्तश्च्यवन्ते तन्मनीषया।।१०।।

जो सम्यक् सिद्धि द्वारा प्राप्त (कभी भी विपरीत न होने वाली अग्नि की उष्णता के समान) स्वभाव सिद्ध पक्षी के आकाश गमन सामर्थ्य के समान जन्मजात, जल के निम्न प्रदेश में गति के समान अकृता है और कभी अपने स्वभाव को छोड़ती नहीं है। बस! यही प्रकृति है (ऐसा प्रकृति का विपर्यय अज स्वभाव परमार्थतत्त्व में कैसे हो सकेगा)।।९।।

जरा मरणादि सम्पूर्ण विकारों से रहित स्वभाव से समस्त प्राणी हैं, ऐसे वस्तु में जरा-मरण मानने वाले लोग इस विपरीत चिन्तन के कारण (तद्भावभावित हो) अपने स्वभाव से विचलित हो जाते हैं।।१०।।

---

यस्माल्लौकिक्यपि प्रकृतिर्न विपर्येति, कोऽसावित्याह—सम्यक्सिद्धिः संसिद्धिस्तत्र भवा सांसिद्धिकी यथा योगिनां सिद्धानामणिमाद्यैश्वर्यप्राप्तिः प्रकृतिः, सा भूतभविष्यत्कालयोरपि योगिनां न विपर्येति। तथैव सा। तथा स्वाभाविकी द्रव्यस्वभावत एव यथाऽग्न्यादीनामुष्णप्रकाशादिलक्षणा, साऽपि न कालान्तरे व्यभिचरति देशान्तरे च। तथा सहजाऽऽत्मना सहैव जाता यथा पक्ष्यादीनामाकाशगमनादिलक्षणा। अन्याऽपि या काचिदकृता केनचिन्न कृता यथाऽपां निम्नदेशगमनादिलक्षणा। अन्याऽपि या काचित्स्वभावं न जहाति सा सर्वा प्रकृतिरिति विज्ञेया लोके। मिथ्याकल्पितेषु लौकिकेष्वपि वस्तुषु प्रकृतिर्नान्यथा भवति किमुताजस्वभावेषु परमार्थवस्तुष्वमृतत्वलक्षणा प्रकृतिर्नान्यथा भवतीत्यभिप्रायः।।९।।

किंविषया पुनः सा प्रकृतिर्यस्या अन्यथाभावो वादिभिः कल्प्यते कल्पनायां वा को दोष इत्याह—जरामरणनिर्मुक्ताः। जरामरणादिसर्वविक्रियावर्जिता इत्यर्थः। के सर्वे धर्माः सर्वे आत्मानः इत्येतत्स्वभावतः प्रकृतितः। एवंस्वभावाः सन्तो धर्मा जरामरणमिच्छन्त इच्छन्त इवेच्छन्तो रज्ज्वामिव सर्पमात्मनि कल्पयन्तश्च्यवन्ते स्वभावतश्चलन्तीत्यर्थः। तन्मनीषया जन्ममरणचिन्तया तद्भावभावितत्वदोषेणेत्यर्थः।।१०।।

कारणं यस्य वै कार्यं कारणं तस्य जायते।
जायमानं कथमजं भिन्नं नित्यं कथं च तत्।।११।।

कारणाद्यद्यनन्यत्वमतः कार्यमजं यदि।
जायमानाद्धि वै कार्यात्कारणं ते कथं ध्रुवम्।।१२।।

अजाद्वै जायते यस्य दृष्टान्तस्तस्य नास्ति वै।

जिस (सांख्यमतावलम्बी) के मत में मृतिका के समान कारण ही कार्य है, उसके सिद्धान्तानुसार प्रधानादि कारण अजन्मा होता हुआ भी महदादि रूप से उत्पन्न होता है। इस पर यदि वह जन्मने वाला हो तो भला अज कैसे होगा और विकृत होने वाला वह नित्य भी कैसे हो सकता है।।११।।

यदि अजन्मा कारण से कार्य का अभेद है (तो यह बात सिद्ध हो जाती है कि) कार्य भी अजन्मा है और यदि ऐसी स्थिति है तो उत्पन्न होने वाले कार्य से अभिन्न उसका कारण नित्य और निश्चल कैसे रह सकता है।।१२।।

जिस वादी के मत में अजन्मा वस्तु से ही (किसी भी कार्य की उत्पत्ति होती है)

---

कथं सज्जातिवादिभिः सांख्यैरनुपपन्नमुच्यत इत्याह वैशेषिकः। कारणं मृद्वदुपादानलक्षणं यस्य वादिनो वै कार्यं कारणमेव कार्याकारेण परिणमते तस्य वादिन इत्यर्थः। तस्याजमेव सत्प्रधानादि कारणं महदादिकार्यरूपेण जायत इत्यर्थः। महदाद्याकारेण चेज्जायमानं प्रधानं कथमजमुच्यते तैर्विप्रतिषिद्धं चेदं जायतेऽजं चेति। नित्यं च तैरुच्यते। प्रधानं भिन्नं विदीर्णं स्फुटितमेकदेशेन सत्कथं नित्यं भवेदित्यर्थः। न हि सावयवं घटादि एकदेशस्फुटनधर्मि नित्यं दृष्टं लोक इत्यर्थः। विदीर्णं च स्यादेकदेशेनाजं नित्यं चेति। एतद्विप्रतिषिद्धं तैरभिधीयत इत्यभिप्रायः।।११।।

उक्तस्यैवार्थस्य स्पष्टीकरणार्थमाह—कारणादजात्कार्यस्य यद्यनन्यत्वमिष्टं त्वया ततः कार्यमजमिति प्राप्तम्। इदं चान्यद्विप्रतिषिद्धं कार्यमजं चेति तव। किं चान्यत्कार्यकारणयोरनन्यत्वे जायमानाद्धि वै कार्यात्कारणमनन्यन्नित्यं ध्रुवं च ते कथं भवेत्। न हि कुक्कुट्या एकदेशः पच्यते, एकदेशः प्रसवाय कल्प्यते।।१२।।

किं चान्यदजादनुत्पन्नान्नित्याद्वस्तुनो जायते यस्य वादिनः कार्यं दृष्टान्तस्तस्य नास्ति

जाताच्च जायमानस्य न व्यवस्था प्रसज्यते।।१३।।

हेतोरादिः फलं येषामादिर्हेतुः फलस्य च।
हेतोः फलस्य चानादिः कथं तैरुपवर्ण्यते।।१४।।

हेतोरादिः फलं येषामादिर्हेतुः फलस्य च।
तथा जन्म भवेत्तेषां पुत्राज्जन्म पितुर्यथा।।१५।।

निश्चय ही उसके पास कोई दृष्टान्त नहीं है और यदि उत्पन्न होने वाली वस्तु से ही कार्य वर्ग की उत्पत्ति मानें, तो अनवस्था उपस्थित हो जाती है।।१३।।

जिन वादियों के मत में धर्मादि का कारण देहादि-संघातरूप फल है और संघातरूप फल का कारण धर्माधर्मादि है, (इस प्रकार कार्य कारण भाव बतलाने वाले बेचारे) वे हेतु और फल के अनादित्व का वर्णन कैसे कर सकते हैं।।१४।।

जिनके मत में धर्मादि रूप हेतु का कारण संघात रूप फल है और फल का हेतु धर्मादि है, उनकी यह उत्पत्ति ऐसी ही विरुद्ध है जैसे पुत्र से पिता का उत्पन्न होना है।।१५।।

---

वै, दृष्टान्ताभावेऽर्थादजान्न किंचिज्जायत इति सिद्धं भवतीत्यर्थः। यदा पुनर्जाताज्जायमानस्य वस्तुनोऽभ्युपगमः, तदप्यन्यस्माज्जातात्तदप्यन्यस्मादिति न व्यवस्था प्रसज्यते अनवस्थानं स्यादित्यर्थः।।१३।।

"यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्" इति परमार्थतो द्वैताभावः श्रुत्योक्तस्तमाश्रित्याऽऽह— हेतोर्धर्माधर्मादिः कारणं देहादिसंघातः फलं येषां वादिनाम्। तथाऽऽदिः कारणं हेतु-र्धर्माधर्मादिः फलस्य च देहादिसंघातस्य। एवं हेतुफलयोरितरेतरकार्यकारणत्वेनाऽऽदिमत्त्वं ब्रुवद्भिरेव हेतोः फलस्य चानादित्वं कथं तैरुपवर्ण्यते विप्रतिषिद्धमित्यर्थः। न हि नित्यस्य कूटस्थस्याऽऽत्मनो हेतुफलात्मता संभवति।।१४।।

कथं तैर्विरुद्धमभ्युपगम्यत इति। उच्यते। हेतुजन्यादेव फलाद्धेतोर्जन्माभ्युपगच्छतां तेषामीदृशो विरोध उक्तो भवति यथा पुत्राज्जन्म पितुः।।१५।।

संभवे हेतुफलयोरेषितव्यः क्रमस्त्वया।
युगपत्संभवे यस्मादसंबन्धो विषाणवत्।।१६।।

फलादुत्पद्यमानः सन्न ते हेतुः प्रसिध्यति।
अप्रसिद्धः कथं हेतुः फलमुत्पादयिष्यति।।१७।।

यदि हेतोः फलात्सिद्धिः फलसिद्धिश्च हेतुतः।
कतरत्पूर्वनिष्पन्नं यस्य सिद्धिरपेक्षया।।१८।।

हेतु और फल की उत्पत्ति मानने में दोनों के पौर्वापर्य का अन्वेषण भी करना पड़ेगा, क्योंकि एक साथ उत्पत्ति होने पर (दायें बायें) सींगों के समान (कार्य-कारण) का सम्बन्ध नहीं बन सकता।।१६।।

तुम्हारे मत में (स्वतः असिद्ध) फल से, उत्पन्न होने वाला हेतु प्रसिद्ध नहीं होता है, एवं (शशशृङ्ग के समान) अप्रसिद्ध हेतु भला कैसे फल को उत्पन्न करेगा।।१७।।

तुम्हारे मत में यदि फल से हेतु की सिद्धि होती है और हेतु से फल की सिद्धि होती है। इस प्रकार हेतु और फल में परस्पर कार्यकारणभाव मानने पर पहले कौन हुआ जिसकी अपेक्षा से पश्चाद्भावी वस्तु की सिद्धि मानी जाय।।१८।।

---

यथोक्तो विरोधो न युक्तोऽभ्युपगन्तुमिति चेन्मन्यसे संभवे हेतुफलयोरुत्पत्तौ क्रम एषितव्यस्त्वयाऽन्वेष्टव्यो हेतुः पूर्वं पश्चात्फलं चेति। इतश्च युगपत्संभवे यस्माद्धेतुफलयोः कार्यकारणत्वेनासंबन्धः। यथा युगपत्संभवतोः सव्येतरगोविषाणयोः।।१६।।

कथमसंबन्धः? इत्याह—जन्यात्स्वतोऽलब्धात्मकात्फलादुत्पद्यमानः सञ्शशविषाणादेरिवासतो न हेतुः प्रसिध्यति, जन्म न लभते। अलब्धात्मकोऽप्रसिद्धः सञ्शशविषाणादिकल्पस्तव कथं फलमुत्पादयिष्यति। न हीतरेतरापेक्षसिद्ध्योः शशविषाणकल्पयोः कार्यकारणभावेन संबन्धः क्वचिद्दृष्टः, अन्यथा वेत्यभिप्रायः।।१७।।

असंबन्धतादोषेणापोदितेऽपि हेतुफलयोः कार्यकारणभावे यदि हेतुफलयोरन्योन्यसिद्धिरभ्युपगम्यत एव त्वया कतरत्पूर्वं निष्पन्नं हेतुफलयोर्यस्य पश्चाद्भाविनः सिद्धिः स्यात्पूर्वसिद्ध्यपेक्षया तद्ब्रूहीत्यर्थः।।१८।।

**अशक्तिरपरिज्ञानं क्रमकोपोऽथवा पुनः।**
**एवं हि सर्वथा बुद्धैरजातिः परिदीपिता।।१९।।**

**बीजाङ्कुराख्यो दृष्टान्तः सदा साध्यसमो हि सः।**
**न हि साध्यसमो हेतुः सिद्धौ साध्यस्य युज्यते।।२०।।**

(यदि तू इसे नहीं बता सकता तो) यह असामर्थ्य तुम्हारी मूर्खता ही है। अथवा तुम्हारे बतलाये क्रम का भी फिर अन्यथा-भाव हो जाएगा (अर्थात् इनमें पूर्ववर्ती कारण है और परवर्ती कार्य है यह नियम नहीं रह जाएगा) इस प्रकार एक दूसरे के पक्ष में दोष बतलाने वाले प्रतिपक्षी पण्डितों ने सभी वस्तु की अनुत्पत्ति को ही बतलाया है।।१९।।

जो बीजांकुर नाम दृष्टान्त उक्त विषय में प्रसिद्ध है, वह भी सदा साध्य के समान ही संदिग्ध है और जो हेतु साध्य के सदृश (स्वयं ही संदिग्ध हो) वह साध्य की सिद्धि में उपयोगी नहीं हो सकता।।२०।।

---

अथैतन्न शक्यते वक्तुमिति मन्यसे सेयमशक्तिरपरिज्ञानं तत्त्वाविवेको मूढतेत्यर्थः। अथवा योऽयं त्वयोक्तः क्रमो हेतोः फलस्य सिद्धिः फलाच्च हेतोः सिद्धिरितीतरेतरानन्तर्य-लक्षणस्तस्य कोपो विपर्यासोऽन्यथाभावः स्यादित्यभिप्रायः। एवं हेतुफलयोः कार्यकारणभावानुपपत्तेरजातिः सर्वस्यानुत्पत्तिः परिदीपिता प्रकाशिताऽन्योन्यपक्षदोषं ब्रुवद्भिर्वादिभिर्बुद्धैः पण्डितैरित्यर्थः।।१९।।

ननु हेतुफलयोः कार्यकारणभाव इत्यस्माभिरुक्तं शब्दमात्रमाश्रित्य च्छलमिदं त्वयोक्तं पुत्राज्जन्म पितुर्यथा विषाणवच्चासंबन्ध इत्यादि। न ह्यस्माभिरसिद्धाद्धेतोः फलसिद्धिरसिद्धाद्वा फलाद्धेतुसिद्धिरभ्युपगता। किं तर्हि। बीजाङ्कुरवत्कार्य-कारणभावोऽभ्युपगम्यत इति। अत्रोच्यते—बीजाङ्कुराख्यो दृष्टान्तो यः स साध्येन तुल्यो ममेत्यभिप्रायः। ननु प्रत्यक्षः कार्यकारणभावो बीजाङ्कुरयोरनादिर्न; पूर्वस्य पूर्वस्यापर-भावदादिमत्त्वाभ्युपगमात्। यथेदानीमुत्पन्नोऽपरोऽङ्कुरो बीजादादिमान्बीजं चापरमन्य-स्मादङ्कुरादिति क्रमेणोत्पन्नत्वादादिमत्। एवं पूर्वः पूर्वोऽङ्कुरो बीजं च पूर्वं पूर्व-मादिमदेवेति प्रत्येकं सर्वस्य बीजाङ्कुरजातस्याऽऽदिमत्त्वात्कस्यचिदप्यनादित्वानुपपत्तिः।

एवं हेतुफलानाम्। अथ बीजाङ्कुरसंततेरनादिमत्त्वमिति चेत्। न। एकत्वानुपपत्तेः।

पूर्वापरापरिज्ञानमजातेः परिदीपकम् ।
जायमानाद्धि वै धर्मात्कथं पूर्वं न गृह्यते ।।२१।।

स्वतो वा परतो वाऽपि न किञ्चिद्वस्तु जायते ।
सदसत्सदसद्वाऽपि न किञ्चिद्वस्तु जायते ।।२२।।

हेतु और फल के पूर्वापर का अज्ञान अजातवाद का ही ज्ञापक है क्योंकि यदि कार्य उत्पन्न हुआ होता तो उसका कारण सुनिश्चित रूप से क्यों नहीं गृहीत होता ।।२१।।

अपने से या दूसरे से अथवा दोनों ही से सत् और असत् और सदसद् उभयरूप वाली कोई भी वस्तु उत्पन्न नहीं होती। (जातवाद के संभव सभी पक्षों का निराकरण कर देने पर अजातवाद सुतराम् सिद्ध हो जाता है) ।।२२।।

---

न हि बीजाङ्कुरव्यतिरेकेण बीजाङ्कुरसंततिर्नामैकाऽभ्युपगम्यते हेतुफलसंततिर्वा तदनादित्ववादिभिः। तस्मात्सूक्तं हेतोः फलस्य चानादिः कथं तैरुपवर्ण्यत इति। तथा चान्यदप्यनुपपत्तेर्न च्छलमित्यभिप्रायः। न च लोके साध्यसमो हेतुः साध्यसिद्धौ सिद्धिनिमित्तं प्रयुज्यते प्रमाणकुशलैरित्यर्थः। हेतुरिति दृष्टान्तोऽत्राभिप्रेतो गमकत्वात्। प्रकृतो हि दृष्टान्तो न हेतुरिति ।।२०।।

कथं बुद्धैरजातिः परिदीपितेत्याह—यदेतद्धेतुफलयोः पूर्वापरापरिज्ञानं तच्चैतदजातेः परिदीपकमवबोधकमित्यर्थः। जायमानो हि चेद्धर्मो गृह्यते, कथं तस्मात्पूर्वं कारणं न गृह्यते। अवश्यं हि जायमानस्य ग्रहीत्रा तज्जनकं ग्रहीतव्यम्। जन्यजनकयोः संबन्धस्यानपेतत्वात्। तस्मादजातिपरिदीपकं तदित्यर्थः ।।२१।।

इतश्च न जायते किंचित्। यज्जायमानं वस्तु स्वतः परत उभयतो वा सदसत्सदसद्वा जायते, न तस्य केनचिदपि प्रकारेण जन्म संभवति। न तावत्स्वयमेवापरिनिष्पन्नत्वात्स्वतः स्वरूपात्स्वयमेव जायते यथा घटस्तस्मादेव घटात्। नापि परतोऽन्यस्मादन्यो यथा घटात्पटः पटात्पटान्तरं वा। तथा नोभयतः। विरोधात्। यथा घटपटाभ्यां घटः पटो वा न जायते। ननु मृदो घटो जायते पितुश्च पुत्रः। सत्यम्। अस्ति जायत इति प्रत्ययः शब्दश्च मूढानाम्। तावेव शब्दप्रत्ययौ विवेकिभिः परीक्ष्येते किं सत्यमेव तावुत मृषेति, यावता परीक्ष्यमाणे शब्दप्रत्ययविषयं वस्तु घटपुत्रादिलक्षणं

हेतुर्न जायतेऽनादेः फलं चापि स्वभावतः ।
आदिर्न विद्यते यस्य तस्य ह्यादिर्न विद्यते ।।२३।।

प्रज्ञप्तेः सनिमित्तत्वमन्यथा द्वयनाशतः ।
संक्लेशस्योपलब्धेश्च परतन्त्रास्तिता मता ।।२४।।

अनादि फल से हेतु उत्पन्न नहीं होता और इसी प्रकार अनादि हेतु से फल भी उत्पन्न नहीं होता है, क्योंकि जिस वस्तु का कारण नहीं होता उसका जन्म भी नहीं होता है ।।२३।।

शब्द स्पर्शादि बाह्यार्थवाद की प्रज्ञप्ति को संनिमित्त (बाह्यविषय से युक्त) मानना चाहिये। अन्यथा निर्विषय मानने पर तो (शब्दादि प्रतीति की विचित्रता रूप) द्वैत का अभाव हो जायगा। (अतः ज्ञान में वैचित्र्य के संपादक बाह्य विषय को मानना ही होगा) इसके अतिरिक्त (दाहादि के निमित्त अग्न्यादि से) क्लेश की उपलब्धि से भी अन्य वादियों के शास्त्र प्रतिपादित द्वैत की सत्ता मान ली गई है।।२४।।

---

शब्दमात्रमेव तत्। "वाचारम्भणम्" इति श्रुतेः। सच्चेन्न जायते सत्त्वात्मृत्पिण्डादिवत्। यद्यसत्तथाऽपि न जायतेऽसत्त्वादेव शशविषाणादिवत्। अथ सदसत्तथाऽपि न जायते विरुद्धस्यैकस्यासंभवात्। अतो न किंचिद्वस्तु जायत इति सिद्धम्। येषां पुनर्जनिरेव जायत इति क्रियाकारकफलैकत्वमभ्युगम्यते क्षणिकत्वं च वस्तुनः, ते दूरत एव न्यायापेताः। इदमित्थमित्यवधारणक्षणान्तरानवस्थानादननुभूतस्य स्मृत्यनुपपत्तेश्च ।।२२।।

किं च हेतुफलयोरनादित्वमभ्युपगच्छता त्वया बलाद्धेतुफलयोरजन्मैवाभ्युपगतं स्यात्। कथम्, अनादेरादिरहितात्फलाद्धेतुर्न जायते। न ह्यनुत्पन्नादजादनादेः फलाद्धेतोर्जन्मेष्यते त्वया। फलं चाऽऽदिरहितादनादेर्हेतोरजात्स्वभावत एव निर्निमित्तं जायत इति नाभ्युपगम्यते। तस्मादनादित्वमभ्युपगच्छता त्वया हेतुफलयोरजन्मैवाभ्युपगम्यते। यस्मादादिः कारणं न विद्यते यस्य लोके तस्य ह्यादिः पूर्वोक्ता जातिर्न विद्यते। कारणवत एव ह्यादिरभ्युपगम्यते नाकारणवतः।।२३।।

उक्तस्यैवार्थस्य दृढीकरणचिकीर्षया पुनराक्षिपति—प्रज्ञानं प्रज्ञप्तिः शब्दादिप्रतीतिस्तस्याः सनिमित्तत्वं निमित्तं कारणं विषय इत्येतत्सनिमित्तत्वं सविषयत्वम्। स्वात्मव्यतिरिक्तविषयतेत्येतत्प्रतिजानीमहे। न हि निर्विषया प्रज्ञप्तिः शब्दादिप्रतीतिः

प्रज्ञप्तेः सनिमित्तत्वमिष्यते युक्तिदर्शनात् ।
निमित्तस्यानिमित्तत्वमिष्यते भूतदर्शनात् ।।२५।।

पूर्वोक्त तर्कों के अनुसार प्रज्ञान में सविषयत्व भले ही तुम मान लो, परन्तु तत्त्व-दृष्टि से विचारशील हम लोग प्रज्ञान के निमित्त शब्दादि को वास्तव में निमित्त नहीं मानते ।।२५।।

---

स्यात्। तस्याः सनिमित्तत्वात्। अन्यथा निर्विषयत्वे शब्दस्पर्शनीलपीतलोहितादिप्रत्ययवैचित्र्यस्य द्वयस्य नाशतो नाशोऽभावः प्रसज्येतेत्यर्थः। न च प्रत्ययवैचित्र्यस्य द्वयस्याभावोऽस्ति प्रत्यक्षत्वात्। अतः प्रत्ययवैचित्र्यस्य द्वयस्य दर्शनात्। परेषां तन्त्रं परतन्त्रमित्यन्यशास्त्रं तस्य परतन्त्रस्य परतन्त्राश्रयस्य बाह्यार्थस्य ज्ञानव्यतिरिक्तस्यास्तिता मताऽभिप्रेता। न हि प्रज्ञप्तेः प्रकाशमात्रस्वरूपाया नीलपीतादिबाह्यालम्बनवैचित्र्यमन्तरेण स्वभावभेदेनैव वैचित्र्यं संभवति। स्फटिकस्येव नीलाद्युपाध्याश्रयैर्विना वैचित्र्यं न घटत इत्यभिप्रायः। इतश्च परतन्त्राश्रयस्य बाह्यार्थस्य ज्ञानव्यतिरिक्तस्यास्तिता। संक्लेशनं संक्लेशो दुःखमित्यर्थः। उपलभ्यते ह्यग्निदाहादिनिमित्तं दुःखं यद्यग्न्यादिबाह्यं दाहादिनिमित्तं विज्ञानव्यतिरिक्तं न स्यात्ततो दाहादिदुःखं नोपलभ्येत। उपलभ्यते तु, अतस्तेन मन्यामहेऽस्ति बाह्योऽर्थ इति। न हि विज्ञानमात्रे संक्लेशो युक्तः, अन्यत्रादर्शनादित्यभिप्रायः।।२४।।

अत्रोच्यते—बाढमेवं प्रज्ञप्तेः सनिमित्तत्वं द्वयसंक्लेशोपलब्धियुक्तिदर्शनादिष्यते त्वया। स्थिरीभव तावत्त्वं, युक्तिदर्शनं वस्तुनस्तथात्वाभ्युपगमे कारणमित्यत्र ब्रूहि किं तत् इति। उच्यते। निमित्तस्य प्रज्ञप्त्यालम्बनाभिमतस्य घटादेरनिमित्तत्वमनालम्बनत्वं वैचित्र्याहेतुत्वमिष्यतेऽस्माभिः, कथं, भूतदर्शनात्परमार्थदर्शनादित्येतत्। न हि घटो यथाभूतमृद्रूपदर्शने सति तद्व्यतिरेकेणास्ति। यथाऽश्वान्महिषः। पटो वा तन्तुव्यतिरेकेण। तन्तवश्चांशुव्यतिरेकेणेत्येवमुत्तरोत्तरभूतदर्शने आ शब्दप्रत्ययनिरोधान्नैव निमित्तमुपलभामहे इत्यर्थः। अथवा अभूतदर्शनाद्बाह्यार्थस्यानिमित्तत्वमिष्यते। रज्ज्वादाविव सर्पादेरित्यर्थः। भ्रान्तिदर्शनविषयत्वाच्च निमित्तस्यानिमित्तत्वं भवेत्। तदभावेऽभानात्। न हि सुषुप्तसमाहितमुक्तानां भ्रान्तिदर्शनाभाव आत्मव्यतिरिक्तो बाह्योऽर्थ उपलभ्यते। न ह्युन्मत्तावगतं वस्त्वनुन्मत्तैरपि तथाभूतं गम्यते। एतेन द्वयदर्शनं संक्लेशोपलब्धिश्च प्रत्युक्ता ।।२५।।

चित्तं न संस्पृशत्यर्थं नार्थाभासं तथैव च।
अभूतो हि यतश्चार्थो नार्थाभासस्ततः पृथक् ।।२६।।

निमित्तं न सदा चित्तं संस्पृशत्यध्वसु त्रिषु।
अनिमित्तो विपर्यासः कथं तस्य भविष्यति।।२७।।

तस्मान्न जायते चित्तं चित्तदृश्यं न जायते।

(स्वप्नचित्त के समान बाह्य) किसी पदार्थ को चित्त स्पर्श नहीं करता, वैसे ही अर्थाभास को भी ग्रहण नहीं करता, क्योंकि स्वप्न के समान जाग्रत् में भी शब्दादि बाह्य विषय है नहीं और न चित्त से पृथक् पदार्थाभास ही है।।२६।।

(अतीत, अनागत और वर्तमान) इन तीनों अवस्थाओं में चित्त कभी भी विषय को स्पर्श नहीं करता। अतः बिना निमित्त के ही उस चित्त को विपरीत ज्ञान कैसे हो सकेगा (अर्थात् चित्त को किसी प्रकार का विपरीत ज्ञान है ही नहीं) ।।२७।।

अतः (जिस प्रकार) चित्त का दृश्य उत्पन्न नहीं होता (उसी प्रकार) चित्त भी उत्पन्न

---

यस्मान्नास्ति बाह्यं निमित्तमतश्चित्तं न संस्पृश्यत्यर्थं बाह्यालम्बनविषयम्। नाप्यर्थाभासं चित्तत्वात्स्वप्नचित्तवत्। अभूतो हि जागरितेऽपि स्वप्नार्थवदेव बाह्यः शब्दाद्यर्थो यत उक्तहेतुत्वाच्च। नाप्यर्थाभासश्चित्तात्पृथक्चित्तमेव हि घटाद्यर्थवदवभासते यथा स्वप्ने ।।२६।।

ननु विपर्यासस्तर्ह्यसति घटादौ घटाद्याभासता चित्तस्य। तथा च सत्य विपर्यासः क्वचिद्वक्तव्य इति। अत्रोच्यते। निमित्तं विषयमतीतानागतवर्तमानाध्वसु त्रिष्वपि सदा चित्तं न संस्पृशेदेव। यदि हि क्वचित्संस्पृशेत्सोऽविपर्यासः परमार्थत इति। अतस्तदपेक्ष्याऽसति घटे घटाभासता विपर्यासः स्यान्न तु तदस्ति कदाचिदपि चित्तस्यार्थसंस्पर्शनम्। तस्मादनिमित्तो विपर्यासः कथं तस्य चित्तस्य भविष्यति, न कथंचिद्विपर्यासोऽस्तीत्यभिप्रायः। अयमेव हि स्वभावश्चित्तस्य यदुतासति निमित्ते घटादौ तद्वदवभासनम्।।२७।।

प्रज्ञप्तेः सनिमित्तत्वमित्याद्येतदन्तं विज्ञानवादिनो बौद्धस्य वचनं बाह्यार्थवादिपक्षप्रतिषेधपरमाचार्येणानुमोदितम्। तदेव हेतुं कृत्वा तत्पक्षप्रतिषेधाय तदिदमुच्यते

तस्य पश्यन्ति ये जातिं खे वै पश्यन्ति ते पदम्।।२८।।

अजातं जायते यस्मादजातिः प्रकृतिस्ततः।
प्रकृतेरन्यथाभावो न कथंचिद्भविष्यति।।२९।।

अनादेरन्तवत्त्वं च संसारस्य न सेत्स्यति।

नहीं होता। जो लोग चित्त का जन्म देखते हैं, वे निश्चय ही आकाश में पक्षी आदि के चरण चिह्न देखते हैं।।२८।।

क्योंकि अजात (ब्रह्मरूप चित्त) ही उत्पन्न होता है (ऐसी कल्पना वादियों ने की है) इसलिए अजाति उस चित्त का स्वभाव है और स्वभाव के विपरीत भाव किसी प्रकार भी नहीं होता।।२९।।

अनादि संसार का अन्त होना युक्ति से सिद्ध नहीं हो सकेगा (लोक में कोई भी अनादि

---

तस्मादित्यादि। यस्मादसत्येव घटादौ घटाद्याभासता चित्तस्य विज्ञानवादिनाऽभ्युपगता तदनुमोदितमस्माभिरपि भूतदर्शनात्। तस्मात्तस्यापि चित्तस्य जायमानाऽवभासताऽसत्येव जन्मनि युक्ता भवितुमित्यतो न जायते चित्तम्। यथा चित्तदृश्यं न जायतेऽतस्तस्य चित्तस्य ये जातिं पश्यन्ति विज्ञानवादिनः क्षणिकत्वदुःखित्वशून्यत्वानात्मत्वादि च, तेनैव चित्तेन चित्तस्वरूपं द्रष्टुमशक्यं पश्यन्तः खे वै पश्यन्ति ते पदं पक्ष्यादीनाम्। अत इतरेभ्योऽपि द्वैतिभ्योऽत्यन्तसाहसिका इत्यर्थः। येऽपि शून्यवादिनः पश्यन्त एव सर्वशून्यतां स्वदर्शनस्यापि शून्यतां प्रतिजानते ते ततोऽपि साहसिकतराः खं मुष्टिनाऽपि जिघृक्षन्ति।।२८।।

उक्तैर्हेतुभिरजमेकं ब्रह्मेति सिद्धम्, यत्पुनरादौ प्रतिज्ञातं तत्फलोपसंहारार्थोऽयं श्लोकः। अजातं यच्चित्तं ब्रह्मैव जायत इति वादिभिः परिकल्प्यते, तदजातं जायते यस्मादजातिः प्रकृतिस्तस्य ततस्तस्मादजातरूपायाः प्रकृतेरन्यथाभावो जन्म न कथंचिद्भविष्यति।।२९।।

अयं चापर आत्मनः संसारमोक्षयोः परमार्थसद्भाववादिनां दोष उच्यते। अनादेरतीतकोटिरहितस्य संसारस्यान्तवत्त्वं समाप्तिर्न सेत्स्यति युक्तितः सिद्धिं नोपयास्यति। न ह्यनादिः सन्नन्तवान्कश्चित्पदार्थो दृष्टो लोके। बीजाङ्कुरसंबन्धनैरन्तर्यविच्छेदो दृष्ट इति

अनन्तता चाऽऽदिमतो मोक्षस्य न भविष्यति।।३०।।

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा।
वितथैः सदृशाः सन्तोऽवितथा इव लक्षिताः।।३१।।

सप्रयोजनता तेषां स्वप्ने विप्रतिपद्यते।
तस्मादाद्यन्तवत्त्वेन मिथ्यैव खलु ते स्मृताः।।३२।।

सर्वे धर्मा मृषा स्वप्ने कायस्यान्तर्निदर्शनात्।
संवृतेऽस्मिन्प्रदेशे वै भूतानां दर्शनं कुतः।।३३।।

भाव वस्तु अन्त वाली नहीं देखी गयी, वैसे ही विज्ञान काल में) उत्पन्न होने वाले मोक्ष की अनन्तता भी नहीं सिद्ध सकेगी (क्योंकि अन्य घटादि में अनन्तता नहीं देखी गयी है)।।३०।।

जो वस्तु आदि और अन्त में असद् रूप है वह वर्तमान में भी असद् ही मानी जाती है। मृगतृष्णिकादि असद् वस्तुओं के समान होते हुए भी अनात्मा-पुरुषों द्वारा वे सद्रूप में समझे जाते हैं।।३१।।

जाग्रत् के पदार्थों में सप्रयोजनता नहीं कह सकते, क्योंकि स्वप्न में उसके विपरीत देखा जाता है, (अर्थात् स्वप्न की वस्तु से जाग्रत् में काम नहीं चलता और जाग्रत् की वस्तु से स्वप्न में काम नहीं चलता) अतएव आद्यन्तवत्त्व हेतु से निश्चय ही वे दोनों अवस्था के पदार्थ मिथ्या माने गये हैं।।३२।।

शरीर के भीतर देखने के कारण जब स्वप्नावस्था में सभी पदार्थ मिथ्या हैं तो भला इस संकुचित निरवकाश ब्रह्मरूप स्थान में भूतों का दर्शन पारमार्थिक कैसे हो सकता है।।३३।।

---

चेत् न, एकवस्त्वभावेनापोदितत्वात्। तथाऽनन्तताऽपि विज्ञानप्राप्तिकालप्रभवस्य मोक्षस्याऽऽदिमतो न भविष्यति। घटादिष्वदर्शनात्। घटादिविनाशवदवस्तुत्वाददोष इति चेत्। तथा च सति मोक्षस्य परमार्थसद्भावप्रतिज्ञाहानिः। असत्त्वादेव शशविषाणस्येवाऽऽदिमत्त्वाभावश्च।।३०।।

वैतथ्ये कृतव्याख्यानौ श्लोकाविह संसारमोक्षाभावप्रसङ्गेन पठितौ ।।३१।।३२।।

निमित्तस्यानिमित्तत्वमिष्यते भूतदर्शनादित्ययमर्थः प्रपञ्च्यत एतैः श्लोकैः।।३३।।

न युक्तं दर्शनं गत्वा कालस्यानियमाद्गतौ।
प्रतिबुद्धश्च वै सर्वस्तस्मिन्देशे न विद्यते।।३४।।

मित्राद्यैः सह संमन्त्र्य संबुद्धो न प्रपद्यते।
गृहीतं चापि यत्किंचित्प्रतिबुद्धो न पश्यति।।३५।।

स्वप्ने चावस्तुकः कायः पृथगन्यस्य दर्शनात्।
यथा कायस्तथा सर्वं चित्तदृश्यमवस्तुकम्।।३६।।

ग्रहणाज्जागरितवत्तद्धेतुः स्वप्न इष्यते।

(जाग्रत् में गमनागमन के लिए समय नियत है किन्तु स्वप्नावस्था में) काल का नियम न होने के कारण पदार्थों के पास जाकर देखना संभव नहीं है। इसके सिवा जागने पर कोई भी पुरुष स्वप्न वाले देश में विद्यमान नहीं रहता है।।३४।।

मित्रादि के पास मन्त्रणा करके स्वप्न से जगा हुआ पुरुष पुनः उसी मन्त्रणा को पाता नहीं और (उसने स्वप्न में हिरण्यादि) जो कुछ भी ग्रहण किया था, उसे भी जागने पर देखता नहीं।।३५।।

क्योंकि उससे भिन्न एक अन्य शरीर (शय्या पर पड़ा हुआ) देखा जाता है, जैसे वह शरीर असत् है, वैसे ही जाग्रदवस्था के सारे चित्त दृश्य असत् हैं।।३६।।

जाग्रत् के सदृश (ग्राह्यग्राहक रूप में) स्वप्न का ग्रहण होने के कारण स्वप्न जाग्रत्

---

जागरिते गत्यागमनकालो नियतो देशः प्रमाणतो यस्तस्यानियमान्नियमस्याभावात्स्वप्ने न देशान्तरगमनमित्यर्थः।।३४।।

मित्राद्यैः सह संमन्त्र्य तदेव मन्त्रणं प्रतिबुद्धो न प्रपद्यते। गृहीतं च यत्किंचिद्धिरण्यादि न प्राप्नोति। अतश्च न देशान्तरं गच्छति स्वप्ने ।।३५।।

स्वप्ने चाटन्दृश्यते यः कायः सोऽवस्तुकस्ततोऽन्यस्य स्वापदेशस्थस्य पृथक्कायान्तरस्य दर्शनात्। यथा स्वप्नदृश्यः कायोऽसंस्तथा सर्वं चित्तदृश्यमवस्तुकं जागरितेऽपि चित्तदृश्यत्वादित्यर्थः। स्वप्नसमत्वादसज्जागरितमपीति प्रकरणार्थः।।३६।।

इतश्चासत्त्वं जाग्रद्वस्तुनो, जागरितवज्जागरितस्येव ग्रहणाद्ग्राह्यग्राहकरूपेण

तद्धेतुत्वात्तु तस्यैव सज्जागरितमिष्यते।।३७।।

उत्पादस्याप्रसिद्धत्वादजं सर्वमुदाहृतम्।
न च भूतादभूतस्य संभवोऽस्ति कथंचन।।३८।।

असज्जागरिते दृष्ट्वा स्वप्ने पश्यति तन्मयः।

का कार्य माना जाता है, परन्तु जाग्रत् का कार्य होने से स्वप्नद्रष्टा के लिये ही जाग्रदवस्था सत्य मानी गयी है (औरों के लिये नहीं)।।३७।।

उत्पत्ति के प्रसिद्ध न होने के कारण सम्पूर्ण प्रपञ्च अजन्मा आत्मस्वरूप ही कहा गया है। सत् जाग्रत् से मिथ्या स्वप्न की उत्पत्ति माननी ठीक नहीं क्योंकि सद्वस्तु से असद् शशशृङ्गादि की उत्पत्ति किसी प्रकार हो ही नहीं सकती।।३८।।

जीव जाग्रत् काल में (रज्जु सर्प के समान कल्पित) असद् पदार्थों को देखकर उनके संस्कार के साथ तन्मय हो स्वप्न में उन्हें देखता है तथा स्वप्न में भी असद् पदार्थों को

---

स्वप्नस्य तज्जागरितं हेतुरस्य स्वप्नस्य स स्वप्नस्तद्धेतुर्जागरितकार्यमिष्यते। तद्धेतुत्वाज्जागरितकार्यत्वात्तस्यैव स्वप्नदृश एव सज्जागरितं न त्वन्येषाम्। यथा स्वप्न इत्यभिप्रायः। यथा स्वप्नः स्वप्नदृश एव सन्साधारणविद्यमानवस्तुवदवभासते तथा तत्कारणत्वात्साधारणविद्यमानवस्तुवदवभासमानं न तु साधारणं विद्यमानवस्तु स्वप्नवदेवेत्यभिप्रायः।।३७।।

ननु स्वप्नकारणत्वेऽपि जागरितवस्तुनो न स्वप्नवदवस्तुत्वम्। अत्यन्तचलो हि स्वप्नो जागरितं तु स्थिरं लक्ष्यते। सत्यमेवमविवेकिनां स्यात्। विवेकिनां तु न कस्यचिद्वस्तुन उत्पादः प्रसिद्धोऽप्रसिद्धत्वादुत्पादस्याऽऽत्मैव सर्वमित्यजं सर्वमुदाहृतं वेदान्तेषु सबाह्याभ्यन्तरो ह्यज इति। यदपि मन्यसे जागरितात्सतोऽसत्स्वप्नो जायत इति तदसत्। न भूताद्विद्यमानादभूतस्यासतः संभवोऽस्ति लोके। न ह्यसतः शशविषाणादेः संभवो दृष्टः कथंचिदपि।।३८।।

ननूक्तं त्वयैव स्वप्नो जागरितकार्यमिति तत्कथमुत्पादोऽप्रसिद्ध इत्युच्यते। शृणु तत्र यथा कार्यकारणभावोऽस्माभिरभिप्रेत इति। असदविद्यमानं रज्जुसर्पवद्विकल्पितं वस्तु जागरिते दृष्ट्वा तद्भावभावितस्तन्मयः स्वप्नेऽपि जागरितवद्ग्राह्यग्राहकरूपेण

असत्स्वप्नेऽपि दृष्ट्वा च प्रतिबुद्धो न पश्यति।।३९।।

नास्त्यसद्धेतुकमसत्सदसद्धेतुकं तथा।
सच्च सद्धेतुकं नास्ति, सद्धेतुकमसत्कुतः।।४०।।

विपर्यासाद्यथा जाग्रदचिन्त्यान्भूतवत्स्पृशेत्।
तथा स्वप्ने विपर्यासाद्धर्मांस्तत्रैव पश्यति।।४१।।

देखकर जगा हुआ पुरुष उन्हें नहीं देखता (बस! इतने मात्र से जाग्रत् को कारण और स्वप्न को कार्य कहा गया है)।।३९।।

(आकाश पुरुष के सदृश) न असत् पदार्थ ही असत् कारण वाला है और न घटादि सत् कारण वाला है और न घटादि सत् पदार्थ ही असत् कारण वाला है। वैसे ही सत् पदार्थ भी सत् कारण वाला नहीं है, तो भला असत् पदार्थ सत् कारण वाला कैसे हो सकता है।।४०।।

जैसे कोई मनुष्य भ्रान्ति से जाग्रतकालीन रज्जु-सर्पादि अचिन्त्य पदार्थों को परमार्थ की भाँति ग्रहण करता है, वैसे ही स्वप्न में भी भ्रम से ही स्वप्नावस्था में ही स्वप्नकालीन पदार्थों को देखता है, (जाग्रत् से उत्पन्न होते हुए नहीं देखता)।।४१।।

---

विकल्पयन्पश्यति तथाऽसत्स्वप्नेऽपि दृष्ट्वा च प्रतिबुद्धो न पश्यत्यविकल्पयन्। चशब्दात्तथा जागरितेऽपि दृष्ट्वा स्वप्ने न पश्यति कदाचिदित्यर्थः। तस्माज्जागरितं स्वप्नहेतुरुच्यते न तु परमार्थसदिति कृत्वा।।३९।।

परमार्थतस्तु न कस्यचित्केनचिदपि प्रकारेण कार्यकारणभाव उपपद्यते। कथम्? नास्त्यसद्धेतुकमसच्छशविषाणादि हेतुः कारणं यस्यासत एव खकुसुमादेस्तदसद्धेतुकमसन्न विद्यते। तथा सदपि घटादिवस्तु असद्धेतुकं शशविषाणादिकार्यं नास्ति। तथा सच्च विद्यमानं घटादि विद्यमानघटादिवस्त्वन्तरकार्यं नास्ति। सत्कार्यमसत्कुत एव संभवति। न चान्यः कार्यकारणभावः संभवति शक्यो वा कल्पयितुम्। अतो विवेकिनामसिद्ध एव कार्यकारणभावः कस्यचिदित्यभिप्रायः।।४०।।

### चतुर्थमाह्निकम्

पुनरपि जाग्रत्स्वप्नयोरसतोरपि कार्यकारणभावाशङ्कामपनयन्नाह। विपर्यासादविवेकतो यथा जाग्रज्जागरितेऽचिन्त्यान्भावानशक्यचिन्तनीयान्रज्जुसर्पादीन्भूतवत्परमार्थवत्स्पृ-

उपलम्भात्समाचारादस्तिवस्तुत्ववादिनाम् ।
जातिस्तु देशिता बुद्धैरजातेस्त्रसतां सदा।।४२।।

अजातेस्त्रसतां तेषामुपलम्भाद्वियन्ति ये।
जातिदोषा न सेत्स्यन्ति दोषोऽप्यल्पो भविष्यति।।४३।।

पदार्थों की उपलब्धि और (वर्णाश्रमादि धर्मों के) सम्यक् आचरण से जो लोग पदार्थों की सत्ता मानते हैं और अजातवाद से डरते भी हैं ऐसे लोगों के लिये ही अद्वैतवादी विद्वानों ने (अद्वैत में प्रवेश कराने के लिये) जाति का उपदेश किया है।।४२।।

द्वैत पदार्थों की उपलब्धि (और वर्णाश्रमादि के आचारों) के कारण जो अजातवाद से डरते हैं और द्वैत मान कर अद्वय आत्मा से विरुद्ध मार्ग में चलते हैं, ऐसे (श्रद्धालु और सन्मार्गावलम्बी) के लिये जाति दोष सिद्ध नहीं हो सकते, (क्योंकि वे विवेक मार्ग में प्रवृत्त हैं और यदि होगा तो सम्यक् दर्शन की अप्राप्ति के कारण होने वाला) दोष स्वल्प ही होगा।।४३।।

---

शन्निव विकल्पयेदित्यर्थः कश्चिद्यथा, तथा स्वप्ने विपर्यासाद्धस्त्यादीन्धर्मान्पश्यन्निव विकल्पयति तत्रैव पश्यति न तु जागरितादुत्पद्यमानानित्यर्थः।।४१।।

याऽपि बुद्धैरद्वैतवादिभिर्जातिर्देशितोपदिष्टा। उपलम्भनमुपलम्भस्तस्मादुपलब्धेरित्यर्थः। समाचाराद्वर्णाश्रमादिधर्मसमाचरणात्। ताभ्यां हेतुभ्यामस्तिवस्तुत्ववादिनामस्ति वस्तुभाव इत्येवंवदनशीलानां दृढाग्रहवतां श्रद्दधानानां मन्दविवेकिनामर्थोपायत्वेन सा देशिता जातिः। तां गृह्णन्तु तावत्। वेदान्ताभ्यासिनां तु स्वयमेवाजाद्वयात्मविषयो विवेको भविष्यतीति न तु परमार्थबुद्ध्या। ते हि श्रोत्रियाः स्थूलबुद्धित्वादजातेरजातिवस्तुनः सदा त्रस्यन्त्यात्मनाशं मन्यमाना अविवेकिन इत्यर्थः। उपायः सोऽवतारायेत्युक्तम्।।४२।।

ये चैवमुपलम्भात्समाचाराच्चाजातेरजातिवस्तुनस्त्रसन्तोऽस्ति वस्त्वित्यद्वयादात्मनो वियन्ति विरुद्धं यन्ति द्वैतं प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः। तेषामजातेस्त्रसतां श्रद्दधानानां सन्मार्गावलम्बिनां जातिदोषा जात्युपलम्भकृता दोषा न सेत्स्यन्ति सिद्धिं नोपयास्यन्ति। विवेकमार्गप्रवृत्तत्वात्। यद्यपि कश्चिद्दोषः स्यात्सोऽप्यल्प एव भविष्यति। सम्यग्दर्शनाप्रतिपत्तिहेतुक इत्यर्थः।।४३।।

उपलम्भात्समाचारान्मायाहस्ती यथोच्यते।
उपलम्भात्समाचारादस्ति वस्तु तथोच्यते ।।४४।।

जात्याभासं चलाभासं वस्त्वाभासं तथैव च।
अजाचलमवस्तुत्वं विज्ञानं शान्तमद्वयम्।।४५।।

एवं न जायते चित्तमेवं धर्मा अजाः स्मृताः।

जिस प्रकार उपलब्धि और आचरण के कारण मायाजनित हाथी भी हाथी ही कहा जाता है, उसी प्रकार उपलब्धि और आचरण के कारण भेदरूप द्वैत वस्तु है, ऐसा केवल कहा जाता है (वस्तुतः ये दोनों द्वैत वस्तु के सद्भाव के कारण नहीं है)।।४४।।

(अजाति होता हुआ भी जातिवत् प्रतीत होने से) जिसे जात्याभास कहते हैं (अचल होते हुए जो) चल के समान प्रतीत होता है, (द्रव्य न होते हुए भी) वस्तु के समान भासता है, (वह परमार्थतः) अज, अचल और अवस्तु रूप शान्त एवं अद्वितीय विज्ञान ही है।।४५।।

इस प्रकार उक्त हेतुओं से चित्त उत्पन्न नहीं होता। अतएव ब्रह्मज्ञानियों ने जीवात्मा

---

ननूपलम्भसमाचारयोः प्रमाणत्वादस्त्येव द्वैतं वस्त्विति। न। उपलम्भसमाचारयोर्व्यभिचारात्। कथं व्यभिचार इत्युच्यते। उपलभ्यते हि मायाहस्ती हस्तीव हस्तिनमिवात्र समाचरन्ति बन्धनारोहणादिहस्तिसंबन्धिभिर्धर्मैर्हस्तीति चोच्यतेऽसन्नपि यथा। तथैवोपलम्भात् समाचाराद्द्वैतं भेदरूपमस्ति वस्त्वित्युच्यते। तस्मान्नोपलम्भसमाचारौ द्वैतवस्तुसद्भावे हेतूभवत इत्यभिप्रायः।।४४।।

किं पुनः परमार्थसद्वस्तु यदास्पदा जात्याद्यसद्बुद्धय इत्यत आह। अजाति सज्जातिवदवभासत इति जात्याभासम्। तद्यथा देवदत्तो जायत इति। चलाभासं चलमिवाऽऽभासत इति। यथा स एव देवदत्तो गच्छतीति। वस्त्वाभासं वस्तु द्रव्यं धर्मि तद्वदवभासत इति वस्त्वाभासम्। यथा स एव देवदत्तो गौरो दीर्घ इति। जायते देवदत्तः स्पन्दते दीर्घो गौर इत्येवमवभासते। परमार्थतस्त्वजमचलमवस्तुत्वमद्रव्यं च। किं तदेवंप्रकारं विज्ञानं विज्ञप्तिः। जात्यादिरहितत्वाच्छान्तम्। अत एवाद्वयं च तदित्यर्थः।।४५।।

एवं यथोक्तेभ्यो हेतुभ्यो न जायते चित्तमेवं धर्मा आत्मानोऽजाः स्मृता ब्रह्मविद्भिः। धर्मा इति बहुवचनं देहभेदानुविधायित्वादद्वयस्यैवोपचारतः। एवमेव यथोक्तं विज्ञानं

एवमेव विजानन्तो न पतन्ति विपर्यये।।४६।।

ऋजुवक्रादिकाभासमलातस्पन्दितं यथा।
ग्रहणग्राहकाभासं विज्ञानस्पन्दितं तथा।।४७।।

अस्पन्दमानमालातमनाभासमजं यथा।
अस्पन्दमानं विज्ञानमनाभासमजं तथा।।४८।।

अलाते स्पन्दमाने वै नाऽऽभासा अन्यतोभुवः।

को अजन्मा माना है। ऐसे जानने वाले लोग ही भ्रान्ति में नहीं पड़ते।।४६।।

जिस प्रकार जलती हुई बनैती का घूमना ही (लोक में) सीधे टेढ़े रूपों में भासता है वैसे ही अविद्या के कारण स्पन्दन होता हुआ भी विज्ञान का स्पन्द ही ग्रहण और ग्राहकादि रूपों में प्रतीत होता है।।४७।।

जैसे स्पन्दन से रहित अलात (ऋजु वक्रादि आकारों में भासित न होने के कारण) अनाभास और अज है, वैसे ही (अविद्या से प्रतीत होने वाला विज्ञान स्पन्दन अविद्या के निवृत्त होते ही) स्पन्दन रहित विज्ञान भी अज और अचल हो जाता है।।४८।।

अलात के स्पन्दित होने पर (सीधे टेढ़े आदि आकारों में) आभास कहीं अन्यत्र

---

जात्यादिरहितमद्वयमात्मतत्त्वं विजानन्तस्त्यक्तबाह्यैषणाः पुनर्न पतन्त्यविद्याध्वान्तसागरे विपर्यये। "तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" इत्यादिमन्त्रवर्णात्।।४६।।

यथोक्तं परमार्थदर्शनं प्रपञ्चयिष्यन्नाह—यथा हि लोके ऋजुवक्रादिप्रकाराभासमलातस्पन्दितमुल्काचलनं तथा ग्रहणग्राहकाभासं विषयिविषयाभासमित्यर्थः। किं तद्विज्ञानस्पन्दितम्। स्पन्दितमिव स्पन्दितमविद्यया। न ह्यचलस्य विज्ञानस्य स्पन्दनमस्ति। अजाचलमिति ह्युक्तम्।।४७।।

अस्पन्दमानं स्पन्दनवर्जितं तदेवालातमृज्वाद्याकारेणाजायमानमनाभासमजं यथा तथाऽविद्यया स्पन्दमानमविद्योपरमेऽस्पन्दमानं जात्याद्याकारेणानाभासमजमचलं भविष्यतीत्यर्थः।।४८।।

किं च तस्मिन्नेवालाते स्पन्दमाने ऋजुवक्राद्याभासा अलातादन्यतः कुतश्चिदागत्यालाते

न ततोऽन्यत्र निस्पन्दान्नालातं प्रविशन्ति ते।।४९।।

न निर्गता अलातात्ते द्रव्यत्वाभावयोगतः।
विज्ञानेऽपि तथैव स्युराभासस्याविशेषतः।।५०।।

कथं तुल्यत्वमित्याह—

विज्ञाने स्पन्दमाने वै नाऽऽभासा अन्यतोभुवः।
न ततोऽन्यत्र निस्पन्दान्न विज्ञानं विशन्ति ते।।५१।।

न निर्गतास्ते विज्ञानादद्रव्यत्वाभावयोगतः।

से नहीं उपस्थित हो जाते और न स्पन्दरहित अलात में ही प्रवेश करते हैं।।४९।।

वस्तुत्व का अभाव होने से वे (घर से निकलने के समान) अलात से भी नहीं निकले हैं। ठीक ऐसे ही आभास की समानता होने से विज्ञान के विषय में भी समझना चहिये।।५०।।

विज्ञान के स्पन्दित होने पर भी ऋजु वक्रादि आभास कहीं अन्यत्र से नहीं आते तथा उसके स्पन्द रहित होने पर कहीं अन्यत्र नहीं चले जाते और न वे विज्ञान में ही प्रवेश करते हैं।।५१।।

वस्तुत्व के अभाव होने से वे जीव विज्ञान से भी नहीं निकलते हैं क्योंकि कार्यकारणभाव

---

नैव भवन्तीति नान्यतोभुवः। न च तस्मान्निस्पन्दादलातादन्यत्र निर्गताः। न च निस्पन्दमलातमेव प्रविशन्ति ते।।४९।।

किंच न निर्गता अलातात्त आभासा गृहादिव द्रव्यत्वाभावयोगतः। द्रव्यस्य भावो द्रव्यत्वम्। तदभावो द्रव्यत्वाभावः। द्रव्यत्वाभावयोगतो द्रव्यत्वाभावयुक्तेर्वस्तुत्वाभावादित्यर्थः। वस्तुनो हि प्रवेशादि संभवति नावस्तुनः। विज्ञानेऽपि जात्याद्याभासास्तथैव स्युराभासस्याविशेषतस्तुल्यत्वात्।।५०।। — चतुर्थमाह्निकम् —

अलातेन समानं सर्वं विज्ञानस्य। सदाऽचलत्वं तु विज्ञानस्य विशेषः। जात्याद्याभासा विज्ञानेऽचले किंकृता इत्याह। कार्यकारणताभावाज्जन्यजनकत्वानुपपत्तेरभावरूपत्वा-

कार्यकारणताभावाद्यतोऽचिन्त्याः सदैव ते।।५२।।

द्रव्यं द्रव्यस्य हेतुः स्यादन्यदन्यस्य चैव हि।
द्रव्यत्वमन्यभावो वा धर्माणां नोपपद्यते।।५३।।

एवं न चित्तजा धर्माश्चित्तं वाऽपि न धर्मजम्।
एवं हेतुफलाजातिं प्रविशन्ति मनीषिणः।।५४।।

के न होने के कारण वे जात्याभासादि सदा ही अनिर्वचनीय हैं।।५२।।

अन्य द्रव्य ही अन्य द्रव्य का कारण हो सकता है (न कि उस द्रव्य का वही कारण और जो वस्तु द्रव्य नहीं है वह किसी का स्वतन्त्र कारण होता लोक में देखा नहीं गया है) आत्माओं में द्रव्यत्व और अन्यत्व सम्भव नहीं है (अतः उनमें कारणत्व भी नहीं)।।५३।।

इस प्रकार उक्त हेतुओं से बाह्य पदार्थ चित्त से उत्पन्न नहीं हुए हैं और न आत्मविज्ञान स्वरूप चित्त ही बाह्य पदार्थों से उत्पन्न हुआ है। (क्योंकि सभी पदार्थ चित्त के आभास मात्र हैं) अतः मनीषी हेतु और फल की अनुत्पत्ति का ही निश्चय करते हैं।।५४।।

---

दचिन्त्यास्ते यतः सदैव। यथाऽसत्स्वृज्वाद्याभासेषु ऋज्वादिबुद्धिर्दृष्टाऽलातमात्रे, तथाऽसत्स्वेव जात्यादिषु विज्ञानमात्रे जात्यादिबुद्धिर्मृषैवेति समुदायार्थः।।५१।।५२।।

अजमेकमात्मतत्त्वमिति स्थितं, तत्र यैरपि कार्यकारणभावः कल्प्यते तेषां द्रव्यं द्रव्यस्यान्यस्यान्यद्धेतुः कारणं स्यान्न तु तस्यैव तत्। नाप्यद्रव्यं कस्यचित्कारणं स्वतन्त्रं दृष्टं लोके। न च द्रव्यत्वं धर्माणामात्मनामुपपद्यतेऽन्यत्वं वा कुतश्चिद्येनान्यस्य कारणत्वं कार्यत्वं वा प्रतिपद्येत। अतोऽद्रव्यत्वादनन्यत्वाच्च न कस्यचित्कार्यं कारणं वाऽऽत्मेत्यर्थः।।५३।।

एवं यथोक्तेभ्यो हेतुभ्य आत्मविज्ञानस्वरूपमेव चित्तमिति न चित्तजा बाह्यधर्मा नापि बाह्यधर्मजं चित्तं विज्ञानस्वरूपाभासमात्रत्वात्सर्वधर्माणाम्। एवं न हेतोः फलं जायते नापि फलाद्धेतुरिति हेतुफलयोरजातिं हेतुफलाजातिं प्रविशन्त्यध्यवस्यन्ति। आत्मनि हेतुफलयोरभावमेव प्रतिपद्यन्ते ब्रह्मविद इत्यर्थः।।५४।।

यावद्धेतुफलावेशस्तावद्धेतुफलोद्भवः।
क्षीणे हेतुफलावेशे नास्ति हेतुफलोद्भवः।।५५।।

यावद्धेतुफलावेशः संसारस्तावदायतः।
क्षीणे हेतुफलावेशे संसारं न प्रपद्यते।।५६।।

संवृत्या जायते सर्वं शाश्वतं नास्ति तेन वै।
सद्भावेन ह्यजं सर्वमुच्छेदस्तेन नास्ति वै।।५७।।

जब तक हेतु फलभाव का आरोप (आत्मा में) हो रहा है, तभी तक हेतु और फल की उत्पत्ति भी है (किन्तु जिस समय अद्वैत बोध से अविद्याजनित) हेतु फलभाव का आवेश क्षीण हो जाता है, उस समय (हेतुफलभाव रूप) संसार की उत्पत्ति भी नहीं होती।।५५।।

जब तक हेतु और फल का आग्रह है तभी तक संसार विस्तृत होता जाता है। हेतु फलाग्रह के क्षीण हो जाने पर (विद्वान्) संसार को प्राप्त नहीं होता।।५६।।

सभी पदार्थ व्यावहारिक दृष्टि से उत्पन्न होते हैं। अतः (आविद्यक कोई वस्तु) शाश्वत नहीं है। परमार्थ दृष्टि से तो सब कुछ अजन्मा आत्मा ही है। अतएव किसी के उच्छेद का प्रसङ्ग ही नहीं आता।।५७।।

---

ये पुनर्हेतुफलयोरभिनिविष्टास्तेषां किं स्यादित्युच्यते—धर्माधर्माख्यस्य हेतोरहं कर्ता मम धर्माधर्मौ तत्फलं कालान्तरे क्वचित्प्राणिनिकाये जातो भोक्ष्य इति यावद्धेतुफलयोरावेशो हेतुफलाग्रह आत्मन्यध्यारोपणं तच्चित्ततेत्यर्थः। तावद्धेतुफलयोरुद्भवो धर्माधर्मयोस्तत्फलस्य चानुच्छेदेन प्रवृत्तिरित्यर्थः। यदा पुनर्मन्त्रौषधिवीर्येणेव ग्रहावेशो यथोक्ताद्वैतदर्शनेनाविद्योद्भूतहेतुफलादेशोऽपनीतो भवति तदा तस्मिन्क्षीणे नास्ति हेतुफलोद्भवः।।५५।।

यदि हेतुफलोद्भवस्तदा को दोष इत्युच्यते—यावत्सम्यग्दर्शनेन हेतुफलावेशो न निवर्ततेऽक्षीणः संसारस्तावदायतो दीर्घो भवतीत्यर्थः। क्षीणे पुनर्हेतुफलावेशे संसारं न प्रपद्यते कारणाभावात्।।५६।।

नन्वजादात्मनोऽन्यन्नास्त्येव तत्कथं हेतुफलयोः संसारस्य चोत्पत्तिविनाशावुच्येते त्वया। शृणु। संवृत्या संवरणं संवृतिरविद्याविषयो लौकिको व्यवहारस्तया संवृत्या जायते

धर्मा य इति जायन्ते, जायन्ते ते न तत्त्वतः।
जन्म मायोपमं तेषां सा च माया न विद्यते।।५८।।

यथा मायामयाद्बीजाज्जायते तन्मयोऽङ्कुरः।
नासौ नित्यो न चोच्छेदी तद्वद्धर्मेषु योजना।।५९।।

नाजेषु सर्वधर्मेषु शाश्वताशाश्वताभिधा।

जीव या अन्य पदार्थ जो उत्पन्न होते हैं, वे वस्तुतः उत्पन्न नहीं होते। यह तो केवल कल्पना मात्र है क्योंकि उनका जन्म माया सदृश है और वास्तव में यह माया भी नहीं है, क्योंकि अविद्यमान वस्तु को ही माया नाम से कहते हैं।।५८।।

जैसे मायामय (आम्रादि के) बीज से मायामय अंकुर उत्पन्न होता है, वह अंकुर न नित्य ही है और न नाशवान् ही है। वैसे ही धर्मों के विषय में भी जन्म नाशादि की योजना समझनी चाहिये।।५९।।

सभी अजन्मा आत्मरूप धर्मों में नित्य अनित्य ऐसे नाम की प्रवृत्ति नहीं है। जिस

---

सर्वं, तेनाविद्याविषये शाश्वतं नित्यं नास्ति वै। अत उत्पत्तिविनाशलक्षणः संसार आयत इत्युच्यते। परमार्थसद्भावेन त्वजं सर्वमात्मैव यस्मात्। अतो जात्याद्यभावादुच्छेदस्तेन नास्ति वै कस्यचिद्धेतुफलादेरित्यर्थः।।५७।।

येऽप्यात्मानोऽन्ये च धर्मा जायन्त इति कल्प्यन्ते त इत्येवंप्रकारा यथोक्ता संवृतिर्निर्दिश्यत इति। संवृत्यैव धर्मा जायन्ते न ते तत्त्वतः परमार्थतो जायन्ते। यत्पुनस्तत्संवृत्या जन्म तेषां धर्माणां यथोक्तानां, यथा मायया जन्म, तथा तन्मायोपमं प्रत्येतव्यम्। माया नाम वस्तु तर्हि? नैवम्। सा च माया न विद्यते, मायेत्यविद्यमानस्याऽऽख्येत्यभिप्रायः।।५८।।

कथं मायोपमं तेषां धर्माणां जन्मेत्याह। यथा मायामयादाम्रादिबीजाज्जायते तन्मयो मायामयोऽङ्कुरो नासावङ्कुरो नित्यो न चोच्छेदी विनाशी वाऽभूतत्वात्तद्वदेव धर्मेषु जन्मनाशादियोजना युक्तिः। न तु परमार्थतो धर्माणां जन्म नाशो वा युज्यत इत्यर्थः।।५९।।

परमार्थतस्त्वात्मस्वजेषु नित्यैकरसविज्ञप्तिमात्रसत्ताकेषु, शाश्वतोऽशाश्वत इति वा

यत्र वर्णा न वर्तन्ते विवेकस्तत्र नोच्यते।।६०।।

यथा स्वप्ने द्वयाभासं चित्तं चलति मायया।
तथा जाग्रद्द्वयाभासं चित्तं चलति मायया।।६१।।

अद्वयं च द्वयाभासं चित्तं स्वप्ने न संशयः।
अद्वयं च द्वयाभासं तथा जाग्रन्न संशयः।।६२।।

स्वप्नदृक्प्रचरन्स्वप्ने दिक्षु वै दशसु स्थितान्।
अण्डजान्स्वेदजान्वाऽपि जीवान्पश्यति यान्सदा।।६३।।

आत्मा में शब्द ही प्रवृत्त नहीं होते; वहाँ पर नित्यानित्य विवेक भी नहीं कहा जा सकता ।।६०।।

जैसे स्वप्नावस्था में माया के द्वारा ही मन ग्राह्यग्राहक द्वैताभास रूप से स्फुरित होता है, वैसे ही जाग्रत् काल में यह मन माया से (नाना रूपों में) स्फुरित होता है।।६१।।

जैसे स्वप्न काल में अद्वितीय मन ही ग्राह्यग्राहकादि द्वैत रूप से भासता है इसमें सन्देह नहीं ठीक जाग्रत् काल में भी निस्सन्देह अद्वितीय मन ही ग्राह्यग्राहकादि द्वैत रूप से भासने वाला है।।६२।।

स्वप्न द्रष्टा स्वप्न में घूमता हुआ दशों दिशाओं में स्थित जिन स्वेदज या अण्डज प्राणियों को सदा देखता है, (वास्तव में वे स्वप्नद्रष्टा से भिन्न नहीं होते) ।।६३।।

---

नाभिधा नाभिधानं प्रवर्तत इत्यर्थः। यत्र येषु वर्ण्यन्ते यैरर्थास्ते वर्णाः शब्दा न प्रवर्तन्तेऽभिधातुं प्रकाशयितुं न प्रवर्तन्त इत्यर्थः। इदमेवमिति विवेको विविक्तता तत्र नित्योऽनित्य इति नोच्यते। "यतो वाचो निवर्तन्ते" इति श्रुतेः।।६०।।

यत्पुनर्वाग्गोचरत्वं परमार्थतोऽद्वयस्य विज्ञानमात्रस्य,तन्मनसः स्पन्दनमात्रं,न परमार्थत इति। उक्तार्थौ श्लोकौ ।।६१।।६२।।

इतश्च वाग्गोचरस्याभावो द्वैतस्य। स्वप्नान्पश्यतीति स्वप्नदृक्प्रचरन्पर्यटन्स्वप्ने स्वप्नस्थाने दिक्षु वै दशसु स्थितान्वर्तमानाञ्जीवान्प्राणिनोऽण्डजान्स्वेदजान्वा यान्सदा पश्यतीति।।६३।।

स्वप्नदृक्चित्तदृश्यास्ते न विद्यन्ते ततः पृथक्।
तथा तद्दृश्यमेवेदं स्वप्नदृक्चित्तमिष्यते।।६४।।

चरञ्जागरिते जाग्रद्दिक्षु वै दशसु स्थितान्।
अण्डजान्स्वेदजान्वाऽपि जीवान्पश्यति यान्सदा।।६५।।

जाग्रच्चित्तेक्षणीयास्ते न विद्यन्ते ततः पृथक्।
तथा तद्दृश्यमेवेदं जाग्रतश्चित्तमिष्यते।।६६।।

उभे ह्यन्योन्यदृश्ये ते किं तदस्तीति नोच्यते।

स्वप्नद्रष्टा के चित्त से देखे जाने वाले वे दृश्य पदार्थ, उससे (स्वप्नद्रष्टा के चित्त से) पृथक् नहीं हैं। उसी प्रकार उस स्वप्नद्रष्टा का यह चित्त भी उस स्वप्नद्रष्टा का दृश्य ही है। (अर्थात् स्वप्न द्रष्टा से भिन्न चित्त कुछ भी नहीं) ।।६४।।

जाग्रदवस्था में घूमता हुआ जाग्रत् का साक्षी दशों दिशाओं में स्थित जिन अण्डज या स्वेदज जीवों को सदा देखता है।।६५।।

वे जाग्रत् चित्त के दृश्य (स्वप्न चित्त दृश्य के समान ही) जाग्रत् द्रष्टा के चित्त से पृथक् नहीं है। वैसे ही यह जाग्रत् चित्त भी जाग्रत् द्रष्टा का दृश्य माना जाता है। अतः यह भी द्रष्टा से भिन्न नहीं है।।६६।।

वे (चित्त और चित्त के विषय जीव) दोनों एक दूसरे के दृश्य हैं। वे क्या वस्तु

---

यद्येवं ततः किम्। उच्यते। स्वप्नदृशश्चित्तं स्वप्न दृक्चित्तम्। तेन दृश्यास्ते जीवास्ततस्तस्मात्स्वप्नदृक्चित्तात्पृथङ्न विद्यन्ते न सन्तीत्यर्थः। चित्तमेव ह्यनेकजीवादि-भेदाकारेण विकल्प्यते। तथा तदपि स्वप्नदृक्चित्तमिदं तद्दृश्यमेव, तेन स्वप्नदृशा दृश्यं तद्दृश्यम्। अतः स्वप्नदृग्व्यतिरेकेण चित्तं नाम नास्तीत्यर्थः।।६४।।

जाग्रतो दृश्या जीवास्तच्चित्ताव्यतिरिक्ताश्चित्तेक्षणीयत्वात्स्वप्नदृक्चित्तेक्षणीय-जीववत्। तच्च जीवेक्षणात्मकं चित्तं न तद्द्रष्टुर्व्यतिरिक्तं द्रष्टृदृश्यत्वात्स्वप्नचित्तवत्। उक्तार्थमन्यत् ।।६५।।६६।।

जीवचित्ते उभे चित्तचैत्ये ते अन्योन्यदृश्ये इतरेतरगम्ये, जीवादिविषयापेक्षं हि

लक्षणाशून्यमुभयं तन्मतेनैव गृह्यते।।६७।।

यथा स्वप्नमयो जीवो जायते म्रियतेऽपि च।
तथा जीवा अमी सर्वे भवन्ति न भवन्ति च ।।६८।।

यथा मायामयो जीवो जायते म्रियतेऽपि च।
तथा जीवा अमी सर्वे भवन्ति न भवन्ति च।।६९।।

यथा निर्मितको जीवो जायते म्रियतेऽपि च।

हैं? (इसके उत्तर में विवेकी लोग कहते हैं कि) कुछ भी नहीं कहा जा सकता (क्योंकि स्वप्न के हाथी और उसे ग्रहण करने वाला चित्त दोनों ही अनिर्वचनीय हैं) ये दोनों ही प्रमाण शून्य हैं और केवल तच्चित्तता से ही ग्रहण किये जाते हैं (भाव यह कि उनमें प्रमाण और प्रमेय के भेद की कल्पना असंभव है) ।।६७।।

जैसे स्वप्न का जीव उत्पन्न होता और मरता भी है, वैसे ही ये जाग्रत् के जीव उत्पन्न होते और मरते हैं।।६८।।

जैसे मायामय जीव उत्पन्न होता और मरता भी है, वैसे ही यह सब जीव उत्पन्न होते और मरते भी हैं।।६९।।

जैसे (मन्त्र औषधादि से) रचा हुआ जीव उत्पन्न होता और मरता भी है, वैसे

---

चित्तं नाम भवति, चित्तापेक्षं हि जीवादि दृश्यमतस्ते अन्योन्यदृश्ये। तस्मान्न किंचिदस्तीति चोच्यते चित्तं वा चित्तेक्षणीयं वा। किं तदस्तीति विवेकिना नोच्यते। न हि स्वप्ने हस्ती हस्तिचित्तं वा विद्यते तथेहापि विवेकिनामित्यभिप्रायः। कथम्। लक्षणाशून्यं लक्ष्यतेऽनयेति लक्षणा प्रमाणं प्रमाणशून्यमुभयं चित्तं चैत्यं द्वयं यतस्तन्मतेनैव तच्चित्ततयैव तद्गृह्यते। न हि घटमतिं प्रत्याख्याय घटो गृह्यते नापि घटं प्रत्याख्याय घटमतिः। न हि तत्र प्रमाणप्रमेयभेदः शक्यते कल्पयितुमित्यभिप्रायः।।६७।।

मायामयो मायाविना यः कृतो, निर्मितको मन्त्रौषध्यादिभिर्निष्पादितः। स्वप्नमाया-

तथा जीवा अमी सर्वे भवन्ति न भवन्ति च।।७०।।

न कश्चिज्जायते जीवः संभवोऽस्य न विद्यते।
एतत्तदुत्तमं सत्यं यत्र किंचिन्न जायते।।७१।।

चित्तस्पन्दितमेवेदं ग्राह्यग्राहकवद्द्वयम्।
चित्तं निर्विषयं नित्यमसङ्गं तेन कीर्तितम्।।७२।।

योऽस्ति कल्पितसंवृत्या परमार्थेन नास्त्यसौ।
परतन्त्राभिसंवृत्या स्यान्नास्ति परमार्थतः।।७३।।

ही ये जाग्रत् के सभी मनुष्यादि जीव उत्पन्न होते और मरते भी है।।७०।।

वास्तव में कोई जीव उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि उसके जन्म की संभावना ही नहीं है। उत्तम सत्य यही है कि जहाँ पर कोई भी वस्तु उत्पन्न नहीं होती।।७१।।

विषय और इन्द्रियों से युक्त यह सम्पूर्ण द्वैत चित्त का स्फुरण मात्र है। पर चित्त (परमार्थतः आत्मा होने से) निर्विषय है। अतएव वह चित्त नित्य असंग कहा गया है (जो सविषय होता है ऐसे चित्त का ही विषय के साथ सङ्ग हो सकता है)।।७२।।

कल्पित व्यवहार से जो भी शास्त्रादि पदार्थ दीखता है, वह परमार्थ से नहीं है और यदि परमतावलम्बियों के शास्त्र व्यवहार से पदार्थ भी हो तो भी परमार्थतः निरूपण करने पर वह सिद्ध नहीं हो सकता (इससे उसकी असंगता युक्त ही है)।।७३।।

---

निर्मितका अण्डजादयो जीवा यथा जायन्ते म्रियन्ते च, तथा मनुष्यादिलक्षणा अविद्यमाना एव चित्तविकल्पनामात्रा इत्यर्थः।।६८।।६९।।७०।।

व्यवहारसत्यविषयजीवानां जन्ममरणादिः स्वप्नादिजीववदित्युक्तम्। उत्तमं तु परमार्थसत्यं न कश्चिज्जायते जीव इति। उक्तार्थमन्यत्।।७१।।

सर्वं ग्राह्यग्राहकवच्चित्तस्पन्दितमेव द्वयं चित्तं परमार्थत आत्मैवेति निर्विषयं तेन, निर्विषयत्वेन नित्यमसङ्गं कीर्तितम्। "असङ्गो ह्ययं पुरुषः" इति श्रुतेः। सविषयस्य हि विषये सङ्गः। निर्विषयत्वाच्चित्तमसङ्गमित्यर्थः।।७२।।

ननु निर्विषयत्वेन चेदसङ्गत्वं, चित्तस्य न निःसङ्गता भवति यस्माच्छास्ता शास्त्रं

अजः कल्पितसंवृत्या परमार्थेन नाप्यजः।
परतन्त्राभिनिष्पत्त्या संवृत्या जायते तु सः।।७४।।

अभूताभिनिवेशोऽस्ति द्वयं तत्र न विद्यते।
द्वयाभावं स बुद्ध्वैव निर्निमित्तो न जायते।।७५।।

शास्त्रादि कल्पित व्यवहार के कारण ही आत्मा "अज" कहा जाता है। परमार्थ दृष्टि से वह अज भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अन्यमतावलम्बियों के शास्त्रों से सिद्ध (भ्रान्तिजन्य) व्यवहार के कारण ही वह उत्पन्न होता है ऐसा माना गया है।।७४।।

असत्य द्वैत में लोगों को केवल आग्रह है वहाँ (परमार्थ वस्तु मे) द्वैत की गन्ध भी नहीं, (क्योंकि मिथ्या आग्रह ही जीव के जन्म का कारण है) अतः द्वैतभाव को जानकर ही निमित्तरहित वह जीव फिर उत्पन्न नहीं होता।।७५।।

---

शिष्यश्चेत्येवमादेर्विषयस्य विद्यमानत्वात्। नैष दोषः। कस्मात्। यः पदार्थः शास्त्रादिर्विद्यते स कल्पितसंवृत्या कल्पिता च सा परमार्थप्रतिपत्त्युपायत्वेन संवृतिश्च सा तया योऽस्ति परमार्थेन नास्त्यसौ न विद्यते। ज्ञाते द्वैतं न विद्यत इत्युक्तम्। यश्च परतन्त्राभिसंवृत्या परशास्त्रव्यवहारेण स्यात्पदार्थः स परमार्थतो निरूप्यमाणो नास्त्येव। तेन युक्तमुक्तमसङ्गं तेन कीर्तितमिति।।७३।।

ननु शास्त्रादीनां संवृतित्वेऽज इतीयमपि कल्पना संवृतिः स्यात्। सत्यमेवम्। शास्त्रादिकल्पितसंवृत्यैवाज इत्युच्यते। परमार्थेन नाप्यजः। यस्मात्परतन्त्राभिनिष्पत्त्या परशास्त्रप्रसिद्धिमपेक्ष्य योऽज इत्युक्तः स संवृत्या जायते। अतोऽज इतीयमपि कल्पना परमार्थविषये नैव क्रमत इत्यर्थः।।७४।।

यस्मादसद्द्वैतविषयस्तस्मादसत्यभूते द्वैतेऽभिनिवेशोऽस्ति केवलमभिनिवेश आग्रहमात्रम्। द्वयं तत्र न विद्यते। मिथ्याभिनिवेशमात्रं च जन्मनः कारणं यस्मात्तस्माद्द्वयाभावं बुद्ध्वा निर्निमित्तो निवृत्तमिथ्याद्वयाभिनिवेशो यः स न जायते।।७५।।

यदा न लभते हेतूनुत्तमाधममध्यमान्।
तदा न जायते चित्तं हेत्वभावे फलं कुतः।।७६।।

अनिमित्तस्य चित्तस्य याऽनुत्पत्तिः समाऽद्वया।
अजातस्यैव सर्वस्य चित्तदृश्यं हि तद्यतः।।७७।।

जब चित्त उत्तम (देवत्व आदि का कारण), मध्यम (मनुष्यत्वादि प्राप्ति के कारण) और अधम (पश्वादि योनि प्राप्ति के कारण) हेतुओं को प्राप्त नहीं करता; तब (परमार्थ बोध हो जाने से) उसका जन्म भी नहीं होता क्योंकि हेतु के अभाव में फल कहाँ से होगा।।७६।।

(इस प्रकार परमार्थ ज्ञान के द्वारा धर्माधर्मादि) निमित्त के निवृत्त हो जाने पर चित्त की जो मोक्ष नामक अनुत्पत्ति है, वह सर्वथा निर्विशेष और अद्वितीय है, (क्योंकि बोध से पूर्व भी) सभी अजात चित्त की अनुत्पत्ति समान ही थी। चित्त दृश्य का जन्म तो कल्पना मात्र है।।७७।।

---

जात्याश्रमविहिता आशीर्वर्जितैरनुष्ठीयमाना धर्मा देवत्वादिप्राप्तिहेतव उत्तमाः केवलाश्च। धर्माः अधर्मव्यामिश्रा मनुष्यत्वादिप्राप्त्यर्था मध्यमाः। तिर्यगादिप्राप्तिनिमित्ता अधर्मलक्षणाः प्रवृत्तिविशेषाश्चाधमाः। तानुत्तममध्यमाधमानविद्यापरिकल्पितान्य-दैकमेवाद्वितीयमात्मतत्त्वं सर्वकल्पनावर्जितं जानन्न लभते न पश्यति। यथा बालैर्दृश्यमानं गगनतलमलं विवेकी न पश्यति तद्वत्तदा न जायते नोत्पद्यते चित्तं देवाद्याकारैरुत्त-माधममध्यमफलरूपेण। न ह्यसति हेतौ फलमुत्पद्यते बीजाद्यभाव इव सस्यादि।।७६।।

हेत्वभावे चित्तं नोत्पद्यत इति ह्युक्तम्। सा पुनरनुत्पत्तिश्चित्तस्य कीदृशीत्युच्यते। परमार्थदर्शनेन निरस्तधर्माधर्माख्योत्पत्तिनिमित्तस्यानिमित्तस्य चित्तस्य या मोक्षाख्याऽनुत्पत्तिः सा सर्वदा सर्वावस्थासु समा निर्विशेषाऽद्वया च। पूर्वमप्यजातस्यैवानुत्पन्नस्य चित्तस्य सर्वस्याद्वयस्येत्यर्थः। यस्मात्प्रागपि विज्ञानाच्चित्तदृश्यं तदद्वयं जन्म च तस्मादजातस्य सर्वस्य सर्वदा चित्तस्य समाऽद्वयैवानुत्पत्तिर्न पुनः कदाचिद्भवति कदाचिद्वा न भवति। सर्वदैकरूपैवेत्यर्थः।।७७।।

बुद्ध्वाऽनिमित्ततां सत्यां हेतुं पृथगनाप्नुवन्।
वीतशोकं तथाऽकाममभयं पदमश्नुते।।७८।।

अभूताभिनिवेशाद्धि सदृशे तत्प्रवर्तते।
वस्त्वभावं स बुद्ध्वैव निःसङ्गं विनिवर्तते।।७९।।

निवृत्तस्याप्रवृत्तस्य निश्चला हि तदा स्थितिः।
विषयः स हि बुद्धानां तत्साम्यमजमद्वयम्।।८०।।

अनिमित्तता को ही परमार्थ रूप जानकर और देवादि योनियों की प्राप्ति के लिये किसी अन्य धर्मादि कारण को न प्राप्त कर विद्वान् शोक और काम से मुक्त हो अभय पद को प्राप्त कर लेता है।।७८।।

असत्य द्वैत के सत्यत्वाग्रह से ही चित्त तदनुरूप विषयों में प्रवृत्त होता है और द्वैत वस्तु के अभाव को जानकर ही (मिथ्याभिनिवेश जन्य विषय से) वह निस्संग होकर लौट आता है।।७९।।

उस समय द्वैत विषय से निवृत्त और विषयान्तर में अप्रवृत्त चित्त की निश्चल ब्रह्म स्वरूपा स्थिति हो जाती है। तत्त्वदर्शी पुरुषों का ही वह विषय है और वह निर्विशेष अज एवं अद्वितीय है।।८०।।

---

यथोक्तेन न्यायेन जन्मनिमित्तस्य द्वयस्याभावादनिमित्ततां च सत्यां परमार्थरूपां बुद्ध्वा हेतुं धर्मादिकारणं देवादियोनिप्राप्तये पृथगनाप्नुवन्ननुपाददानस्त्यक्तबाह्यैषणः सन्कामशोकादिवर्जितमविद्यारहितमभयं पदमश्नुते, पुनर्न जायत इत्यर्थः।।७८।।

यस्मादभूताभिनिवेशादसति द्वये द्वयास्तित्वनिश्चयोऽभूताभिनिवेशस्तस्मादविद्या-व्यामोहरूपाद्धि सदृशे तदनुरूपे चित्तं प्रवर्तते। तस्य द्वयस्य वस्तुनोऽभावं यदा बुद्धवांस्तदा तस्मान्निःसङ्गं निरपेक्षं सद्विनिवर्ततेऽभूताभिनिवेशविषयात्।।७९।।

निवृत्तस्य द्वैतविषयाद्विषयान्तरे चाप्रवृत्तस्याभावदर्शनेन चित्तस्य निश्चला चलन-वर्जिता ब्रह्मस्वरूपैव तदा स्थितिर्यैषा ब्रह्मस्वरूपा स्थितिश्चित्तस्याद्वयविज्ञानैकरसघनलक्षणा। स हि यस्माद्विषयो गोचरः परमार्थदर्शिनां बुद्धानां तस्मात्तत्साम्यं परं निर्विशेषमज-मद्वयं च।।८०।।

अजमनिद्रमस्वप्नं प्रभातं भवति स्वयम्।
सकृद्विभातो ह्येवैष धर्मो धातुः स्वभावतः।।८१।।

सुखमाव्रियते नित्यं दुःखं विव्रियते सदा।
यस्य कस्य च धर्मस्य ग्रहेण भगवानसौ।।८२।।

अस्ति नास्त्यस्ति नास्तीति नास्ति नास्तीति वा पुनः।

वह अज निद्रारहित, स्वप्नरहित और (आदित्यादि की अपेक्षा न रखने वाला) स्वयंप्रकाश है। यह (आत्मा नामक) धर्म वस्तु स्वभाव से ही सदा भासमान है।।८१।।

वह अद्वय आत्मा जिस किसी द्वैत वस्तु के मिथ्याभिनिवेश के कारण सहज ही आवृत हो जाता है और (परमार्थ बोध दुर्लभ होने के कारण) सदा कठिनाई से प्रकट होता है।।८२।।

(कोई वादी कहता है) आत्मा है, (दूसरा वैनाशिक कहता है) आत्मा नहीं है, (तीसरा अर्धवैनाशिक दिगम्बर कहता है) है और नहीं भी है और (शून्यवादी कहता है कि) नहीं

---

पुनरपि कीदृशश्चासौ बुद्धानां विषय इत्याह—स्वयमेव तत्प्रभातं भवति नाऽऽदित्याद्यपेक्षं स्वयंज्योतिःस्वभावमित्यर्थः। सकृद्विभातः सदैव विभात इत्येतत्। एष एवंलक्षण आत्माख्यो धर्मो धातुः स्वभावतो वस्तुस्वभावत इत्यर्थः।।८१।।

एवमुच्यमानमपि बहुशः परमार्थतत्त्वं कस्माल्लौकिकैर्न गृह्यत इत्युच्यते— यस्माद्यस्य कस्यचिद्द्वयवस्तुनो धर्मस्य ग्रहेण ग्रहणावेशेन मिथ्याभिनिविष्टतया सुख-माव्रियतेऽनायासेनाऽऽच्छाद्यत इत्यर्थः। द्वयोपलब्धिनिमित्तं हि तत्राऽऽवरणं न यत्नान्तरमपेक्षते। दुःखं च विव्रियते प्रकटीक्रियते। परमार्थज्ञानस्य दुर्लभत्वात्। भगवानसावात्माऽद्वयो देव इत्यर्थः। अतो वेदान्तैराचार्यैश्च बहुश उच्यमानोऽपि नैव ज्ञातुं शक्य इत्यर्थः। "आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा" इति श्रुतेः।।८२।।

अस्ति नास्तीत्यादिसूक्ष्मविषया अपि पण्डितानां ग्रहा भगवतः परमात्मन आवरणा एव किमुत मूढजनानां बुद्धिलक्षणा इत्येवमर्थं प्रदर्शयन्नाह—अस्तीति। अस्त्यात्मेति वादी कश्चित्प्रतिपद्यते। नास्तीत्यपरो वैनाशिकः। अस्ति नास्तीत्यपरोऽर्ध-

चलस्थिरोभयाभावैरावृणोत्येव बालिशः।।८३।।

कोट्यश्चतस्त्र एतास्तु ग्रहैर्यासां सदाऽऽवृतः।
भगवानाभिरस्पृष्टो येन दृष्टः स सर्वदृक्।।८४।।

प्राप्य सर्वज्ञतां कृत्स्नां ब्राह्मण्यं पदमद्वयम्।
अनापन्नादिमध्यान्तं किमतः परमीहते।।८५।।

है नहीं है, (इनमें क्रमशः इस प्रकार) चल, स्थिर, उभयरूप और अभावरूप कोटियों से विवेकहीन पुरुष (अद्वय आत्मा को) आच्छादित ही करते हैं।।८३।।

जिनके मिथ्याभिनिवेश से सदा ही आत्मा आच्छादित रहता है, वे ही ये चार कोटियाँ हैं। इनके स्पर्श से शून्य अद्वय आत्मा को वेदान्तों में जिसने देखा है, वही परमार्थ को जानने वाला है।।८४।।

पूर्वोक्त सर्वज्ञता और आदि, मध्य तथा अन्त से रहित अद्वितीय ब्राह्मण्य पद को प्राप्त करके भी क्या फिर कोई चेष्टा कर सकता है।।८५।।

---

वैनाशिकः सदसद्वादी दिग्वासाः। नास्ति नास्तीत्यत्यन्तशून्यवादी। तत्रास्तिभावश्चलः, घटाद्यनित्यविलक्षणत्वात्। नास्तिभावः स्थिरः सदाऽविशेषत्वात्। उभयचलस्थिर विषयत्वात्सदसद्भावोऽभावोऽत्यन्ताभावः। प्रकारचतुष्टयस्यापि तैरेतैश्चलस्थिरोभयाभावैः सदसदादिवादी सर्वोऽपि भगवन्तमावृणोत्येव बालिशोऽविवेकी। यद्यपि पण्डितो बालिश एव परमार्थतत्त्वानवबोधात्किमु स्वभावमूढो जन इत्यभिप्रायः।।८३।।

कीदृक्पुनः परमार्थतत्त्वं यदवबोधादबालिशः पण्डितो भवतीत्याह—कोट्यः प्रावादुकशास्त्रनिर्णयान्ता एता उक्ता अस्ति नास्तीत्याद्याश्चतस्रो यासां कोटीनां ग्रहैर्ग्रहणैरुपलब्धिनिश्चयैः सदा सर्वदाऽऽवृत आच्छादितस्तेषामेव प्रावादुकानां यः स भगवानाभिरस्तिनास्तीत्यादिकोटिभिश्चतसृभिरप्यस्पृष्टोऽस्त्यादिविकल्पनावर्जितः इत्येतत्। येन मुनिना दृष्टो ज्ञातो वेदान्तेष्वौपर्षिदः पुरुषः स सर्वदृक्सर्वज्ञः परमार्थपण्डित इत्यर्थः।।८४।। निषदः

प्राप्यैतां यथोक्तां कृत्स्नां समस्तां सर्वज्ञतां ब्राह्मण्यं पदं स ब्राह्मणः। "एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य" इति श्रुतेः। आदिमध्यान्ता उत्पत्तिस्थितिलया अनापन्ना अप्राप्ता

विप्राणां विनयो ह्येष, शमः प्राकृत उच्यते।
दमः प्रकृतिदान्तत्वादेवं विद्वाञ्शमं व्रजेत्।।८६।।

सवस्तु सोपलम्भं च द्वयं लौकिकमिष्यते।
अवस्तु सोपलम्भं च शुद्धं लौकिकमिष्यते।।८७।।

(आत्मस्वरूप में स्थित होना रूप) यह विनय ब्राह्मणों का स्वाभाविक है। यही स्वाभाविक शम भी कहा जाता है और स्वभाव से ही जितेन्द्रिय होने के कारण यही उनका दम भी है। इस प्रकार विद्वान् पुरुष ब्रह्मस्वरूपा शान्ति को प्राप्त कर लेता है।।८६।।

व्यावहारिक सद् वस्तु और उपलब्धि इन दोनों के सहित जो ग्राह्य ग्रहण रूप द्वैत है, (वेदान्तों में) लौकिक (जाग्रत्) कहा जाता है तथा जो द्वैत वस्तु के बिना केवल उपलब्धि के सहित है, वह शुद्ध लौकिक (स्वप्न) कहा जाता है।।८७।।

---

यस्याद्वयस्य पदस्य न विद्यन्ते तदनापन्नादिमध्यान्तं ब्राह्मण्यं पदम्। तदेव प्राप्य लब्ध्वा किमतः परमस्मादात्मलाभादूर्ध्वमीहते चेष्टते निष्प्रयोजनमित्यर्थः। "नैव तस्य कृतेनार्थः" इत्यादिस्मृतेः।।८५।।

विप्राणां ब्राह्मणानां विनयो विनीतत्वं स्वाभाविकं यदेतदात्मस्वरूपेणावस्थानम् एष विनयः। शमोऽप्येष एव प्राकृतः स्वाभाविकोऽकृतक उच्यते। दमोऽप्येष एव प्रकृतिदान्तत्वात्स्वभावत एव चोपशान्तरूपत्वाद्ब्रह्मणः। एवं यथोक्तं स्वभावोपशान्तं ब्रह्म विद्वाञ्शममुशान्तिं स्वाभाविकीं ब्रह्मस्वरूपां व्रजेद्ब्रह्मस्वरूपेणावतिष्ठेत इत्यर्थः।।८६।।

एवमन्योन्यविरुद्धत्वात्संसारकारणानि रागद्वेषदोषास्पदानि प्रावादुकानां दर्शनानि। अतो मिथ्यादर्शनानि तानीति तत्तद्युक्तिभिरेव दर्शयित्वा चतुष्कोटिवर्जितत्वाद्रागादिदोषानास्पदं स्वभावशान्तमद्वैतदर्शनमेव सम्यग्दर्शनमित्युपसंहृतम्। अथेदानीं स्वप्रक्रियाप्रदर्शनार्थ आरम्भः—सवस्तु संवृतिसता वस्तुना सह वर्तत इति सवस्तु। तथा चोपलब्धिरुपलम्भस्तेन सह वर्तत इति सोपलम्भं च शास्त्रादिसर्वव्यवहारास्पदं ग्राह्यग्राहकलक्षणं द्वयं लौकिकं लोकादनपेतं लौकिकं जागरितमित्येतत्। एवंलक्षणं

अवस्त्वनुपलम्भं च लोकोत्तरमिति स्मृतम्।
ज्ञानं ज्ञेयं च विज्ञेयं सदा बुद्धैः प्रकीर्तितम्।।८८।।

ज्ञाने च त्रिविधे ज्ञेये क्रमेण विदिते स्वयम्।
सर्वज्ञता हि सर्वत्र भवतीह महाधियः।।८९।।

जो वस्तु और उपलब्धि इन दोनों ग्राह्य ग्रहण से रहित लोकोत्तर अवस्था है, वह सुषुप्ति मानी गयी है। इस प्रकार विद्वानों ने सदा ही अवस्थात्रय रूप ज्ञान, ज्ञेय तथा विज्ञेय (तुरीय संज्ञक अद्वय, अजन्मा, आत्मतत्त्व) का निरूपण किया है (अर्थात् लौकिक से लेकर विज्ञेय पर्यन्त तत्त्वों का निरूपण सदा ही विद्वानों ने किया है)।।८८।।

तीन प्रकार के ज्ञान और ज्ञेय वस्तु को इस प्रकार क्रमशः जान लेने पर इस लोक में उस महान् विद्वान् को सर्वत्र सर्वज्ञता स्वयं प्राप्त होती है। (अर्थात् वह सर्वरूप चैतन्य ब्रह्मस्वरूपता को सहज में प्राप्त कर लेता है)।।८९।।

---

जागरितमिष्यते वेदान्तेषु। अवस्तु संवृतेरप्यभवात्। सोपलम्भं वस्तुवदुपलम्भनमुपलम्भोऽसत्यपि वस्तुनि तेन सह वर्तत इति सोपलम्भं च। शुद्धं केवलं प्रविविक्तं जागरितात्स्थूलाल्लौकिकं सर्वप्राणिसाधारणत्वादिष्यते स्वप्ने इत्यर्थः।।८७।।

अवस्त्वनुपलम्भं च ग्राह्यग्रहणवर्जितमित्येतल्लोकोत्तरम्। अत एव लोकातीतम्। ग्राह्यग्रहण विषयो हि लोकस्तदभावात्सर्वप्रवृत्तिबीजं सुषुप्तमित्येतदेवं स्मृतं सोपायं परमार्थतत्त्वं लौकिकं, शुद्धलौकिकं, लोकोत्तरं, च जाग्रदादिक्रमेण येन ज्ञानेन ज्ञायते तज्ज्ञानं ज्ञेयमेतान्येव त्रीणि। एतद्व्यतिरेकेण ज्ञेयानुपपत्तेः। सर्वप्रावादुककल्पितवस्तुनोऽत्रैवान्तर्भावाद्विज्ञेयं परमार्थसत्यं तुर्याख्यमद्वयमजमात्मतत्त्वमित्यर्थः। सदा सर्वदैतल्लौकिकादिविज्ञेयान्तं बुद्धैः परमार्थदर्शिभिर्ब्रह्मविद्भिः प्रकीर्तितम्।।८८।।

ज्ञाने च [handwritten insertion] स्थूलम्। तदभावेन पश्चाच्छुद्धं लौकिकम्। तदभावेन लोकोत्तरमित्येवं क्रमेण स्थानत्रयाभावेन परमार्थसत्ये तुर्येऽद्वयेऽजेऽभये विदिते स्वयमेवाऽऽत्मस्वरूपमेव सर्वज्ञता सर्वश्चासौ ज्ञश्च सर्वज्ञस्तद्भावः सर्वज्ञता। इहास्मिल्लोके भवति महाधियो महाबुद्धेः। सर्वलोकातिशयवस्तुविषयबुद्धित्वादेवंविदः सर्वत्र सर्वदा भवति सकृद्विदिते स्वरूपे व्यभिचाराभावादित्यर्थः। न हि परमार्थविदो ज्ञानोद्भवाभिभवौ स्तो यथाऽन्येषां प्रावादुकानाम्।।८९।।

१ लौकिकादि विषये। ज्ञेये च लौकिकादौ त्रिविधे। पूर्वं लौकिकं

हेयज्ञेयाप्यपाक्यानि विज्ञेयान्यग्रयाणतः।
तेषामन्यत्र विज्ञेयादुपलम्भस्त्रिषु स्मृतः।।९०।।

प्रकृत्याऽऽकाशवज्ज्ञेयाः सर्वे धर्मा अनादयः।
विद्यते न हि नानात्वं तेषां क्वचन किंचन।।९१।।

आदिबुद्धाः प्रकृत्यैव सर्वे धर्माः सुनिश्चिताः।

(जाग्रदादि तीन) हेय, (सत्य ब्रह्मरूप) ज्ञेय, (पाण्डित्य, बाल्य और मौन नामक) प्राप्य, (साधन और रागद्वेष मोहादि कषाय) जीर्ण करने योग्य दोष—ये साधन पहले ही जानने योग्य हैं। इनमें से ज्ञेय ब्रह्म को छोड़कर अवशेष तीनों में मायामयत्व ही विद्वानों ने माना है।।९०।।

सभी जीव को स्वभाव से आकाश के समान और अनादि समझना चाहिए। उनमें कहीं पर अणु मात्र भी नानात्व नहीं है। (आपाततः प्रतीत होने वाले औपाधिक भेद को लेकर ही जहाँ कहीं बहुवचन का प्रयोग किया गया है) ।।९१।।

(सूर्य के समान) स्वभाव से ही सभी आत्मा नित्य प्रकाशस्वरूप तथा सुनिश्चित

---

लौकिकादीनां क्रमेण ज्ञेयत्वेन निर्देशादस्तित्वाशङ्का परमार्थतो मा भूदित्याह—हेयानि च लौकिकादीनि त्रीणि जागरितस्वप्नसुषुप्तान्यात्मन्यसत्त्वेन रज्ज्वां सर्पवद्धातव्यानीत्यर्थः। ज्ञेयमिह चतुष्कोटिवर्जितं परमार्थतत्त्वम्। आप्यान्याप्तव्यानि त्यक्तबाह्यैषणात्रयेन भिक्षुणा पाण्डित्यबाल्यमौनाख्यानि साधनानि। पाक्यानि रागद्वेष-मोहादयो दोषाः कषायाख्यानि (णि) पक्तव्यानि। सर्वाण्येतानि हेयज्ञेयाप्य-पाक्यानि विज्ञेयानि भिक्षुणोपायत्वेनेत्यर्थः। अग्रयाणतः प्रथमतस्तेषां हेयादीनामन्यत्र विज्ञेयात्परमार्थसत्यं विज्ञेयं ब्रह्मैकं वर्जयित्वा। उपलम्भनमुपलम्भोऽविद्याकल्पनामात्रम्। हेयाप्यपाक्येषु त्रिष्वपि स्मृतो ब्रह्मविद्भिर्न परमार्थसत्यता त्रयाणामित्यर्थः।।९०।।

परमार्थतस्तु प्रकृत्या स्वभावत आकाशवदाकाशतुल्याः सूक्ष्मनिरञ्जनसर्वगतत्वैः सर्वे धर्मा आत्मनो ज्ञेया मुमुक्षुभिरनादयो नित्याः। बहुवचनकृतभेदाशङ्कां निराकुर्वन्नाह—क्वचन किंचन किंचिदणुमात्रमपि तेषां न विद्यते नानात्वमिति।।९१।।

ज्ञेयताऽपि धर्माणां संवृत्यैव न परमार्थत इत्याह—यस्मादादौ बुद्धा आदिबुद्धाः

यस्यैवं भवति क्षान्तिः सोऽमृतत्वाय कल्पते।।९२।।

आदिशान्ता ह्यनुत्पन्नाः प्रकृत्यैव सुनिर्वृताः।
सर्वे धर्माः समाभिन्ना अजं साम्यं विशारदम्।।९३।।

वैशारद्यं तु वै नास्ति भेदे विचरतां सदा।
भेदनिम्नाः पृथग्वादास्तस्मात्ते कृपणाः स्मृताः।।९४।।

है। जिस मुमुक्षु को आत्मा के विषय में ऐसी क्षान्ति (निरपेक्ष बोध की दक्षता) रहती है, वह मोक्ष प्राप्ति के योग्य माना जाता है।।९२।

सभी आत्मा सदा ही शान्त स्वरूप, अजन्मा, स्वभाव से अत्यन्त उपरत सम और अभिन्न हैं। इस प्रकार आत्मतत्त्व अजन्मा समता रूप और विशुद्ध है (अतः नित्यमुक्तैक सर्वभाव आत्मा के लिये मोक्ष कर्तव्य नहीं है)।।९३।।

सदा अविद्या कल्पित द्वैत में ही विचरने वाले वादियों की विशुद्धि निश्चय ही नहीं होती, क्योंकि भेदवादी भेद की ही ओर प्रवृत्त होते देखे गये हैं। अतएव वे दीन माने गये हैं।।९४।।

---

प्रकृत्यैव स्वभावत एव यथा नित्यप्रकाशस्वरूपः सवितैवं नित्यबोधस्वरूपा इत्यर्थः। सर्वे धर्माः सर्वे आत्मानः। न च तेषां निश्चयः कर्तव्यो नित्यनिश्चितस्वरूपा इत्यर्थः। न संदिह्यमानस्वरूपा एवं नैवं चेति। यस्य मुमुक्षोरेवं यथोक्तप्रकारेण सर्वदा बोधनिश्चयनिरपेक्षताऽऽत्मार्थं परार्थं वा यथा सविता नित्यं प्रकाशान्तरनिरपेक्षः स्वार्थं परार्थं चेत्येवं भवति क्षान्तिर्बोधकर्तव्यतानिरपेक्षता सर्वदा स्वात्मनि सोऽमृतत्वायामृतभावाय कल्पते। मोक्षाय समर्थो भवतीत्यर्थः।।९२।।

तथा नापि शान्तिकर्तव्यताऽऽत्मनीत्याह—यस्मादादिशान्ता नित्यमेव शान्ता अनुत्पन्ना अजाश्च प्रकृत्यैव सुनिर्वृताः सुष्ठु परतस्वभावा इत्यर्थः। सर्वे धर्मा समाश्चाभिन्नाश्च समाभिन्ना अजं साम्यं विशारदं विशुद्धमात्मतत्त्वं यस्मात्तस्माच्छान्तिर्मोक्षो वा नास्ति कर्तव्य इत्यर्थः। न हि नित्यैकस्वभावस्य कृतं किंचिदर्थवत्स्यात्।।९३।।

ये यथोक्तं परमार्थतत्त्वं प्रतिपन्नास्ते एवाकृपणा लोके, कृपणा एवान्ये इत्याह—यस्माद्भेदनिम्ना भेदानुयायिनः संसारानुगा इत्यर्थः। के? पृथग्वादाः पृथङ्नाना

अजे साम्ये तु ये केचिद्‌भविष्यन्ति सुनिश्चिताः।
ते हि लोके महाज्ञानास्तच्च लोको न गाहते।।९५।।

अजेष्वजमसंक्रान्तं धर्मेषु ज्ञानमिष्यते।
यतो न क्रमते ज्ञानमसङ्गं तेन कीर्तितम्।।९६।।

उस अज और साम्य रूप परमार्थ तत्त्व में जो कोई स्त्री, पुरुष ("यह ऐसा ही है" इस प्रकार) पूर्ण रूप से निश्चित होंगे, वे ही लोक में निरतिशय तत्त्ववेत्ता हैं। उनसे ज्ञात परमार्थतत्त्व का अवगाहन सामान्य बुद्धि वाला पुरुष नहीं कर सकता।।९५।।

अजन्मा आत्माओं में (सूर्य में उष्णता और प्रकाश के समान) अचल ज्ञान (सदा अर्थान्तर में) संक्रान्त न होने वाला माना जाता है। क्योंकि वह ज्ञान दूसरे विषयों में संक्रान्त नहीं होता। इसीलिए (वह आकाश के समान) असंग कहा गया है।।९६।।

---

वस्त्वित्येवं वदनं येषां ते पृथग्वादा द्वैतिन इत्यर्थः। तस्मात्ते कृपणाः क्षुद्राः स्मृता यस्माद्वैशारद्यं विशुद्धिर्नास्ति तेषां भेदे विचरतां द्वैतमार्गेऽविद्याकल्पिते सर्वदा वर्तमानानामित्यर्थः। अतो युक्तमेव तेषां कार्पण्यमित्यभिप्रायः।।९४।।

यदिदं परमार्थतत्त्वममहात्मभिरपण्डितैर्वेदान्तबहिष्ठैः क्षुद्रैरल्पप्रज्ञैरनवगाह्य-मित्याह—अजे साम्ये परमार्थतत्त्व एवमेवेति ये केचित्स्त्र्यादयोऽपि सुनिश्चिता भविष्यन्ति चेत्त एव हि लोके महाज्ञाना निरतिशयतत्त्वविषयज्ञाना इत्यर्थः। तच्च तेषां वर्त्म तेषां विदितं परमार्थतत्त्वं सामान्यबुद्धिरन्यो लोको न गाहते नावतरति न विषयीकरोतीत्यर्थः।

"सर्वभूतात्मभूतस्य सर्वभूतहितस्य च।
देवा अपि मार्गे मुह्यन्त्यपदस्य पदैषिणः।
शकुनीनामिवाऽऽकाशे गतिर्नैवोपलभ्यते"।

इत्यादिस्मरणात्।।९५।।

कथं तेषां महाज्ञानवत्त्वमित्यत आह—अजेष्वनुत्पन्नेष्वचलेषु धर्मेष्वात्मस्वजमचलं च ज्ञानमिष्यते सवितरीवौष्ण्यं प्रकाशश्च यतस्तस्मादसंक्रान्तमर्थान्तरे ज्ञानमज-मिष्यते। यस्मान्न क्रमतेऽर्थान्तरे ज्ञानं तेन कारणेनासङ्गं तत्कीर्तितमाकाशकल्प-मित्युक्तम्।।९६।।

अणुमात्रेऽपि वैधर्म्ये जायमानेऽविपश्चितः।
असङ्गता सदा नास्ति किमुताऽऽवरणच्युतिः।।९७।।

अलब्धावरणाः सर्वे धर्माः प्रकृतिनिर्मलाः।
आदौ बुद्धास्तथा मुक्ता बुध्यन्त इति नायकाः।।९८।।

क्रमते न हि बुद्धस्य ज्ञानं धर्मेषु तायिनः।

(इससे भिन्न वादियों के मतानुसार) थोड़ी भी विधर्मी वस्तु की उत्पत्ति मानने पर अविवेकी पुरुष की असंगता भी सदा सिद्ध नहीं हो सकती, फिर भला उसके बन्धनाश की बात तो दूर ही रही।।९७।।

सभी आत्मा अविद्यादि रूप बन्धन से शून्य, स्वभाव से ही विशुद्ध, नित्य बुद्ध और मुक्त स्वरूप है। फिर भी वेदान्त के प्रवर्तक आचार्य लोग "आत्मा जान जाते हैं" ऐसा (नित्य प्रकाश स्वरूप होने पर भी सूर्य प्रकाशमान् है,) आत्मा के विषय में कहते हैं।।९८।।

व्यापक ज्ञान वाले परमार्थ तत्त्वदर्शी का ज्ञान विषयान्तर में संक्रात नहीं होता और न (उसके मत में आकाश के सदृश) सभी आत्मा ही अर्थान्तर में संक्रान्त होते हैं,

---

इतोऽन्येषां वादिनामणुमात्रेऽल्पेऽपि वैधर्म्ये वस्तुनि बहिरन्तर्वा जायमाने उत्पद्यमानेऽविपश्चितोऽविवेकिनोऽसङ्गताऽसङ्गत्वं सदा नास्ति किमुत वक्तव्यमावरणच्युतिर्बन्धनाशो नास्तीति।।९७।।

तेषामावरणच्युतिर्नास्तीति ब्रुवतां स्वसिद्धान्तेऽभ्युपगतं तर्हि धर्माणामावरणम्। नेत्युच्यते। अलब्धावरणाः। अलब्धमप्राप्तमावरणमविद्यादिबन्धनं येषां ते धर्मा अलब्धावरणा बन्धनरहिता इत्यर्थः। प्रकृतिनिर्मलाः स्वभावशुद्धा आदौ बुद्धास्तथा मुक्ता यस्मान्नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावाः। यद्येवं कथं तर्हि बुध्यन्त इत्युच्यते। नायकाः स्वामिनः समर्था बोद्धुं बोधशक्तिमत्स्वभावा इत्यर्थः। यथा नित्यप्रकाशस्वरूपोऽपि सविता प्रकाशत इत्युच्यते यथा वा नित्यनिवृत्तगतयोऽपि नित्यमेव शैलास्तिष्ठन्तीत्युच्यते तद्वत्।।९८।।

यस्मान्न हि क्रमते बुद्धस्य परमार्थदर्शिनो ज्ञानं विषयान्तरेषु धर्मेषु धर्मसंस्थं सवितरीव प्रभा। तायिनः तायोऽस्यास्तीति तायी संतानवतो निरन्तरस्याऽऽकाशकल्प-

सर्वे धर्मास्तथा ज्ञानं नैतद्बुद्धेन भाषितम्।।९९।।

दुर्दर्शमतिगम्भीरमजं साम्यं विशारदम्।
बुद्ध्वा पदमनानात्वं नमस्कुर्मो यथाबलम्।।१००।।
इति गौडपादाचार्यकृता माण्डूक्योपनिषत्कारिकाः
संपूर्णाः ।। ॐ तत्सत्।।

पर ऐसा ज्ञान उपदेश बौद्ध ने कहीं भी नहीं कहा। (अर्थात् बौद्ध दर्शन में कहीं पर भी इस तरह की बात नहीं कही गयी है, यह तो औपनिषद सिद्धान्त है)।।९९।।

दुर्दश (अत्यन्त कठिनता से दीखने वाला, अतएव) अति गंभीर अजन्मा निर्विशेष विशुद्ध और भेद रहित पद को यथावत् जानकर हम यथा शक्ति नमस्कार करते हैं।।१००।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्ययतीन्द्रकुलतिलककैलासपीठाधीश्वरपरमादर्शमहामण्डलेश्वरस्वामिविद्यानन्दगिरि-
विरचितामाण्डूक्यकारिकाचतुर्थालातशान्तिप्रकरणस्य विद्यानन्दीमिताक्षरा ।।४।।

---

स्येत्यर्थः। पूजावतो वा प्रज्ञावतो वा। सर्वे धर्मा आत्मानोऽपि तथा ज्ञानवदेवाऽऽकाश-कल्पत्वान्न क्रमन्ते क्वचिदप्यर्थान्तरे इत्यर्थः। यदादावुपन्यस्तं ज्ञानेनाऽऽकाशकल्पेनेत्यादि तदिदमाकाशकल्पस्य तायिनो बुद्धस्य तदनन्यत्वादाकाशकल्पं ज्ञानं न क्रमते क्वचिद-प्यर्थान्तरे। तथा धर्मा इति। आकाशमिवाचलमविक्रियं निरवयवं नित्यमद्वितीयमसङ्गम-दृश्यमग्राह्यमशनायाद्यतीतं ब्रह्मात्मतत्त्वम्। "न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते" इति श्रुतेः। ज्ञानज्ञेयज्ञातृभेदरहितं परमार्थतत्त्वमद्वयमेतन्न बुद्धेन भाषितम्। यद्यपि बाह्यार्थ-निराकरणं ज्ञानमात्रकल्पना चाद्वयवस्तुसामीप्यमुक्तम्। इदं तु परमार्थतत्त्वमद्वैतं वेदान्तेष्वेव विज्ञेयमित्यर्थः।।९९।।

शास्त्रसमाप्तौ परमार्थतत्त्वस्तुत्यर्थं नमस्कार उच्यते। दुर्दर्शं दुःखेन दर्शनमस्येति दुर्दर्शम्। अस्ति नास्तीति चतुष्कोटिवर्जितत्वाद्दुर्विज्ञेयमित्यर्थः। अत एवातिगम्भीरं दुष्प्रवेशं महासमुद्रवदकृतप्रज्ञैः। अजं साम्यं विशारदम्। ईदृक्पदमनानात्वं नानात्ववर्जितं बुद्ध्वाऽवगम्य तद्भूताः सन्तो नमस्कुर्मस्तस्मै पदाय। अव्यवहार्यमपि व्यवहारगोचरतामापाद्य यथाबलं यथाशक्तीत्यर्थः।।१००।।

अजमपि जनियोगं, प्रापदैश्वर्ययोगा-
दगति च गतिमत्तां प्रापदेकं ह्यनेकम्।

विविधविषयधर्मग्राहिमुग्धेक्षणानां
प्रणतभयविहन्तृ ब्रह्म यत्तन्नतोऽस्मि।।१।।
प्रज्ञावैशाखवेधक्षुभितजलनिधेर्वेदनाम्नोऽन्तरस्थं
भूतान्यालोक्य मग्नान्यविरतजननग्राहघोरे समुद्रे।

कारुण्यादुद्दधारामृतमिदममरैर्दुर्लभं भूतहेतो-
र्यस्तं पूज्याभिपूज्यं परमगुरुममुं पादपातैर्नतोऽस्मि ।। २ ।।
यत्प्रज्ञालोकभासा प्रतिहतिमगमत्स्वान्तमोहान्धकारो
मज्जोन्मज्जच्च घोरे ह्यसकृदुपजनोदन्वतित्रासने मे ।

यत्पादावाश्रितानां श्रुतिशमविनयप्राप्तिरग्र्या ह्यमोघा
तत्पादौ पावनीयौ भवभयविनुदौ सर्वभावैर्नमस्ये ।। ३ ।।

*इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजका-
चार्यस्य श्रीशङ्करभगवतः कृतौ गौडपादीयागमशास्त्र-
विवरणेऽलातशान्त्याख्यं चतुर्थप्रकरणं
समाप्तम् ।। ४ ।।
ॐ तत्सत् ।*

✦ पञ्चममाह्निकम् ✦

(1) उपक्रम: ब्रह्मविदाप्नोति परम् (2.1) उपसंहार: स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स

(2) अभ्यास: तस्माद्वा एतस्मादाकाशः सम्भूतः (2.1) यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्ये

,, भीषाऽस्माद्वातः पवते (2.8)

(3) अपूर्वता:- यतो वाचो निवर्तन्तेऽप्राप्य मनसा सह (2.4)

(4) फल: सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति (2.1) (2.7)

अर्थवाद: यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते। अथ सोऽभयं गतो

# ★ तैत्तिरीयोपनिषत् ★

## प्रकरण प्रकाशिका

(5) अर्थवाद: यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति (द्वैतदर्शी की निन्दा) (2.7)

ईशावास्य, बृहदारण्यक = शुक्लयजुर्वेद
काठक, तैत्तिरीयक = कृष्णयजुर्वेद
वैशंपायन शिष्य याज्ञवल्क्य - अनुष्ठान नहीं किया - विद्या वापस वैशंपायन को - सूर्य के रथ पर बैठकर पुनः विद्या प्राप्त किया।

ॐ तत्सद्ब्रह्मणे नमः।

कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयारण्यकान्तर्गता

# तैत्तिरीयोपनिषत्

## भगवत्पादाद्यशङ्कराचार्यविरचितशाङ्करभाष्यसमेता

* * *

(श्रीमच्छङ्करभगवत्पादाचार्यविरचितं भाष्यम्)

यस्माज्जातं जगत्सर्वं यस्मिन्नेव प्रलीयते।
येनेदं धार्यते चैव तस्मै ज्ञानात्मने नमः।।१।।

यैरिमे गुरुभिः पूर्वं पदवाक्यप्रमाणतः।
व्याख्याताः सर्ववेदान्तास्तान्नित्यं प्रणतोऽस्म्यहम्।।२।।

तैत्तिरीयकसारस्य मयाऽऽचार्यप्रसादतः।
विस्पष्टार्थरुचीनां हि व्याख्येयं संप्रणीयते।।३।।

नित्यान्यधिगतानि कर्माण्युपात्तदुरितक्षयार्थानि, काम्यानि च फलार्थिनां पूर्वस्मिन्ग्रन्थे। (नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित्त (साधारण; असाधारण) काम्य.)

इदानीं कर्मोपादानहेतुपरिहाराय ब्रह्मविद्या प्रस्तूयते। कर्महेतुः कामः स्यात्। प्रवर्तकत्वात्। आप्तकामानां हि कामाभावे स्वात्मन्यवस्थानात्प्रवृत्त्यनुपपत्तिः। आत्मकामत्वे चाऽऽप्तकामता। आत्मा हि ब्रह्म। तद्विदो हि परप्राप्तिं वक्ष्यति। अतोऽविद्यानिवृत्तौ स्वात्मन्यवस्थानं परप्राप्तिः। "अभयं प्रतिष्ठां विन्दते" (तै० २.७) "एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति" (तै० २.८) इत्यादिश्रुतेः।

काम्यप्रतिषिद्धयोरनारम्भादारब्धस्य चोपभोगेन क्षयान्नित्यानुष्ठानेन प्रत्यवायाभावादयत्नत एव स्वात्मन्यवस्थानं मोक्षः। अथवा निरतिशयायाः प्रीतेः स्वर्गशब्दवाच्यायाः कर्महेतुत्वात्कर्मभ्य एव मोक्ष इति चेन्न। कर्मानेकत्वात्। अनेकानि ह्यारब्धफलान्यनारब्धफलानि चानेकजन्मान्तरकृतानि विरुद्धफलानि कर्माणि संभवन्ति। अतस्तेष्वनारब्धफलानामेकस्मिञ्जन्मन्युपभोगक्षयासंभवाच्छेषकर्मनिमित्तशरीरारम्भोपपत्तिः, कर्मशेष-

सद्भावसिद्धिश्च। "तद्य इह रमणीयचरणाः" (छा० ५-१०-७) "ततः शेषेण" इत्यादिश्रुतिस्मृतिशतेभ्यः। इष्टानिष्टफलानामनारब्धानां क्षयार्थानि नित्यानीति चेन्न। अकरणे प्रत्यवायश्रवणात्। प्रत्यवायशब्दो ह्यनिष्टविषयः। नित्याकरणनिमित्तस्य प्रत्यवायस्य दुःखरूपस्याऽऽगामिनः परिहारार्थानि नित्यानीत्यभ्युपगमान्नानारब्धफलकर्मक्षयार्थानि। यदि नामानारब्धकर्मक्षयार्थानि नित्यानि कर्माणि तथाऽप्यशुद्धमेव क्षपयेयुर्न शुद्धम्। विरोधाभावात्। न हीष्टफलस्य कर्मणः शुद्धरूपत्वान्नित्यैर्विरोध उपपद्यते। शुद्धाशुद्धयोर्हि विरोधो युक्तः।

न च कर्महेतूनां कामानां ज्ञानाभावे निवृत्त्यसंभवादशेषकर्मक्षयोपपत्तिः। अनात्मविदो हि कामोऽनात्मफलविषयत्वात्स्वात्मनि च कामानुपपत्तिर्नित्यप्राप्तत्वात्स्वयं चाऽऽत्मा परं ब्रह्मेत्युक्तम्। नित्यानां चाकरणमभावस्ततः प्रत्यवायानुपत्तिरिति। अतः पूर्वोपचितदुरितेभ्यः प्राप्यमाणायाः प्रत्यवायक्रियाया नित्याकरणं लक्षणमिति "अकुर्वन्विहितं कर्म" (म.स्मृ. ११-४४) इति हि शतुर्नानुपपत्तिः।

अन्यथाऽभावाद्भावोत्पत्तिरिति सर्वप्रमाणव्याकोप इति। अतोऽयत्नतः स्वात्मन्यवस्थानमित्यनुपपन्नम्।

यच्चोक्तं निरतिशयप्रीतेः स्वर्गशब्दवाच्यायाः कर्मनिमित्तत्वात्कर्मारब्ध एव मोक्ष इति। तन्न। नित्यत्वान्मोक्षस्य। न हि नित्यं किंचिदारभ्यते। लोके यदारब्धं तदनित्यमिति। अतो न कर्मारब्धो मोक्षः। विद्यासहितानां कर्मणां नित्यारम्भसामर्थ्यमिति चेत्। न। विरोधात्। नित्यं चाऽऽरभ्यत इति च विरुद्धम्। यद्विनष्टं तदेव नोत्पद्यत इति। प्रध्वंसाभाववन्नित्योऽपि मोक्ष आरभ्य एवेति चेन्न। मोक्षस्य भावरूपत्वात्। प्रध्वंसाभावोऽप्यारभ्यत इत्यभावस्य विशेषाभावाद्विकल्पमात्रमेतत्। भावप्रतियोगी ह्यभावः।

यथा ह्यभिन्नोऽपि भावो घटपटादिभिर्विशेष्यते। भिन्न इव घटभावः पटभाव इत्येवं निर्विशेषोऽप्यभावः क्रियागुणयोगादद्रव्यादिवद्विकल्प्यते। न ह्यभाव उत्पलादिवद्विशेषणसहभावी। विशेषणवत्त्वे भाव एव स्यात्। विद्याकर्मकर्तृनित्यत्वाद्विद्याकर्मसंतानजनितमोक्षनित्यत्वमिति चेत् गङ्गास्रोतोवत्। न। कर्तृत्वस्य दुःखरूपत्वात्। कर्तृत्वोपरमे च मोक्षविच्छेदात्। तस्मादविद्याकामकर्मोपादानहेतुनिवृत्तौ स्वात्मन्यवस्थानं मोक्ष इति। स्वयं चाऽऽत्मा ब्रह्म तद्विज्ञानादविद्यानिवृत्तिर्मोक्ष इति ब्रह्मविद्यार्थोपनिषदारभ्यते।

हरिः ॐ

शं नो मित्रः शं वरुणः। शं नो भवत्वर्यमा। शं न इन्द्रो बृहस्पतिः। शं नो विष्णुरुरुक्रमः। नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि। ऋतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु। अवतु माम्। अवतु वक्तारम्। ॐ शान्तिः शान्तिःशान्तिः।।

सत्यं वदिष्यामि पञ्च च।।

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि शीक्षाध्याये प्रथमोऽनुवाकः।।१।।

## मिताक्षराहिन्दीव्याख्या

मित्र (प्राणवृत्ति और दिन का अभिमानी सूर्यदेव) हमारे लिए सुख रूप हो। (अपानवृत्ति और रात्रि का अभिमानीदेव) वरुण (हमारे लिए) सुखप्रद होवे। (नेत्र और सूर्य का अभिमानी) अर्यमा हमारे लिए सुखावह हो। बलाभिमानी इन्द्र तथा वाणी और बुद्धि का अभिमानी बृहस्पति हमारे लिए शान्तिवाहक हो और विस्तृत पाद वाला (पादाभिमानी) विष्णु देवता सुखदायक हो। (समस्त कर्मों का फल वायु के अधीन होने से) ब्रह्म रूप वायु को नमस्कार है। हे वायो! तुम्हें नमस्कार है। तुम्हीं प्रत्यक्ष ब्रह्मरूप हो अतः मैं तुम्हीं को प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूँगा। तुम्हीं को ऋत (शास्त्र एवं स्वकर्तव्यानुसार निश्चित अर्थरूप) कहूँगा और सत्य (शरीर-वाणी से सम्पादन किये जाने वाला कार्य रूप सत्य भी मैं तुम्हीं को) कहूँगा। अतः आप (मुझ विद्यार्थी को विद्या प्रदान कर), मेरी रक्षा करो। (वक्तृत्व-सामर्थ्य प्रदान कर) ब्रह्म के निरूपण करने वाले आचार्य की भी रक्षा करो, मेरी रक्षा करो एवं वक्ता की रक्षा करो। त्रिविध ताप की शान्ति हो।

।। इति प्रथमोऽनुवाकः।।

---

उपनिषदिति विद्योच्यते। तच्छीलिनां गर्भजन्मजरादिनिशातनात्तदवसादनाद्वा ब्रह्मणो वोपनिगमयितृत्वादुपनिषण्णं वाऽस्यां परं श्रेय इति। तदर्थत्वाद्ग्रन्थोऽप्युपनिषत्।

शं सुखं प्राणवृत्तेरह्नश्चाभिमानी देवतात्मा मित्रो नोऽस्माकं भवतु। तथैवापानवृत्ते रात्रेश्चाभिमानी देवतात्मा वरुणः। चक्षुष्यादित्ये चाभिमान्यर्यमा। बले इन्द्रः। वाचि बुद्धौ च बृहस्पतिः। विष्णुरुरुक्रमो विस्तीर्णक्रमः पादयोरभिमानी। एवमध्यात्मदेवताः। शं नो भवत्विति सर्वत्रानुषङ्गः। तासु हि सुखकृत्सु विद्याश्रवणधारणोपयोगा अप्रतिबन्धेन भविष्यन्तीति तत्सुखकर्तृत्वं प्रार्थ्यते—शं नो भवत्विति।

अथ शीक्षाध्याये द्वितीयोऽनुवाकः

**ॐ शीक्षां व्याख्यास्यामः। वर्णः स्वरः। मात्रा बलम्।**

**साम संतानः। इत्युक्तः शीक्षाध्यायः।।१।।**

**शीक्षा पञ्च।।**

**इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि शीक्षाध्याये**

**द्वितीयोऽनुवाकः।।२।।**

अब हम शिक्षा की व्याख्या करेंगे। (अकारादि) वर्ण, (उदात्त, अनुदात्त और स्वरित) स्वर (ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत) मात्रा, (वर्णोच्चारण में प्राणों का विशेष रूप) बल, मध्यम वृत्ति से उच्चारण करना रूप) साम तथा सन्तान (संहिता, बस! ये ही इस शिक्षा अध्याय में सीखने योग्य विषय है।) इस प्रकार शिक्षा अध्याय कह दिया गया है ।।१।।

।।इति द्वितीयोऽनुवाकः।।

---

ब्रह्मविविदिषुणा नमस्कारवन्दनक्रिये वायुविषये ब्रह्मविद्योपसर्गशान्त्यर्थं क्रियेते सर्वक्रियाफलानां तदधीनत्वाद्। ब्रह्म वायुस्तस्मै ब्रह्मणे नमः। प्रह्वीभावं करोमीति वाक्यशेषः। नमस्ते तुभ्यं हे वायो। नमस्करोमीति परोक्षप्रत्यक्षाभ्यां वायुरेवाभिधीयते। किंच त्वमेव चक्षुराद्यपेक्ष्य बाह्यं संनिकृष्टमव्यवहितं प्रत्यक्षं ब्रह्मासि यस्मात्तस्मात्त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि। ऋतं यथाशास्त्रं यथाकर्तव्यं बुद्धौ सुपरिनिश्चितमर्थं, तदपि त्वदधीनत्वात्त्वामेव वदिष्यामि। सत्यमिति वाक्कायाभ्यां संपाद्यमानः, सोऽपि त्वदधीन एव संपाद्य इति त्वामेव सत्यं वदिष्यामि। तत्सर्वात्मकं वाय्वाख्यं ब्रह्म मयैवं स्तुतं सन्मां विद्यार्थिनमवतु वक्तारमिति पुनर्वचनमादरार्थम्। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिरिति त्रिर्वचनमाध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकानां विद्याप्राप्त्युपसर्गाणां प्रशमार्थम्।।१।।

*इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ तैत्तिरीयोपनिषच्छीक्षाध्यायभाष्ये प्रथमोऽनुवाकः।।१।।*

अर्थज्ञानप्रधानत्वादुपनिषदो ग्रन्थपाठे यत्नोपरमो मा भूदिति शीक्षाध्याय आरभ्यते— शिक्षा शिक्ष्यतेऽनयेति वर्णाद्युच्चारणलक्षणम्। शिक्ष्यन्त इति वा शिक्षा वर्णादयः। शिक्षैव शीक्षा। दैर्घ्यं छान्दसम्। तां शीक्षां व्याख्यास्यामो विस्पष्टमासमन्तात्कथयिष्यामः। चक्षिङो वा ख्याञादिष्टस्य व्याङ्पूर्वस्य व्यक्तत्वात्क(वाक्क)र्मण एतद्रूपम्। तत्र वर्णोऽकारादिः। स्वर उदात्तादिः। मात्रा ह्रस्वाद्याः। बलं प्रयत्नविशेषः। साम वर्णानां

अथ शीक्षाध्याये तृतीयोऽनुवाकः।

**सह नौ यशः। सह नौ ब्रह्मवर्चसम्। अथातः सꣳहिताया उपनिषदं व्याख्यास्यामः। पञ्चस्वधिकरणेषु। अधिलोकमधिज्यौतिषमधिविद्यमधिप्रजमध्यात्मम्। ता महासꣳहिता इत्याचक्षते। अथाधिलोकम्। पृथिवी पूर्वरूपम्। द्यौरुत्तररूपम्। आकाशः संधिः।।१।।**

(संहितादि उपासना के परिविज्ञान से प्राप्त होने वाला) यश हम शिष्य और आचार्य दोनों को साथ-साथ प्राप्त हो और (उसके निमित्त से होने वाला) ब्रह्म तेज भी हमें साथ-साथ प्राप्त हो। (ग्रन्थ के अध्ययन में अत्यन्त आसक्त बुद्धि वाले पुरुष की सहसा प्रवृत्ति अर्थज्ञान करने में नहीं होती) अतः अब हम पाँच अधिकारियों में संहिता संबन्धिनी उपासना की व्याख्या करेंगे। अधिलोक (लोक विषयक दर्शन), अधिज्यौतिष, अधिविद्य, अधिप्रज और अध्यात्म, ये ही पाँच आश्रय हैं। (विद्वान् लोग) इन्हें महासंहिता इस नाम से कहते हैं। अब अधिलोक उपासना का वर्णन किया जाता है। संहिता के पूर्व वर्ण में पृथिवी दृष्टि करनी चाहिए। अंतिम वर्ण द्युलोक है, मध्यभाग आकाश है।।१।।

---

मध्यमवृत्त्योच्चारणं समता। संतानः संततिः। संहितेत्यर्थः। एष हि शिक्षितव्योऽर्थः। शिक्षा यस्मिन्नध्याये सोऽयं शीक्षाध्याय इत्येवमुक्त उदित उक्त इत्युपसंहार उत्तरार्थः।।१।।

*इतिश्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ तैत्तिरीयोपनिषच्छीक्षाध्यायभाष्ये द्वितीयोऽनुवाकः।।२।।*

अधुना संहितोपनिषदुच्यते। तत्र संहिताद्युपनिषत्परिज्ञाननिमित्तं यद्यशः प्राप्यते तन्नावावयोः शिष्याचार्ययोः सहैवास्तु। तन्निमित्तं च यद्ब्रह्मवर्चसं तेजस्तच्च सहैवास्त्विति शिष्यवचनमाशीः। शिष्यस्य ह्यकृतार्थत्वात्प्रार्थनोपपद्यते नाऽऽचार्यस्य कृतार्थत्वात्। कृतार्थो ह्याचार्यो नाम भवति।

अथानन्तरमध्ययनलक्षणविधानस्य पूर्ववृत्तस्य यतोऽत्यर्थं ग्रन्थभाविता बुद्धिर्न शक्यते सहसाऽर्थज्ञानविषयेऽवतारयितुमित्यतः संहिताया उपनिषदं संहिताविषयं दर्शनमित्येतद्ग्रन्थसंनिकृष्टमेव व्याख्यास्यामः। पञ्चस्वधिकरणेष्वाश्रयेषु ज्ञानविषयेष्वित्यर्थः। कानि तानीत्याह—अधिलोकं लोकेष्वधि यद्दर्शनं तदधिलोकम्। तथाऽधिज्यौतिषमधिविद्यमधिप्रजमध्यात्ममिति। ता एताः पञ्चविषया उपनिषदो लोकादिमहावस्तु विषयत्वात्-

(+) कृतार्थो हि आचार्यः भवति.



वायुः संधानम्। इत्यधिलोकम्। अथाधिज्यौतिषम्। अग्निः पूर्वरूपम्। आदित्य उत्तररूपम्। आपः संधिः। वैद्युतः संधानम्। इत्यधिज्यौतिषम्। अथाधिविद्यम्। (+) आचार्यः पूर्वरूपम्।।२।।

अन्तेवास्युत्तररूपम्। विद्या संधिः। प्रवचनꣳसंधानम्। इत्यधिविद्यम्। अथाधिप्रजम्। माता पूर्वरूपम्। पितोत्तररूपम्। प्रजा संधिः। प्रजननꣳसंधानम्। इत्यधिप्रजम्।।३।

और वायु उसका परस्पर सम्बन्ध कराने वाला है, (संहिता में ऐसी दृष्टि करने के लिए) यह अधिलोक दर्शन कहा गया इसके बाद अधिज्यौतिष दर्शन कहा जाता है। यहाँ पर पूर्व वर्ण में अग्नि दृष्टि करनी चाहिए, अंतिम वर्ण द्युलोक है, जल मध्य भाग है और विद्युत् परस्पर सम्बन्ध कराने वाली है। (अधिज्यौतिष उपासक को संहिता में ऐसी दृष्टि करने के लिए) यह अधिज्यौतिष दर्शन कहा गया। इसके बाद अधिविद्य दर्शन कहा जाता है। यहाँ पर संहिता के प्रथम वर्ण में आचार्य दृष्टि करे।।२।।

अंतिम वर्ण शिष्य है, विद्या दोनों का सम्बन्ध कराने वाली संधि है। (और प्रश्नोत्तर रूप) प्रवचन दोनों का संधान है, (अधिविद्य उपासक को ऐसी दृष्टि करने के लिए) यह विद्या सम्बन्धी दर्शन कह दिया। अब अधिप्रज कहा जाता है। यहाँ पर संधि के पूर्व वर्ण में मातृ दृष्टि करे, अंतिम वर्ण पिता है, सन्तान सन्धि है और (ऋतुकाल में भार्याभिगमन रूप) प्रजनन सन्धान है। (अधिप्रज उपासक को ऐसी दृष्टि करने के लिए) यह सन्तान सम्बन्धी उपासना बतलायी गयी है।।३।।

---

संहिताविषयत्वाच्च महत्यश्च ताः संहिताश्च महासंहिता इत्याचक्षते कथयन्ति वेदविदः। अथ तासां यथोपन्यस्तानामधिलोकं दर्शनमुच्यते। दर्शनक्रमविवक्षार्थोऽथशब्दः सर्वत्र। पृथिवी पूर्वरूपं पूर्वो वर्णः पूर्वरूपम्। संहितायाः पूर्वे वर्णे पृथिवीदृष्टिः कर्तव्येत्युक्तं भवति। तथा द्यौरुत्तररूपमाकाशोऽन्तरिक्षलोकः। संधिर्मध्यं पूर्वोत्तररूपयोः, संधीयेते अस्मिन्पूर्वोत्तररूपे इति।।

वायुः संधानम्। संधीयतेऽनेनेतिसंधानम्। इत्यधिलोकं दर्शनमुक्तम्। अथाधिज्यौतिषमित्यादि समानम्।

इतीमा इत्युक्ता उपप्रदर्श्यन्ते। यः कश्चिदेवमेता महासंहिता व्याख्याता वेदोपास्ते। वेदेत्युपासनं स्याद्विज्ञानाधिकारात् "इति प्राचीनयोग्योपास्व" (तै.उ.१-६) इति वचनात्।

**अथाध्यात्मम्। अधरा हनुः पूर्वरूपम्। उत्तरा हनुरुत्तररूपम्। वाक्संधिः। जिह्वा संधानम्। इत्यध्यात्मम्। इतीमा महासꣳहिताः। य एवमेता महासꣳहिता व्याख्याता वेद। संधीयते प्रजया पशुभिः। ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन सुवर्ग्येण लोकेन।।४।।**

**संधिराचार्यः पूर्वरूपमित्यधिप्रजं लोकेन।।**

**इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि शीक्षाध्याये**

**तृतीयोऽनुवाकः।।३।।**

अथ शीक्षाध्याये चतुर्थोऽनुवाकः

**यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः। छन्दोभ्योऽध्यमृता-**

यहाँ पर सन्धि के प्रथम वर्ण में नीचे के हनु दृष्टि करे, अन्तिम वर्ण ऊपर का हनु है। वाणी सन्धि है और जिह्वा दोनों के सम्बन्ध कराने वाली है। अध्यात्म उपासक को ऐसी दृष्टि करने के लिए यह अध्यात्म दर्शन कहा गया है। इस प्रकार ये महासंहिताएँ कही जाती हैं। जो उपासक इस प्रकार व्याख्या की गयी इन महासंहिताओं की उपासना करता है, वह प्रजा, पशु, ब्रह्मतेज, अन्न तथा स्वर्ग लोक से सम्बन्ध प्राप्त कर लेता है।।४।।

।।इति तृतीयोऽनुवाकः।।

जो (प्रणव) वेदों में (श्रेष्ठ होने के कारण) ऋषभ और (सम्पूर्ण वाणी में व्याप्त होने के कारण) सर्वरूप है तथा वेद रूप अमृत से प्रधान रूप में प्रादुर्भूत हुआ है, वह (ओंकार सम्पूर्ण

---

उपासनं च यथाशास्त्रं तुल्यप्रत्ययसंततिरसंकीर्णा चातत्प्रत्ययैः, शास्त्रोक्तालम्बनविषया च। प्रसिद्धश्चोपासनशब्दार्थो लोके गुरुमुपास्ते (स्ते), राजानमुपास्त इति, यो हि गुर्वादीन्संततमुपचरति स उपास्त इत्युच्यते। स च फलमाप्नोत्युपासनस्य। अतोऽत्रापि च य एवं वेद संधीयते प्रजादिभिः स्वर्गान्तैः प्रजादिफलान्याप्नोतीत्यर्थः।।१-४।।

*इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ तैत्तिरीयोपनिषच्छीक्षाध्यायभाष्ये तृतीयोऽनुवाकः।।३।।*

यश्छन्दसामिति। मेधाकामस्य श्रीकामस्य च तत्प्राप्तिसाधनं जपहोमावुच्येते। "स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु" (तैत्ति उ. १-४-१) "ततो मे श्रियमावह" (तैत्ति उ. १-४-२) इति च लिङ्गदर्शनात्। यश्छन्दसां वेदानामृषभ इवर्षभः प्राधान्यात्। विश्वरूपः सर्वरूपः

त्संबभूव। स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु। अमृतस्य देव धारणो भूयासम्। शरीरं मे विचर्षणम्। जिह्वा मे मधुमत्तमा। कर्णाभ्यां भूरि विश्रुवम्। ब्रह्मणः कोशोऽसि मेधया पिहितः। श्रुतं मे गोपाय। आवहन्ती वितन्वाना।।१।।

कुर्वाणाऽचीरमात्मनः। वासांꣳसि मम गावश्च। अन्न-पाने च सर्वदा। ततो मे श्रियमावह। लोमशां पशुभिः सह स्वाहा। आ मा यन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। वि माऽऽयन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। प्र माऽऽयन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। दमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। शमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा।।२।।

कामनाओं का स्वामी होने से) परमेश्वर मुझे मेधा द्वारा प्रसन्न या सबल करे। हे देव! मैं अमृतत्व (के हेतुभूत ब्रह्मज्ञान) का धारण करने वाला होऊँ तथा मेरा शरीर योग्य हो। मेरी जिह्वा अतिशय मधुर-भाषिणी हो। मैं कानों से अधिक मात्रा में श्रवण करूँ। हे प्रणव! तू ब्रह्म का कोश है (क्योंकि तुझमें ब्रह्म की उपलब्धि होती है) और तू लौकिक बुद्धि से ढका हुआ है। (इसीलिए सामान्य बुद्धि वाले पुरुष को तेरे तत्त्व का ज्ञान नहीं होता)। मेरे सुने हुए आत्मविज्ञानादि की रक्षा करो।।१।।

(ये मन्त्र मेधाकामी पुरुषों के जप के लिए है। अब लक्ष्मीकाम पुरुषों को होम करने के लिए मन्त्र बतलाते हैं। बुद्धि-प्राप्ति के बाद लक्ष्मी अनर्थकारी नहीं होती है, अतः हे देव!) मेरे लिए लाने वाली विस्तार करने वाली लक्ष्मी वस्त्र गौ अन्नपान को सर्वदा शीघ्र ही लाओ। उक्त प्रकार की श्री को ऊन वाले तथा अन्य पशुओं के सहित बुद्धि प्राप्त कराने के बाद मेरे पास लाओ-स्वाहा। ब्रह्मचारी मेरे पास आवें-स्वाहा। ब्रह्मचारी लोग मेरे प्रति निष्कपट भाव हों-स्वाहा। ब्रह्मचारी लोग यथार्थ ज्ञान को धारण करें—स्वाहा। ब्रह्मचारी लोग इन्द्रिय निग्रह करें-स्वाहा। ब्रह्मचारी लोग मनोनिग्रह करें - स्वाहा। (स्वाहान्त मन्त्र होम के लिए हैं) ।।२।।

---

सर्ववाग्व्याप्तेः "तद्यथा शङ्कुना" (छा. उ. २-२३-३) इत्यादिश्रुत्यन्तरात्। अत एवर्षभत्वमोंकारस्य। ओंकारो ह्यत्रोपास्य इति ऋषभादिशब्दैः स्तुतिर्न्याय्यैवोंकारस्य। छन्दोभ्यो वेदेभ्यो वेदा ह्यमृतं तस्मादमृतादधिसंबभूव। लोकदेववेदव्याहृतिभ्यः सारिष्ठं जिघृक्षोः प्रजापतेस्तपस्यत ओंकारः सारिष्ठत्वेन प्रत्यभादित्यर्थः। न हि नित्यस्योंकारस्याञ्जसैवोत्पत्तिरवकल्पते। स एवंभूत ओंकार इन्द्रः सर्वकामेशः परमेश्वरो

**यशो जनेऽसानि स्वाहा। श्रेयान्वस्यसोऽसानि स्वाहा। तं त्वा भग प्रविशानि स्वाहा। स मा भग प्रविश स्वाहा। तस्मिन्सहस्रशाखे। नि भगाहं**

मैं जनता में यशस्वी होऊँ-स्वाहा। मैं अत्यन्त प्रशंसनीय और धनी पुरुषों में विशेष धनी होऊँ-स्वाहा। हे भगवन्! (ब्रह्म के उपलब्धि स्थान होने से कोशरूप) तुझमें मैं प्रवेश कर जाऊँ-स्वाहा। हे भगवन्! वह तू मुझमें प्रवेश कर-स्वाहा। (अर्थात् हम दोनों अभिन्न हो जावें)। हे भगवन्! उस

---

मा मां मेधया प्रज्ञया स्पृणोतु प्रीणयतु बलयतु वा। प्रज्ञाबलं हि प्रार्थ्यते। अमृतस्यामृतत्वहेतु-भूतस्य ब्रह्मज्ञानस्य तदधिकारात्, हे देव! धारणो धारयिता भूयासं भवेयम्। किंच शरीरं मे मम विचर्षणं विचक्षणं योग्यमित्येतत्। भूयादिति पुरुषविपरिणामः।

जिह्वा मे मधुमत्तमा मधुमत्यतिशयेन मधुरभाषिणीत्यर्थः। कर्णाभ्यां श्रोत्राभ्यां भूरि बहु विश्रुवं व्यश्रवं(?) श्रोता भूयासमित्यर्थः। आत्मज्ञानयोग्यः कार्यकरणसंघातोऽस्त्विति वाक्यार्थः। मेधा च तदर्थमेव हि प्रार्थ्यते। ब्रह्मणः परमात्मनः कोशोऽसि। असेरिवोपलब्ध्यधिष्ठानत्वात्। त्वं हि ब्रह्मणः प्रतीकं त्वयि ब्रह्मोपलभ्यते। मेधया लौकिकप्रज्ञया पिहित आच्छादितः स त्वं सामान्यप्रज्ञैरविदिततत्त्व इत्यर्थः। श्रुतं श्रवणपूर्वकमात्मज्ञानादिकं मे गोपाय रक्ष। तत्प्राप्त्यविस्मरणादि कुर्वित्यर्थः। जपार्था एते मन्त्रा मेधाकामस्य। होमार्थास्त्वधुना श्रीकामस्य मन्त्रा उच्यन्ते। आवहन्त्यानयन्ती। वितन्वाना विस्तारयन्ती। तनोतेस्तत्कर्मत्वात्। कुर्वाणा निर्वर्तयन्ती। अचीरमचिरं क्षिप्रमेव। छान्दसो दीर्घः। चिरं वा कुर्वाणा।

आत्मनो मम, किमित्याह—वासांसि वस्त्राणि मम गावश्च गाश्चेति यावत्। अन्नपाने च सर्वदैवमादीनि कुर्वाणा श्रीर्या तां ततो मेधानिर्वर्तनात्परमावहाऽऽनय। अमेधसो हि श्रीरनर्थायैवेति। किंविशिष्टाम्। लोमशामजाव्यादियुक्तामन्यैश्च पशुभिः संयुक्तामावहेत्यधिकारादोंकारे एवाभिसंबध्यते। स्वाहा, स्वाहाकारो होमार्थमन्त्रान्तज्ञापनार्थः। आयन्तु मामिति व्यवहितेन संबन्धः। ब्रह्मचारिणो विमाऽऽयन्तु प्र माऽऽयन्तु दमायन्तु शमायन्त्वित्यादि।।१-२।।

यशो यशस्वी जने जनसमूहेऽसानि भवानि। श्रेयान्प्रशस्यतरो वस्यसो वसीयसो वसुतराद्वसुमत्तराद्वाऽसानीत्यन्वयः। किंच तं ब्रह्मणः कोशभूतं त्वा त्वां हे भग भगव-न्पूजावन्प्रविशानि प्रविश्य चानन्यस्त्वदात्मैव भवानीत्यर्थः। स त्वमपि मा मां भग

**त्वयि मृजे स्वाहा। यथाऽऽपः प्रवता यन्ति। यथा मासा अहर्जरम्। एवं मां ब्रह्मचारिणः। धातरायन्तु सर्वतः स्वाहा। प्रतिवेशोऽसि प्र मा भाहि प्र मा पद्यस्व।।३।।**

**वितन्वाना शमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा धातरायन्तु**
**सर्वतः स्वाहैकं च।।**

**इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि शीक्षाध्याये**
**चतुर्थोऽनुवाकः।।४।।**

अनेकों शाखा भेद वाले तुझमें मैं अपने पाप कर्मों का शोधन करता हूँ-स्वाहा। जैसे लोक में जल निम्न देश की ओर जाता है और जैसे महीने संवत्सर में जाते हैं, हे धातः! उसी प्रकार मेरे पास सभी ओर से ब्रह्मचारी आवें-स्वाहा। तू (शरणापन्नों के दुःख निवृत्ति के लिए) आश्रय स्थान है। अतः तुम मेरे प्रति प्रकाशमान होओ। मुझे (पारदयुक्त लोहे के समान) अपने से अभिन्न कर लो।।३।।

।। इति चतुर्थोऽनुवाकः।।

---

भगवन्पूजावन्प्रविशाऽऽवयोरेकत्वमेवास्तु। तस्मिंस्त्वयि सहस्रशाखे बहुभेदे निमृजे शोधयाम्यहं पापकृत्याम्। यथा लोक आपः प्रवता प्रवणता निम्नवता देशेन यन्ति गच्छन्ति। यथा च मासा अहर्जरं संवत्सरोऽहर्जरः। अहोभिः परिवर्तमानो लोकाञ्जरयतीत्यहानि वाऽस्मिञ्जीर्यन्त्यन्तर्भवन्तीत्यहर्जरः। तं च यथा मासा यन्त्येवं मां ब्रह्मचारिणो हे धातः सर्वस्य विधातः, मामायन्त्वागच्छन्तु सर्वतः सर्वदिग्भ्यः। प्रतिवेशः श्रमापनयनस्थानमासन्नगृहमित्यर्थः। एवं त्वं प्रतिवेश इव प्रतिवेशस्त्वच्छीलिनां सर्वपापदुःखापनयनस्थानमसि अतो मा मां प्रति प्रभाहि प्रकाशयाऽऽत्मानं प्रपद्यस्व च मां रसविद्धमिव लोहं त्वन्मयं त्वदात्मानं कुर्वित्यर्थः। श्रीकामोऽस्मिन्विद्याप्रकरणेऽभिधीयमानो धनार्थः। धनं च कर्मार्थम्। कर्म चोपात्तदुरितक्षयाय। तत्क्षये हि विद्या प्रकाशते।

तथा च स्मृतिः—

"ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः।
यथाऽऽदर्शतले प्रख्ये पश्यन्त्यात्मानमात्मनि" (महा. मोक्षधर्मसर्ग २०४-८) इति।।३।।

*इतिश्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ तैत्तिरीयोपनिषच्छीक्षाध्यायभाष्ये चतुर्थोऽनुवाकः।।४।।*

व्याहृति स्वरूप ब्रह्म की उपासना

अथ शीक्षाध्याये पञ्चमोऽनुवाकः

भूर्भुवः सुवरिति वा एतास्तिस्रो व्याहृतयः। तासामु ह स्मैतां चतुर्थीम्। माहाचमस्यः प्रवेदयते। मह इति। तद्ब्रह्म। स आत्मा। अङ्गान्यन्या देवताः। भूरिति वा अयं लोकः। भुव इत्यन्तरिक्षम्। सुवरित्यसौ लोकः।।१।।

मह इत्यादित्यः। आदित्येन वाव सर्वे लोका महीयन्ते। भूरिति वा अग्निः। भुव इति वायुः। सुवरित्यादित्यः। मह इति चन्द्रमाः। चन्द्रमसा वाव सर्वाणि ज्योतीꣳषि महीयन्ते। भूरिति वा ऋचः। भुव इति सामानि। सुवरिति यजूꣳषि।।२।।

'भूः, भुवः और सुवः' ये प्रसिद्ध तीन व्याहृतियाँ हैं, उनमें से "महः" इस चतुर्थी व्याहृति को महाचमस का पुत्र जानता था (ऋषि का अनुस्मरण उपासना के एक अङ्ग रूप में किया गया है) "महः" ही वह ब्रह्म है, वही आत्मा है, अन्य देवता तो उसके अंग हैं। "भूः" यह व्याहृति पृथिवी लोक रूप है, "भुवः" यह व्याहृति अन्तरिक्ष लोक है और "सुवः" यह स्वर्ग लोक है ।।१।।

तथा "महः" आदित्य रूप है क्योंकि आदित्य से ही सभी लोक वृद्धि को प्राप्त होते हैं। "भूः" यह व्याहृति अग्नि है "भुवः" वायु है, "सुवः" आदित्य है और "महः" चन्द्रमा है क्योंकि चन्द्रमा से ही ज्योतियाँ वृद्धि को प्राप्त होती हैं। "भूः" यह ऋग्वेद रूप है, "भुवः" साम है "सुवः" यजुर्वेद है ।।२।।

---

संहिताविषयमुपासनमुक्तं तदनु मेधाकामस्य श्रीकामस्य मन्त्रा अनुक्रान्तास्ते च पारम्पर्येण विद्योपयोगार्था एव। अनन्तरं व्याहृत्यात्मनो ब्रह्मणोन्तरुपासनं स्वाराज्यफलं प्रस्तूयते। भूर्भुवः सुवरितीत्युक्तोपप्रदर्शनार्थः। एतास्तिस्र इति प्रदर्शितानां परामर्शार्थः। परामृष्टाः स्मार्यन्ते वा इत्यनेन। तिस्र एताः प्रसिद्धा व्याहृतयः स्मार्यन्ते तावत्। तासामियं चतुर्थी व्याहृतिर्मह इति। तामेतां चतुर्थी महाचमसस्यापत्यं माहाचमस्यः प्रवेदयते। 'उ' 'ह' 'स्म', इत्येतेषां वृत्तानुकथनार्थत्वाद्विदितवान्ददर्शेत्यर्थः। माहाचमस्यग्रहणमार्षानुस्मरणार्थम्। ऋष्यनुस्मरणमप्युपासनाङ्गमिति गम्यत इहोपदेशात्। येयं माहाचमस्येन दृष्टा व्याहृतिर्मह इति तद्ब्रह्म महद्धि ब्रह्म। महश्च व्याहृतिः।

मह इति ब्रह्म। ब्रह्मणा वाव सर्वे वेदा महीयन्ते। भूरिति वै प्राणः। भुव इत्यपानः। सुवरिति व्यानः। मह इत्यन्नम्। अन्नेन वाव सर्वे प्राणा महीयन्ते। ता वा एताश्चतस्रश्चतुर्धा। चतस्रश्च-तस्रो व्याहृतयः। ता यो वेद। स वेद ब्रह्म। सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति।।३।।

असौ लोको यजूꣳषि वेद द्वे च।।

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि शीक्षाध्याये पञ्चमोऽनुवाकः।।५।।

और "महः" ब्रह्म (ओंकार स्वरूप) है क्योंकि ब्रह्म से ही समस्त वेद वृद्धि को प्राप्त होते हैं। "भूः" यही व्याहृति प्राण है, "भुवः" यह अपान है, "सुवः" यह व्याहृति व्यान है और "महः" यह अन्न रूप है क्योंकि अन्न से ही सभी प्राण वृद्धि को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार ये चारों व्याहृतियाँ चार-चार प्रकार की हैं तथा प्रत्येक व्याहृतियों की उपासना के लिए चार-चार भेद बतलाये गये हैं। जो इनकी उपासना करता है, उसके लिए सभी देवगण स्वाराज्य प्राप्ति के अनन्तर उपहार लाते हैं।।३।।

।।इति पञ्चमोऽनुवाकः।।

---

किं पुनस्तत्। स आत्मा। आप्नोतेर्व्याप्तिकर्मण आत्मा। इतराश्च व्याहृतयो लोका देवा वेदाः प्राणाश्च मह इत्यनेन व्याहृत्यात्मनाऽऽदित्यचन्द्रब्रह्मान्नभूतेन व्याप्यन्ते यतः। अतोऽङ्गान्यवयवा अन्या देवताः। देवताग्रहणमुपलक्षणार्थं लोकादीनाम्। मह इत्येतस्य व्याहृत्यात्मनो देवलोकादयः सर्वेऽवयवभूताः। यत आहाऽऽदित्यादिभिर्लोकादयो महीयन्त इति। आत्मना ह्यङ्गानि महीयन्ते महनं वृद्धिरुपचयो महीयन्ते वर्धन्ते इत्यर्थः। अयं लोकोऽग्निर्ऋग्वेदः प्राण इति प्रथमा व्याहृतिर्भूरिति। एवमुत्तरोत्तरैकैका चतुर्धा भवति।

मह इति ब्रह्म। ब्रह्मेत्योंकारः। शब्दाधिकारेऽन्यस्यासंभवात्। उक्तार्थमन्यत्। ता वा एताश्चतस्रश्चतुर्धेति। ता वा एता भूर्भुवः सुवर्मह इति चतस्र एकैकशश्चतुर्धा चतुष्प्रकाराः। धाशब्दः प्रकारवचनः। चतस्रश्चतस्रः सत्यश्चतुर्धा भवन्तीत्यर्थः। तासां यथाक्लृप्तानां पुनरुपदेशस्तथैवोपासननियमार्थः। ता यथोक्तव्याहृतीर्यो वेद स वेद

ब्रह्म का उपलब्धि स्थान हृदयाकाश है।

अथ शीक्षाध्याये षष्ठोऽनुवाकः

स य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः। तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः। अमृतो हिरण्मयः। अन्तरेण तालुके। य एष स्तन इवावलम्बते। सेन्द्रयोनिः। यत्रासौ केशान्तो विवर्तते। व्यपोह्य शीर्षकपाले। भूरित्यग्नौ प्रतितिष्ठति। भुव इति वायौ।।१।।

परमात्म प्राप्ति द्वार

वह यह जो हृदय के भीतर आकाश है, उसी में वह मनोमय, अमृतमय, हिरण्मय पुरुष विद्यमान् है। तालुओं के बीच में जो यह स्तन के समान मांसखण्ड लटकता सा दीखता है और जहाँ केशों का मूल भाग विभक्त होता है उस मूर्ध प्रदेश में शिरस्थ कपाल को भेदकर (सुषुम्ना नाड़ी) निकल गयी है, वह परमात्मा का प्राप्तिद्वार है। (इस प्रकार उपासक मरण के समय मूर्धा का भेदन कर) "भूः" इस व्याहृति स्वरूप अग्नि में स्थित हो जाता है (अर्थात् अग्निरूप होकर इस लोक को व्याप्त कर लेता है) "भुवः" इस व्याहृति के चिन्तन से वायु में स्थित हो जाता है ।।१।।

---

विजानाति। किं ब्रह्म। ननु—तद्ब्रह्म स आत्मेति ज्ञाते ब्रह्मणि न वक्तव्यमविज्ञात-वत्स वेद ब्रह्मेति। न। तद्विशेषविवक्षुत्वाददोषः। सत्यं विज्ञातं चतुर्थव्याहृत्यात्मा ब्रह्मेति न तु तद्विशेषो हृदयान्तरुपलभ्यत्वं मनोमयत्वादिश्च। 'शान्तिसमृद्धम्' इत्येव-मन्तो विशेषणविशेष्यरूपो धर्मपूगो विज्ञायत इति तद्विवक्षुर्हि (क्षु हि?) शास्त्रमविज्ञातमिव ब्रह्म मत्वा स वेद ब्रह्मेत्याह। अतो न दोषः। यो हि वक्ष्यमाणेन धर्म-पूगेन(ण) विशिष्टं ब्रह्म वेद स वेद ब्रह्मेत्यभिप्रायः। अतो वक्ष्यमाणानुवाकेनै-कवाक्यताऽस्योभयोर्ह्यनुवाकयोरेकमुपासनम्। लिङ्गाच्च भूरित्यग्नौ प्रतितिष्ठतीत्यादिकं लिङ्गमुपासनैकत्त्वे। विधायकाभावाच्च। न हि वेद उपासितव्य इति विधायकः कश्चिच्छब्दोऽस्ति व्याहृत्यनुवाके। 'ता यो वेद' इति च वक्ष्यमाणार्थत्वान्नोपासनभेदकः। वक्ष्यमाणार्थत्वं च तद्विशेषविवक्षुत्वादित्यादिनोक्तम्। सर्वे देवा अस्मा एवं विदुषेऽङ्गभूता आवहन्त्यानयन्ति बलिं स्वाराज्यप्राप्तौ सत्यामित्यर्थः।।१-३।।

*इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ तैत्तिरीयोपनिषच्छीक्षाध्यायभाष्ये पञ्चमोऽनुवाकः।।५।।*

भूर्भुवःसुवःस्वरूपा मह इत्येतस्य व्याहृत्यात्मनो ब्रह्मणोऽङ्गान्यन्या देवता इत्युक्तम्। यस्य ता अङ्गभूतास्तस्यैतस्य ब्रह्मणः साक्षादुपलब्ध्यर्थमुपासनार्थं च

**सुवरित्यादित्ये। मह इति ब्रह्मणि। आप्नोति स्वा-राज्यम्। आप्नोति मनसस्पतिम्। वाक्पतिश्चक्षु-ष्पतिः। श्रोत्रपतिर्विज्ञानपतिः। एतत्ततो भवति।**

"सुवः" इस व्याहृति की उपासना से आदित्य में और "महः" इस चतुर्थी व्याहृति की उपासना से अङ्गी ब्रह्म में स्थित हो जाता है। आत्मा स्वरूप से स्थित होने पर वह देवताओं के (आधिपत्य रूप) स्वाराज्य को प्राप्त कर लेता है तथा सर्वात्मक होने के कारण मन के पति ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है तथा वाणी का पति, चक्षु का पति, श्रोत्र का पति और सभी विद्वानों का भी स्वामी हो जाता है (अर्थात् सर्वात्मक होने से सभी प्राणियों की इन्द्रियों से वह इन्द्रियवान् हो जाता है) इससे

---

हृदयाकाशः स्थानमुच्यते शालग्राम इव विष्णोः। तस्मिन्हि तद्ब्रह्मोपास्यमानं मनोमयत्वादिधर्मविशिष्टं साक्षादुपलभ्यते पाणाविवाऽऽमलकम्। मार्गश्च सर्वात्मभावप्रतिपत्तये वक्तव्य इत्यनुवाक आरभ्यते—

स इति व्युत्क्रम्य 'अयं पुरुषः' इत्यनेन संबध्यते। य एषोऽन्तर्हृदये हृदयस्यान्त-र्हृदयमिति पुण्डरीकाकारो मांसपिण्डः प्राणायतनोऽनेकनाडीसुषिर ऊर्ध्वनालोऽधोमुखो विशस्यमाने पशौ प्रसिद्ध उपलभ्यते। तस्यान्तर्य एष आकाशः प्रसिद्ध एव करका-काशवत्। तस्मिन्सोऽयं पुरुषः। पुरि शयनात्पूर्णा वा भूरादयो लोका येनेति पुरुषो मनोमयः। मनो विज्ञानम्। मनुतेर्ज्ञानकर्मणस्तन्मयस्तदुपलभ्यत्वात्। मनुतेऽनेनेति वा मनोऽन्तःकरणं तदभिमानी तन्मयस्तल्लिङ्गो वा। अमृतोऽमरणधर्मा हिरणमयो ज्योतिर्मयः। तस्यैवंलक्षणस्य हृदयाकाशे साक्षात्कृतस्य विदुष आत्मभूतस्येन्द्रस्येदृशस्वरूपप्रतिपत्तये मार्गोऽभिधीयते। हृदयादूर्ध्वं प्रवृत्ता सुषुम्ना नाम नाडी योगशास्त्रेषु च प्रसिद्धा। सा चान्तरेण मध्ये प्रसिद्धे तालुके तालुकयोर्गता। यश्चैष तालुकयोर्मध्ये स्तन इवावलम्बते मांसखण्डस्तस्य चान्तरेणेत्येतत्। यत्र च केशान्तः केशानामन्तोऽवसानं मूलं केशान्तो विवर्तते विभागेन वर्तते मूर्धप्रदेश इत्यर्थः। तं देशं प्राप्य तत्र विनिःसृता। व्यपोह्य विभज्य विदार्य शीर्षकपाले शिरःकपाले विनिर्गता या सेन्द्रयोनिरिन्द्रस्य ब्रह्मणो योनिर्मार्गः स्वरूपप्रतिपत्तिद्वारमित्यर्थः। तयैवं विद्वान्मनोमयात्मदर्शी मूर्ध्नो विनिष्क्रम्यास्य लोकाधिष्ठाता भूरितिव्याहृतिरूपो योऽग्निर्महतो ब्रह्मणोऽङ्गभूतस्तस्मिन्नग्नौ प्रतितिष्ठत्य-ग्न्यात्मनेमं लोकं व्याप्नोतीत्यर्थः। तथा भुव इति द्वितीयव्याहृत्यात्मनि वायौ। प्रतितिष्ठतीत्यनुवर्तते।।१।।

**आकाशशरीरं ब्रह्म। सत्यात्म प्राणारामं मनआनन्दम्। शान्तिसमृद्धममृतम्। इति प्राचीनयोग्योपास्स्व।।२।।**

**इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि शीक्षाध्याये षष्ठोनुवाकः।।६।।**

भी बड़ा हो जाता है। वह आकाशशरीर वाला त्रिकालाबाध्य, सत्यस्वरूप प्राणाराम और सुखकारी मन वाला शान्ति से युक्त तथा अमृतस्वरूप ब्रह्म हो जाता है। हे प्राचीनयोग्य! इस प्रकार तू (उस ब्रह्म की) उपासना कर।।२।।

।। इति षष्ठोऽनुवाकः।।

---

सुवरिति तृतीयव्याहृत्यात्मन्यादित्ये। मह इत्यङ्गिनि चतुर्थव्याहृत्यात्मनि ब्रह्मणि प्रतितिष्ठति। तेष्वात्मभावेन स्थित्वाऽऽप्नोति ब्रह्मभूतः स्वाराज्यं स्वराड्भावं स्वयमेव राजाऽधिपतिर्भवत्यङ्गभूतानां देवानां यथा ब्रह्म। देवाश्च सर्वेऽस्मै बलिमावहन्त्यङ्गभूता यथा ब्रह्मणे। आप्नोति मनसस्पतिम्। सर्वेषां हि मनसां पतिः सर्वात्मकत्वाद्ब्रह्मणः सर्वैर्हि मनोभिस्तन्मनुते। तदाप्नोत्येवं विद्वान्। किंच वाक्पतिः सर्वासां वाचां पतिर्भवति। तथैव चक्षुष्पतिश्चक्षुषां पतिः श्रोत्रपतिः श्रोत्राणां पतिः। विज्ञानपतिर्विज्ञानानां च पतिः। सर्वात्मकत्वात्सर्वप्राणिनां करणैस्तद्वान्भवतीत्यर्थः। किंच ततोऽप्यधिकतरमेतद्भवति। किं तत्? उच्यते। आकाशशरीरमाकाशः शरीरमस्याऽऽकाशवद्वा सूक्ष्मं शरीरमस्येत्याकाशशरीरम्। किं तत्? प्रकृतं ब्रह्म। सत्यात्म सत्यं मूर्तामूर्तमवितथं स्वरूपं चाऽऽत्मा स्वभावोऽस्य तदिदं सत्यात्म। प्राणारामं प्राणेष्वा (राम आ) रमणमाक्रीडा यस्य तत्प्राणारामम्। प्राणानां वाऽऽरामो यस्मिंस्तत्प्राणारामम्। मनआनन्दम्। आनन्दभूतं सुखकृदेव यस्य मनस्तन्मनआनन्दम्। शान्तिसमृद्धं शान्तिरुपशमः शान्तिश्च तत्समृद्धं च शान्तिसमृद्धम्। शान्त्या वा समृद्धं तदुपलभ्यते इति शान्तिसमृद्धम्। अमृतममरणधर्मि। एतच्चाधिकतरं विशेषणं तत्रैव मनोमय इत्यादौ द्रष्टव्यमिति। एवं मनोमयत्वादिधर्मैर्विशिष्टं यथोक्तं ब्रह्म हे प्राचीनयोग्य, उपास्स्वेत्याचार्यवचनोक्तिरादरार्था।।२।।

*इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ तैत्तिरीयोपनिषच्छीक्षाध्यायभाष्ये षष्ठोऽनुवाकः।।६।।*

अथ शीक्षाध्याये सप्तमोऽनुवाकः।

**पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौर्दिशोऽवान्तरदिशाः। अग्निर्वायु-रादित्यश्चन्द्रमा नक्षत्राणि। आप ओषधयो वन-स्पतय आकाश आत्मा। इत्यधिभूतम्। अथाध्या-त्मम्। प्राणो व्यानोऽपान उदानः समानः। चक्षुः श्रोत्रं मनो वाक्त्वक्। चर्म माꣳसꣳ स्नावास्थि मज्जा। एतदधिविधाय ऋषिरवोचत्। पाङ्क्तं वा इदꣳ सर्वम्। पाङ्क्तेनैव पाङ्क्तꣳ स्पृणोतीति।।१।।**

**इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि शीक्षाध्याये सप्तमोऽनुवाकः।।७।।**

पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक, दिशाएँ और अवान्तर दिशाएँ (ये लोक पाङ्क्त हैं) अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमा और नक्षत्र (ये देवता पाङ्क्त हैं) तथा जल, औषधि, वनस्पति, आकाश और विराडात्मा (ये भूत पाङ्क्त हैं) क्योंकि यह भूतों का अधिकरण है। (उक्त वर्णन के अनुसार मन्त्र में आया हुआ अधिभूत पद, अधिलोक और अधिदैवत इन दो पाङ्क्तों का भी उपलक्षक है।) अब अध्यात्म पाङ्क्त बतलाते हैं। प्राण, व्यान, अपान, उदान और समान (ये वायु पाङ्क्त हैं) चक्षु, श्रोत्र, मन, वाणी और त्वचा ये इन्द्रिय पाङ्क्त हैं तथा चर्म, मांस, स्नायु अस्थि और मज्जा ये धातु पाङ्क्त हैं। ये सभी मिलाकर अध्यात्म पाङ्क्त कहे जाते हैं। इस प्रकार पाङ्क्त उपासना का विधान कर मन्त्रद्रष्टा ऋषि या वेद ने कहा—यह सब पाङ्क्त ही है। (संख्या में समानता होने के कारण) इस अध्यात्म पाङ्क्त से ही बाह्य पाङ्क्त को एक रूप से उपासक उपलब्ध करता है।।१।।

।।इति सप्तमोऽनुवाकः।।

---

यदेतद्व्याहृत्यात्मकं ब्रह्मोपास्यमुक्तं, तस्यैवेदानीं पृथिव्यादिपाङ्क्तस्वरूपेणोपा-सनमुच्यते। पञ्चसंख्यायोगात्पङ्क्तिच्छन्दःसंपत्तिः। ततः पाङ्क्तत्वं सर्वस्य। पाङ्क्तश्च यज्ञः। "पञ्चपदा पङ्क्तिः। पाङ्क्तो यज्ञः" इति श्रुतेः। तेन यत्सर्वं लोकाद्यात्मान्तं च पाङ्क्तं परिकल्पयन्ति (ति) यज्ञमेव तत्परिकल्पयति। तेन यज्ञेन परिकल्पितेन पाङ्क्तात्मकं प्रजापतिमभिसंपद्यते। तत्कथं पाङ्क्तमिदं सर्वमित्यत आह—

पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौर्दिशोऽवान्तरदिशा इति लोकपाङ्क्तम्। अग्निर्वायुरादित्य-श्चन्द्रमा नक्षत्राणीति देवतापाङ्क्तम्। आप ओषधयो वनस्पतय आकाश आत्मेति

अथ शीक्षाध्यायेऽष्टमोऽनुवाकः।

**ओमिति ब्रह्म। ओमितीद४ं सर्वम्। ओमित्येत-**
**दनुकृतिर्ह स्म वा अप्यो श्रावयेत्याश्रावयन्ति। ओमि-**
**ति सामानि गायन्ति। ओ४ं शोमिति शस्त्राणि श४ं-**
**सन्ति। ओमित्यध्वर्युः प्रतिगरं प्रतिगृणाति। ओ-**

"ॐ" यह शब्दरूप ब्रह्म है (ऐसा इसका मन से ध्यान करे, क्योंकि) ॐ यही सब कुछ है (अर्थात् सभी शब्द ओंकार से व्याप्त है)। "ॐ" यह अनुकरण है, (क्योंकि इसी से दूसरे की बात को स्वीकार करते हैं) ऐसा प्रसिद्ध है "ओ श्रावय" इस प्रकार प्रेरणापूर्वक याज्ञिक लोग प्रतिश्रवण कराते हैं और "ॐ" ऐसा कहकर साम गान करने वाले साम का गान करते हैं। "ॐशोम्" ऐसा कह कर शस्त्रों का (गीति रहित ऋचाओं का शस्त्र शंसन करने वाले) पाठ करते हैं। अध्वर्यु

---

भूतपाङ्क्तम्। आत्मेति विराड्भूताधिकारात्। इत्यधिभूतमित्यधिलोकाधिदैवतपाङ्क्तद्वयोपलक्षणार्थम्। लोकदेवतापाङ्क्तयोश्चाभिहितत्वात्।

अथानन्तरमध्यात्मं पाङ्क्तत्रयमुच्यते—प्राणादि वायुपाङ्क्तम्। चक्षुरादीन्द्रियपाङ्क्तम्। चर्मादि धातुपाङ्क्तम्। एतावद्धीदं सर्वमध्यात्मम्। बाह्यं च पाङ्क्तमेवेत्येतदेवमधिविधाय परिकल्प्यर्षिर्वेद एतद्दर्शनसंपन्नो वा कश्चिदृषिरवोचदुक्तवान्। किमित्याह—पाङ्क्तं वा इदं सर्वं पाङ्क्तेनैवाऽऽध्यात्मिकेन संख्यासामान्यात्पाङ्क्तं बाह्यं स्पृणोति बलयति पूरयति। एकात्मतयोपलभ्यत इत्येतत्। एवं पाङ्क्तमिदं सर्वमिति यो वेद स प्रजापत्यात्मैव भवतीत्यर्थः।।१।।

*इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ तैत्तिरीयोपनिषच्छीक्षाध्यायभाष्ये सप्तमोऽनुवाकः।।७।।*

व्याहृत्यात्मनो ब्रह्मण उपासनमुक्तम्। अनन्तरं च पाङ्क्तस्वरूपेण तस्यैवोपासनमुक्तम्। इदानीं सर्वोपासनाङ्गभूतस्योंकारस्योपासनं विधित्स्यते। परापरब्रह्मदृष्ट्या ह्युपास्यमान ओंकारः शब्दमात्रोऽपि परापरब्रह्मप्राप्तिसाधनं भवति। स ह्यालम्बनं ब्रह्मणः परस्यापरस्य च प्रतिमेव विष्णोः। "एतेनैवाऽऽयतनेनैकतरमन्वेति" (प्र. उ. ५. २.) इति श्रुतेः।

ओमिति। इतिशब्दः स्वरूपपरिच्छेदार्थः। ओमित्येतच्छब्दरूपं ब्रह्मेति मनसा

**मिति ब्रह्मा प्रसौति। ओमित्यग्निहोत्रमनुजानाति। ओमिति ब्राह्मणः प्रवक्ष्यन्नाह ब्रह्मोपाप्नवानीति। ब्रह्मैवोपाप्नोति।।१।।**

**इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि शीक्षाध्याये-ऽष्टमोऽनुवाकः।।८।।**

प्रत्येक कर्म के प्रति "ॐ" ऐसा उच्चारण करता है। "ॐ" ऐसा कह कर ब्रह्म प्रेरणा देता है और "ॐ" ऐसा कर कह (यजमान को) अग्निहोत्र के लिये वह आज्ञा देता है। अध्ययन करने वाला ब्राह्मण "ॐ" ऐसा उच्चारण करता हुआ कहता है– मैं वेद या परब्रह्म को प्राप्त करूँ, ऐसा कहकर वह ब्रह्म को प्राप्त ही कर लेता है।।१।।

।।इत्यष्टमोऽनुवाकः।।

---

धारयेदुपासीत। यत "ओमितीदं सर्वं" सर्वं हि शब्दरूपमोंकारेण व्याप्तम्। "तद्यथा शङ्कुना" इति श्रुत्यन्तरात्। अभिधानतन्त्रं ह्यभिधेयमित्यत इदं सर्वमोंकार इत्युच्यते।

ओंकारस्तुत्यर्थमुत्तरो ग्रन्थः। उपास्यत्वात्तस्य। ओमित्येतदनुकृतिरनुकरणम्। करोमि यास्यामि चेति कृतमुक्तमोमित्यनुकरोत्यन्यः। अत ओंकारोऽनुकृतिः। ह स्म वा इति प्रसिद्धयर्थद्योतकाः। प्रसिद्धं ह्योंकारस्यानुकृतित्वम्। अपि च "ओ श्रावय" इति प्रैष-पूर्वकमाश्रावयन्ति प्रतिश्रावयन्ति। तथोमिति सामानि गायन्ति सामगाः। ओमिति शस्त्राणि शंसन्ति शस्त्रशंसितारोऽपि। तथोमित्यध्वर्युः प्रतिगरं प्रतिगृणाति। ओमिति ब्रह्मा प्रसौत्यनुजानाति प्रैषपूर्वकमाश्रावयति। ओमित्यग्निहोत्रमनुजानाति। जुहोमीत्युक्त ओमित्येवानुज्ञां प्रयच्छति। ओमित्येव ब्राह्मणः प्रवक्ष्यन्प्रवचनं करिष्यन्नध्येष्यमाण ओमित्येवाऽऽह। ओमिति प्रतिपद्यतेऽध्येतुमित्यर्थः। ब्रह्म वेदमुपाप्नवानीति प्राप्नुयां ग्रहीष्यामीति। उपाप्नोत्येव ब्रह्म। अथवा ब्रह्म परमात्मा तमुपाप्नवानीत्यात्मानं प्रवक्ष्यन्प्रापयिष्यन्नोमित्येवाऽऽह। स च तेनोंकारेण ब्रह्म प्राप्नोत्येव। ओंकारपूर्वं प्रवृत्तानां क्रियाणां फलवत्त्वं यस्मात्तस्मादोंकारं ब्रह्मेत्युपासीतेति वाक्यार्थः।।१।।

*इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ तैत्तिरीयोपनिषच्छीक्षाध्यायभाष्येऽष्टमोऽनुवाकः।।८।।*

अथ शीक्षाध्याये नवमोऽनुवाकः।

**ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च। तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च। दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्नयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्निहोत्रं च स्वाध्यायप्रवचने च। अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः। तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः। स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः। तद्धि तपस्तद्धि तपः।।१।।**

**प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च षट् च।।**

**इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि शीक्षाध्याये नवमोऽनुवाकः।।९।।**

ऋत (शास्त्र द्वारा बुद्धिस्थ निश्चित अर्थ) तथा शास्त्राध्ययन और अध्यापन या वेदपाठ, (ये सभी अनुष्ठेय हैं) सत्यभाषण, स्वाध्याय और प्रवचन, (अनुष्ठान के योग्य हैं।) स्वधर्माचरणरूप तप को करते हुए स्वाध्याय तथा प्रवचन अवश्य करे, इन्द्रियनिग्रह, स्वाध्याय और प्रवचन (सदा करने चाहिएँ) मनोनिग्रह के साथ स्वाध्याय और प्रवचन अवश्य अनुष्ठेय हैं। अग्नियों का आधान, स्वाध्याय तथा प्रवचन (नित्य करने योग्य हैं) अग्निहोत्र होम, स्वाध्याय और प्रवचन (ये नित्य कर्तव्य हैं।) अतिथि सत्कार, स्वाध्याय और प्रवचन (इनका नियम से अनुष्ठान करे), विवाहादि लौकिक व्यवहार, स्वाध्याय और प्रवचन (इनका भी यथा प्राप्त अनुष्ठान करना चाहिए)। प्रजा की उत्पत्ति, स्वाध्याय तथा प्रवचन (ये सदा कर्तव्य है) ऋतुकाल में भार्यागमन, स्वाध्याय और प्रवचन (सदा करता रहे)। पुत्र को स्त्री परिग्रह, स्वाध्याय और प्रवचन (इनका नियम से अनुष्ठान करे)। सत्य ही अनुष्ठेय है ऐसा रथीतर वंश में उत्पन्न सत्यवचा नामक आचार्य मानता है। तप ही कर्तव्य है ऐसा नित्य तपोनिष्ठ या तपोनित्य नाम वाला पौरुशिष्टि आचार्य मानता है। स्वाध्याय और प्रवचन ही अनुष्ठान के योग्य है ऐसा मुद्गल का पुत्र नाक नाम वाला आचार्य मानता है। अतः वे ही (स्वाध्याय और प्रवचन ही) तप हैं, वे ही तप हैं ।।१।।

।। इति नवमोऽनुवाकः।।

अथ शीक्षाध्याये दशमोऽनुवाकः

**अहं वृक्षस्य रेरिवा। कीर्तिः पृष्ठं गिरेरिव।**
**ऊर्ध्वपवित्रो वाजिनीव स्वमृतमस्मि।**

(अन्तर्यामी रूप से) मैं संसाररूप वृक्ष का प्रेरक हूँ। मेरी प्रसिद्धि पर्वतशिखर के समान ऊँची है (ज्ञान प्रकाशित होने योग्य पवित्र परब्रह्म रूप कारण वाला होने से) मैं ऊर्ध्व पवित्र हूँ। अन्नवान्

---

विज्ञानादेवाऽऽप्नोति स्वाराज्यमित्युक्तत्वाच्छ्रौतस्मार्तानां कर्मणामानर्थक्यं प्राप्तमित्यन्तस्तन्मा प्रापदिति कर्मणां पुरुषार्थं प्रति साधनत्वप्रदर्शनार्थमिहोपन्यासः। ऋतमिति व्याख्यातम्। स्वाध्यायोऽध्ययनम्। प्रवचनमध्यापनं ब्रह्मयज्ञो वा। एतान्यृतादीन्यनुष्ठेयानीति वाक्यशेषः। सत्यं च सत्यवचनं यथाव्याख्यातार्थं वा। तपः कृच्छ्रादि। दमो बाह्यकरणोपशमः। शमोऽन्तःकरणोपशमः। अग्नय आधातव्याः। अग्निहोत्रं च होतव्यम्। अतिथयश्च पूज्याः। मानुषमिति लौकिकः संव्यवहारः। तच्च यथाप्राप्तमनुष्ठेयम्। प्रजा चोत्पाद्या। प्रजनश्च प्रजननमृतौ भार्यागमनमित्यर्थः।

प्रजातिः पौत्रोत्पत्तिःपुत्रो निवेशयितव्य इत्येतत्। सर्वैरेतैः कर्मभिर्युक्तस्यापि स्वाध्यायप्रवचने यत्नतोऽनुष्ठेये इत्येवमर्थं सर्वेण सह स्वाध्यायप्रवचनग्रहणम्। स्वाध्यायाधीनं ह्यर्थज्ञानम्। अर्थज्ञानायत्तं च परं श्रेयः। प्रवचनं च तदविस्मरणार्थं धर्मप्रवृद्ध्यर्थं च। अतः स्वाध्यायप्रवचनयोरादरः कार्यः। सत्यमिति सत्यमेवानुष्ठातव्यमिति सत्यवचाः सत्यमेव वचो यस्य सोऽयं सत्यवचा नाम वा सत्यवचा इति तस्य। राथीतरो रथीतरस्य गोत्रो राथीतराचार्यो मन्यते।

तप इति तप एव कर्तव्यमिति तपोनित्यस्तपसि नित्यस्तपःपरस्तपोनित्य इति वा नाम। पौरुशिष्टिः पुरुशिष्टस्यापत्यं पौरुशिष्टिराचार्यो मन्यते। स्वाध्यायप्रवचने एवानुष्ठेये इति नाको नामतो मुद्गलस्यापत्यं मौद्गल्य आचार्यो मन्यते। तद्धि तपस्तद्धि तपः। हि यस्मात्स्वाध्यायप्रवचने एव तपस्तस्मात्ते एवानुष्ठेये इति। उक्तानामपि सत्यतपःस्वाध्यायप्रवचनानां पुनर्ग्रहणमादरार्थम्।।१।।

*इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ तैत्तिरीयोपनिषच्छीक्षाध्यायभाष्ये नवमोऽनुवाकः।।९।।*

अहं वृक्षस्य रेरिवेति स्वाध्यायार्थो मन्त्राम्नायः। स्वाध्यायश्च विद्योत्पत्तये प्रकरणात्। विद्यार्थं हीदं प्रकरणम्। न चान्यार्थत्वमवगम्यते। स्वाध्यायेन च विशुद्ध-

द्रविणꣳसवर्चसम्। सुमेधा अमृतोक्षितः। इति त्रिशङ्कोर्वेदानुवचनम्।।१।।

अहꣳषट्।।

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि शीक्षाध्याये
दशमोऽनुवाकः।।१०।।

सूर्य के समान मैं भी विशुद्ध अमृतमय हूँ। मैं दीप्तिमान् (आत्मतत्त्वरूप) धन, सुन्दर मेधा वाला, अमरणधर्मा तथा अव्यय हूँ या अमृत से सिक्त हूँ, यह त्रिशंकु ऋषि का (आत्मैकत्व विज्ञान प्राप्ति के अनन्तर होने वाला) वेदानुवचन है।।१।।

।।इति दशमोऽनुवाकः।।

---

सत्त्वस्य विद्योत्पत्तिरवकल्पते। अहं वृक्षस्योच्छेदात्मकस्य संसारवृक्षस्य रेरिवा प्रेरयिताऽन्तर्याम्यात्मना। कीर्तिः ख्यातिर्गिरेः पृष्ठमिवोच्छ्रिता मम। ऊर्ध्वपवित्र ऊर्ध्वं कारणं पवित्रं पावनं ज्ञानप्रकाश्यं परमं ब्रह्म यस्य सर्वात्मनो मम सोऽहमूर्ध्वपवित्रः। वाजिनीव वाजवतीव। वाजमन्नं तद्वति सवितरीत्यर्थः। यथा सवितर्यमृतमात्मतत्त्वं विशुद्धं प्रसिद्धं श्रुतिस्मृतिशतेभ्य एवं स्वमृतं शोभनं विशुद्धमात्मतत्त्वमस्मि भवामि।

द्रविणं धनं, सवर्चसं दीप्तिमत्तदेवाऽऽत्मतत्त्वमस्मीत्यनुवर्तते। ब्रह्मज्ञानं वाऽऽत्मतत्त्वप्रकाशकत्वात्सवर्चसम्। द्रविणमिव द्रविणं मोक्षसुखहेतुत्वात्। अस्मिन्पक्षे प्राप्तं मयेत्यध्याहारः कर्तव्यः। सुमेधाः शोभना मेधा सर्वज्ञत्वलक्षणा यस्य मम सोऽहं सुमेधाः। संसारस्थित्युत्पत्त्युपसंहारकौशलयोगात्सुमेधस्त्वम्। अत एवामृतोऽमरणधर्माऽक्षितोऽक्षीणोऽव्यय अक्षतो वा अमृतेन वोक्षितः सिक्तः। "अमृतोक्षितोऽहम्" इत्यादि ब्राह्मणम्। इत्येवं त्रिशङ्कोर्ऋषेर्ब्रह्मभूतस्य ब्रह्मविदो वेदानुवचनं वेदो वेदनमात्मैकत्वविज्ञानं तस्य प्राप्तिमनु वचनं वेदानुवचनम्। आत्मनः कृतकृत्यताख्यापनार्थं वामदेववत्त्रिशङ्कुनाऽऽर्षेण दर्शनेन दृष्टो मन्त्राम्नाय आत्मविद्याप्रकाशक इत्यर्थः। अस्य च जपो विद्योत्पत्त्यर्थोऽवगम्यते। ऋतं चेत्यादिकर्मोपन्यासादनन्तरं च वेदानुवचनपाठादेतदवगम्यत एवं श्रौतस्मार्तेषु नित्येषु कर्मसु युक्तस्य निष्कामस्य परं ब्रह्म विविदिषोरार्षाणि दर्शनानि प्रादुर्भवन्त्यात्मादिविषयाणीति।।१।।

*इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ तैत्तिरीयोपनिषच्छीक्षाध्यायभाष्ये दशमोऽनुवाकः।।१०।।*

✦प्रथममाह्निकम्✦

अथ शीक्षाध्याये एकादशोऽनुवाकः

**वेदमनूच्याऽऽचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति। सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्याय-प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्।।१।।**

वेदाध्ययन कराने के बाद आचार्य शिष्य को उपदेश करते हैं—सत्य बोलो, (अनुष्ठान करने योग्य कर्म सामान्य) धर्म का आचरण करो, स्वाध्याय से प्रमाद न करो, आचार्य के लिए इष्ट धन लाकर (विद्यादान से उऋण होकर और आचार्य की आज्ञा से विवाह करके) संतान परंपरा का छेदन न करो (अर्थात् पुत्रोत्पत्ति के लिए लौकिक प्रयत्न और पुत्रेष्टि यागादि कर्म भी आवश्यकतानुसार करो), सत्य से प्रमाद नहीं करना चाहिए (अर्थात् कभी भूल कर भी असत्य भाषण नहीं करना चाहिये) धर्म से प्रमाद नहीं करना चाहिए, यानी सदा कर्तव्य कर्म का अनुष्ठान करो। आत्मरक्षा में उपयोगी कर्म से प्रमाद नहीं करना चाहिए। अध्ययन और अध्यापन से प्रमाद नहीं करना चाहिए।।१।।

---

वेदमनूच्येत्येवमादिकर्तव्यतोपदेशारम्भः प्राग्ब्रह्मविज्ञानान्नियमेन कर्तव्यानि श्रौत-स्मार्तकर्माणीत्येवमर्थः। अनुशासनश्रुतेः पुरुषसंस्कारार्थत्वात्। संस्कृतस्य हि विशुद्ध-सत्त्वस्याऽऽत्मज्ञानमञ्जसैवोत्पद्यते। "तपसा कल्मषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते" मनुस्मृ. (१२-१०४) इति हि स्मृतिः। वक्ष्यति च—'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व' इति। अतो विद्योत्पत्त्यर्थमनुष्ठेयानि कर्माणि। अनुशास्तीत्यनुशासनशब्दानुशासनातिक्रमे हि दोषोत्पत्तिः। प्रागुपन्यासाच्च कर्मणां केवलब्रह्मविद्यारम्भाच्च पूर्वं कर्माण्युपन्यस्तानि। उदितायां च विद्यायाम् "अभयं प्रतिष्ठां विन्दते" (तै.उ.२-७) "न बिभेति कुतश्चन" (तै.उ.२-९) "किमहं साधु नाकरवम्" इत्येवमादिना कर्मनैष्किंचन्यं दर्शयिष्यतीत्यतोऽवगम्यते पूर्वोपचितदुरितक्षयद्वारेण विद्योत्पत्त्यर्थानि कर्माणीति। मन्त्रवर्णाच्च—"अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते" (ई. उ.११) इति। ऋतादीनां पूर्वत्रोपदेशः आनर्थक्यपरिहारार्थः। इह तु ज्ञानोत्पत्त्यर्थत्वात्कर्तव्यतानियमार्थः। वेदमनूच्या-ध्याप्याऽऽचार्योऽन्तेवासिनं शिष्यमनुशास्ति ग्रन्थग्रहणादनु पश्चाच्छास्ति तदर्थं ग्राहयतीत्यर्थः। अतोऽवगम्यतेऽधीतवेदस्य धर्मजिज्ञासामकृत्वा गुरुकुलान्न समावर्तितव्यमिति। "बुद्ध्वा कर्माणि चाऽऽरभेत्" इति स्मृतेश्च।

श्रद्धा बिनु धर्म न होई.



देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। मातृदेवो भव। देवतावदुपास्या
पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो
भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि। तानि सेवितव्यानि अनिन्दितानि.
नो इतराणि। यान्यस्माकꣳ सुचरितानि। तानि आम्नायाविरुद्धानि
त्वयोपास्यानि।।२।।

देवकार्य और पितृकार्य से प्रमाद न करे, तू मातृदेव हो, तू पितृ देव हो, आचार्य देव हो, अतिथि देव हो, (अर्थात् ये सब देवता के समान उपासना करने योग्य हैं। इनके अतिरिक्त) जो निर्दुष्ट शिष्टाचाररूप कर्म हैं, वे ही तेरे लिये कर्तव्य हैं। शिष्ट पुरुषों से आचरित भी निन्दनीय कर्म तेरे लिए कर्तव्य नहीं हैं। हम आचार्यों के भी जो शास्त्र-सम्मत शुभ चरित्र हैं, उन्हीं की उपासना तुझे करनी चाहिए।।२।।

---

कथमनुशास्तीत्याह—सत्यं वद यथाप्रमाणावगतं वक्तव्यं च तद्वद। तद्वद्धर्मं चर। धर्म इत्यनुष्ठेयानां सामान्यवचनं सत्यादिविशेषनिर्देशात्। स्वाध्यायादध्ययनान्मा प्रमदः प्रमादं मा कार्षीः। आचार्यायाऽऽचार्यार्थं प्रियमिष्टं धनमाहृत्याऽऽनीय दत्त्वा विद्यानिष्क्रयार्थम्। आचार्येण चानुज्ञातोऽनुरूपान्दारानाहृत्य प्रजातन्तुं प्रजासंतानं मा व्यवच्छेत्सीः प्रजासंततेर्विच्छित्तिर्न कर्तव्या। अनुत्पद्यमानेऽपि पुत्रे पुत्रकाम्यादिकर्मणा तदुत्पत्तौ यत्नः कर्तव्य इत्यभिप्रायः। प्रजाप्रजनप्रजातित्रयनिर्देशसामर्थ्यात्। अन्यथा प्रजनश्चेत्येतदेकमेवावक्ष्यत्।

सत्यान्न प्रमदितव्यं प्रमादो न कर्तव्यः। सत्याच्च प्रमदनमनृतप्रसङ्गः। प्रमादशब्दसामर्थ्यात्। विस्मृत्याप्यनृतं न वक्तव्यमित्यर्थः। अन्यथाऽसत्यवदनप्रतिषेध एव स्यात्। तथा धर्मान्न प्रमदितव्यम्। धर्मशब्दस्यानुष्ठेयविषयत्वादननुष्ठानं प्रमादः स न कर्तव्यः। अनुष्ठातव्य एव धर्म इति यावत्। एवं कुशलादात्मरक्षार्थात्कर्मणो न प्रमदितव्यम्। भूतिर्विभूतिस्तस्यै भूत्यै भूत्यर्थान्मङ्गलयुक्तात्कर्मणो न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायोऽध्ययनं प्रवचनमध्यापनं ताभ्यां न प्रमदितव्यम्। ते हि नियमेन कर्तव्ये इत्यर्थः।।१।।

तथा देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। दैवपित्र्ये कर्मणी कर्तव्ये। मातृदेवो माता देवो यस्य स त्वं मातृदेवो भव स्याः। एवं पितृदेव आचार्यदेवोऽतिथिदेवो भव। देवतावदुपास्या एत इत्यर्थः। यान्यपि चान्यान्यनवद्यान्यनिन्दितानि शिष्टाचारलक्षणानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि कर्तव्यानि त्वया। नो अकर्तव्यानीतराणि

**नो इतराणि। ये के चास्मच्छ्रेयाꣳसो ब्राह्मणाः। तेषां त्वयाऽऽसनेन प्रश्वसितव्यम्। श्रद्धया देयम्। अश्रद्धयाऽदेयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्। अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविकित्सा वा स्यात्।।३।।**

उनके विपरीत कर्म (आचार्य के आचरित भी) कर्तव्य नहीं है। जो कोई हमसे (आचार्यत्वादि धर्मों के कारण) श्रेष्ठ ब्राह्मण हैं, उन्हें आसनादि के द्वारा श्रमनिवृत्त करना चाहिए। (दान के प्रसंग आने पर) श्रद्धा से ही देना चाहिये—अश्रद्धा से नहीं, विभूति के अनुसार देना चाहिए, लज्जापूर्वक देना चाहिये, भय मानते हुए देना चाहिये। मैत्री आदि कार्य के निमित्त से देना चाहिये। यदि तुझे (किसी समय किसी श्रौत या स्मार्त) कर्म में संदेह हो या आचार रूप व्यवहार के विषय में संदेह होवे।।३।।

---

सावद्यानि शिष्टकृतान्यपि। यान्यस्माकमाचार्याणां सुचरितानि शोभनचरितान्याम्नायाद्य-विरुद्धानि तान्येव त्वयोपास्यान्यदृष्टार्थान्यनुष्ठेयानि, नियमेन कर्तव्यानीति यावत्। नो इतराणि विपरीतान्याचार्यकृतान्यपि।

ये के च विशेषिता आचार्यत्वादिधर्मैरस्मदस्मत्तः श्रेयांसः प्रशस्यतरास्ते च ब्राह्मणा न क्षत्रियादयस्तेषामासनेनाऽऽसनदानादिना त्वया प्रश्वसितव्यं प्रश्वसनं प्रश्वासः श्रमापनयः तेषां श्रमस्त्वयाऽपनेतव्य इत्यर्थः। तेषां वाऽऽसने गोष्ठीनिमित्ते समुदिते तेषु न प्रश्वासितव्यं प्रश्वासोऽपि न कर्तव्यः। केवलं तदुक्तसारग्राहिणा भवितव्यम्।

किंच यत्किंचिद्देयं तच्छ्रद्धयैव दातव्यम्। अश्रद्धयाऽदेयं न दातव्यम्। श्रिया विभूत्या देयं दातव्यम्। ह्रिया लज्जया च देयम्। भिया च भयेन देयम्। संविदा च। संविन्मित्रादिकार्यम्। अथैवं वर्तमानस्य यदि कदाचित्ते तव श्रौते स्मार्ते वा कर्मणि वृत्ते वाऽऽचारलक्षणे विचिकित्सा संशयः स्यात्। ये तत्र तस्मिन्देशे

ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः। युक्ता आयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तत्र वर्तेरन्। तथा तत्र वर्तेथाः। अथाभ्याख्यातेषु। ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः। युक्ता आयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तेषु वर्तेरन्। तथा तेषु वर्तेथाः। एष आदेशः। एष उपदेशः। एषा वेदोपनिषत्। एतदनुशासनम्। एवमुपासितव्यम्। एवमु चैतदुपास्यम्।।४।।

स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यं तानि त्वयोपास्यानि स्यात्तेषु वर्तेरन्त्सप्त च।।

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि शीक्षाध्याये एकादशोऽनुवाकः।।११

तो वहाँ पर जो विचारशील, आचार में पूर्णरूप से तत्पर, किसी दूसरे से प्रयुक्त न होने वाले (स्वेच्छा से कर्मपरायण) सरलबुद्धि एवं धर्माभिलाषी ब्राह्मण हों, उसे कर्म या आचार प्रसंग में वे जैसा व्यवहार करें; वैसा ही तुम भी करो। वैसे ही जिन पर संशययुक्त दोष लगाया गया हो, उनके प्रति वहां जो विचारशील, कर्म में सर्वथा नियुक्त, दूसरों की प्रेरणा के बिना ही स्वतः कर्मपरायण सरल हृदय और धर्मकाम ब्राह्मण हों, वे जैसा व्यवहार करें, वैसा तुम भी करो। यह विधि है, यह उपदेश है, यह वेद का रहस्य है, यानी वेदार्थ है और यही ईश्वर का अनुशासन है। ऐसी ही तुझे उपासना करनी चाहिये। इसी प्रकार यह उपासना के लिये है (अर्थात् अनुपास्य नहीं)।।४।

।। इत्येकादशोऽनुवाकः।।

---

काले वा ब्राह्मणास्तत्र कर्मादौ युक्ता इति व्यवहितेन संबन्धः कर्तव्यः। संमर्शिनो विचारक्षमाः। युक्ता अभियुक्ताः कर्मणि वृत्ते वा। आयुक्ता अपरप्रयुक्ताः। अलूक्षा अरूक्षा अक्रूरमतयः। धर्मकामा अदृष्टार्थिनोऽकामहता इत्येतत्स्युर्भवेयुः। ते यथा येन प्रकारेण ब्राह्मणास्तत्र तस्मिन्कर्मणि वृत्ते वा वर्तेरंस्तथा त्वमपि वर्तेथाः। अथाभ्याख्यातेष्वभ्युक्ता दोषेण संदिह्यमानेन संयोजिताः केनचित्तेषु च यथोक्तं सर्वमुपनयेद्ये तत्रेत्यादि।

एष आदेशो विधिः। एष उपदेशः पुत्रादिभ्यः पित्रादीनाम्। एषा वेदोपनिषद्वेदरहस्यं

अथ शीक्षाध्याये द्वादशोऽनुवाकः

**शं नो मित्रः शं वरुणः। शं नो भवत्वर्यमा। शं न इन्द्रो बृहस्पतिः। शं नो विष्णुरुरुक्रमः। नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्मावादिषम्। ऋतमवादिषम्। सत्यमवादिषम्। तन्मामावीत्। तद्वक्तारमावीत्। आवीन्माम्। आवीद्वक्तारम्। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।।१।।**

**सत्यमवादिषं पञ्च च।।**

**इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषद शीक्षाध्याये द्वादशोऽनुवाकः।।१२।।**

सूर्यदेव हमारे लिये सुखप्रद हो, वरुण देव हमारे लिये सुखद हो, अर्यमा हमारे लिये सुख देने वाला हो, इन्द्र तथा बृहस्पति हमारे लिये शान्तिप्रद हो, पाद वाला विष्णु हमारे लिये सुखदायक हो। ब्रह्मस्वरूप वायु को नमस्कार है। हे वायो! तुम्हें नमस्कार है तुम ही प्रत्यक्ष ब्रह्म हो, तुझे ही हमने प्रत्यक्ष ब्रह्म कहा है तुझे ऋत कहा है और तुझे ही सत्य कहा है, तूने मेरी रक्षा की है और ब्रह्म के प्रवक्ता आचार्य की रक्षा की है, मेरी रक्षा की है और वक्ता की भी रक्षा की है।।१।।

त्रिविध ताप की शान्ति हो।

।।इति द्वादशोऽनुवाकः।।

---

वेदार्थ इत्येतत्। एतदेवानुशासनमीश्वरवचनम्। आदेशवाच्यस्य विधेरुक्तत्वात्। सर्वेषां वा प्रमाणभूतानामनुशासनमेतत्। यस्मादेवं तस्मादेवं यथोक्तं सर्वमुपासितव्यं कर्तव्यम्। एवमु चैतदुपास्यमुपास्यमेव चैतन्नानुपास्यमित्यादरार्थं पुनर्वचनम्।।२-४।।

*इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ तैत्तिरीयोपनिषच्छीक्षाध्यायभाष्य एकादशोऽनुवाकः।।११।।*

अतीतविद्याप्राप्त्युपसर्गशमनार्थं शान्तिं पठति—शं नो मित्र इति। व्याख्यातमेतत्पूर्वम्।

अत्रैतच्चिन्त्यते विद्याकर्मणोर्विवेकार्थं किं कर्मभ्य एव केवलेभ्यः परं श्रेय उत विद्यासव्यपेक्षेभ्य आहोस्विद्विद्याकर्मभ्यां संहताभ्यां विद्याया वा कर्मापेक्षाया उत केवलाया एव विद्याया इति। तत्र केवलेभ्य एव कर्मभ्यः स्यात्। समस्तवेदार्थज्ञानवतः कर्माधिकारात्। "वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना" (म.स्मृ. २-१६५) इति स्मरणात्। अधिगमश्च सहोपनिषदर्थेनाऽऽत्मज्ञानादिना। "विद्वान्यजते" "विद्वान्याजयति" इति च विदुष एव कर्मण्यधिकारः प्रदर्श्यते सर्वत्र। "ज्ञात्वा चानुष्ठानम्" इति च। कृत्स्नश्च वेदः कर्मार्थ इति हि मन्यन्ते केचित्। कर्मभ्यश्चेत्परं श्रेयो नावाप्येत वेदोऽनर्थकः स्यात्।

न, नित्यत्वान्मोक्षस्य। नित्यो हि मोक्ष इष्यते। कर्मकार्यस्य चानित्यत्वं प्रसिद्धं लोके, कर्मभ्यश्चेच्छ्रेयोऽनित्यं स्यात्तच्चानिष्टम्। "तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते" इतिन्यायानुगृहीतश्रुतिविरोधात्। काम्यप्रतिषिद्धयोरनारम्भादारब्धस्य च कर्मण उपभोगेन क्षयान्नित्यानुष्ठानाच्च प्रत्यवायानुत्पत्तेर्ज्ञाननिरपेक्ष एव मोक्ष इति चेत्। तच्च न। शेषकर्मसंभवात्तन्निमित्तशरीरान्तरोत्पत्तिः प्राप्नोतीति प्रत्युक्तम्। कर्मशेषस्य च नित्यानुष्ठानेनाविरोधात्क्षयानुपपत्तिरिति च। यदुक्तं समस्तवेदार्थज्ञानवतः कर्माधिकारादित्यादि। तच्च न। श्रुतज्ञानव्यतिरेकादुपासनस्य। श्रुतज्ञानमात्रेण हि कर्मण्यधिक्रियते नोपासनामपेक्षते। उपासनं च श्रुतज्ञानादर्थान्तरं विधीयते मोक्षफलम्। अर्थान्तरप्रसिद्धिश्च स्यात्। "श्रोतव्य" इत्युक्त्वा तद्व्यतिरेकेण "मन्तव्यो निदिध्यासितव्य" (बृ.उ. २-४-५) इति यत्नान्तर-विधानान्मनननिदिध्यासनयोश्च प्रसिद्धं श्रवणज्ञानादर्थान्तरत्वम्।

एवं तर्हि विद्यासव्यपेक्षेभ्यः कर्मभ्यः स्यान्मोक्षः। विद्यासहितानां च कर्मणां भवेत्कार्यान्तरारम्भसामर्थ्यम्। यथा स्वतो मरणज्वरादिकार्यारम्भसामर्थ्यानामपि विषदध्यादीनां मन्त्रशर्करादिसंयुक्तानां कार्यान्तरारम्भसामर्थ्यम्, एवं विद्यासहितैः कर्मभिर्मोक्ष आरभ्यत इति चेत्। न। आरभ्यस्यानित्यत्वादित्युक्तो दोषः। वचनादारभ्योऽपि नित्य एवेति चेत्। न। ज्ञापकत्वाद्वचनस्य। वचनं नाम यथाभूतस्यार्थस्य ज्ञापकं नाविद्यमानस्य कर्तृ। न हि वचनशतेनापि नित्यमारभ्यत आरब्धं वाऽविनाशि भवेत्।

एतेन विद्याकर्मणोः संहतयोर्मोक्षारम्भकत्वं प्रत्युक्तम्। विद्याकर्मणी मोक्षप्रतिबन्धहेतुनिवर्तके इति चेत्। न। कर्मणः फलान्तरदर्शनात्। उत्पत्तिसंस्कारविकाराप्तयो हि फलं कर्मणो दृश्यते। उत्पत्त्यादिफलविपरीतश्च मोक्षः। गतिश्रुतेराप्य इति चेत्। सूर्यद्वारेण "तयोर्ध्वमायन्" (क.उ. २-३-१६) इत्येवमादिगतिश्रुतिभ्यः प्राप्यो मोक्ष इति

चेत्। न। सर्वगतत्वाद्गन्तृभिश्चानन्यत्वादाकाशादिकारणत्वात्सर्वगतं ब्रह्म। ब्रह्माव्यतिरिक्ताश्च सर्वे विज्ञानात्मानः। अतो नाऽऽप्यो मोक्षः। गन्तुरन्यद्विभिन्नदेशं च भवति गन्तव्यम्। न हि येनैवाव्यतिरिक्तं यत्तत्तेनैव गम्यते। तदनन्यत्वप्रसिद्धिश्च, "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" (तै.२-६) "क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि" (गी- १३-२) इत्येवमादिश्रुतिस्मृतिशतेभ्यः।

गत्यैश्वर्यादिश्रुतिविरोध इति चेत्। अथापि स्याद्यद्यप्राप्यो मोक्षस्तदा गतिश्रुतीनां "स एकधा" (छा. उ. ७-२६-२) "स यदि पितृलोककामो भवति" (छा. उ. ८-२-१) "स्त्रीभिर्वा यानैर्वा" (छा. उ. ८-१२-३) इत्यादिश्रुतीनां च कोपः स्यादिति चेत्। न, कार्यब्रह्मविषयत्वात्तासाम्। कार्ये हि ब्रह्मणि स्त्र्यादयः स्युर्न कारणे "एकमेवाद्वितीयं" (छा. उ. ६-२-१) "यत्र नान्यत्पश्यति" (छा. उ. ७-२४-१) "तत्केन कं पश्येत्" (बृ. उ. २-४-१४) इत्यादिश्रुतिभ्यः। विरोधाच्च विद्याकर्मणोः समुच्चयानुपपत्तिः। प्रविलीनकर्त्रादिकारकविशेषतत्त्वविषया हि विद्या तद्विपरीतकारकसाध्येन कर्मणा विरुध्यते। न ह्येकं वस्तु परमार्थतः कर्त्रादिविशेषवत्तच्छून्यं चेत्युभयथा द्रष्टुं शक्यते। अवश्यं ह्यन्यतरन्मिथ्या स्यादन्यतरस्य च मिथ्यात्वप्रसङ्गे युक्तं यत्स्वाभाविकाज्ञानविषयस्य द्वैतस्य मिथ्यात्वम्, "यत्र हि द्वैतमिव भवति" (बृ. उ. २-४-१४) "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति" (बृ. उ. ४-४-१९) "अथ यत्रान्यत्पश्यति तदल्पम्" (छा. उ. ७-२४-१) अन्योऽसावन्योऽहमस्मि" (बृ. उ. १-४-१०) "उदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति" (तै. उ. २-७) इत्यादि श्रुतिशतेभ्यः। सत्यत्वं चैकत्वस्यैकधैवानुद्रष्टव्यम्। "एकमेवाद्वितीयम्" (छा. उ. ६-२-१) "ब्रह्मैवेदꣳ सर्वम्" "आत्मैवेदꣳ सर्वम्" (छा. उ. ७-२५-२) इत्यादिश्रुतिभ्यः। न च संप्रदानादिकारकभेदादर्शने कर्मोपपद्यते। अन्यत्वदर्शनापवादश्च विद्याविषये सहस्रशः श्रूयते। अतो विरोधो विद्याकर्मणोः। अतश्च समुच्चयानुपपत्तिः।

तत्र यदुक्तं संहताभ्यां विद्याकर्मभ्यां मोक्ष इति। अनुपपन्नं तत्। विहितत्वात्कर्मणां श्रुतिविरोध इति चेत्। यद्युपमृद्य कर्त्रादिकारकविशेषमात्मैकत्वविज्ञानं विधीयते सर्पादिभ्रान्तिविज्ञानोपमर्दकरज्ज्वादिविषयविज्ञानवत्। प्राप्तः कर्मविधिश्रुतीनां निर्विषयत्वाद्विरोधः। विहितानि च कर्माणि। स च विरोधो न युक्तः। प्रमाणत्वाच्छ्रुतीनामिति चेन्न पुरुषार्थोपदेशपरत्वाच्छ्रुतीनाम्।

विद्योपदेशपरा तावच्छ्रुतिः संसारात्पुरुषो मोक्षयितव्य इति संसारहेतोरविद्याया विद्यया निवृत्तिः कर्तव्येति विद्याप्रकाशकत्वेन प्रवृत्तेति न विरोधः। एवमपि कर्त्रादि

कारकसद्भावप्रतिपादनपरं शास्त्रं विरुध्यत एवेति चेन्न। यथा प्राप्तमेव कारकास्तित्वमुपादायोपात्तदुरितक्षयार्थं कर्माणि विदधच्छास्त्रं मुमुक्षूणां फलार्थिनां च फलसाधनं न कारकास्तित्वे व्याप्रियते। उपचितदुरितप्रतिबन्धस्य हि विद्योत्पत्तिर्नावकल्पते। तत्क्षये च विद्योत्पत्तिः स्यात्ततश्चाविद्यानिवृत्तिस्तत आत्यन्तिकः संसारोपरमः।

अपि चानात्मदर्शिनो ह्यनात्मविषयः कामः। कामयमानश्च करोति कर्माणि। ततस्तत्फलोपभोगाय शरीराद्युपादानलक्षणः संसारः। तद्व्यतिरेकेणाऽऽत्मैकत्वदर्शिनो विषयाभावात्कामानुपपत्तिः आत्मनि चानन्यत्वात्कामानुपपत्तौ स्वात्मन्यवस्थानं मोक्षः, इत्यतोऽपि विद्याकर्मणोर्विरोधः।

विरोधादेव च विद्या मोक्षं प्रति न कर्माण्यपेक्षते। स्वात्मलाभे तु पूर्वोपचितप्रतिबन्धापनयद्वारेण विद्याहेतुत्वं प्रतिपद्यन्ते कर्माणि नित्यानीति। अत एवास्मिन्प्रकरणे उपन्यस्तानि कर्माणीत्यवोचाम। एवं चाविरोधः कर्मविधिश्रुतीनाम्। अतः केवलाया एव विद्यायाः परं श्रेय इति सिद्धम्।

एवं तर्ह्याश्रमान्तरानुपपत्तिः। कर्मनिमित्तत्वाद्विद्योत्पत्तेः। गार्हस्थ्ये च विहितानि कर्माणीत्यैकाश्रम्यमेव। अतश्च यावज्जीवादिश्रुतयोऽनुकूलतराः। न। कर्मानेकत्वात्। न ह्यग्निहोत्रादीन्येव कर्माणि। ब्रह्मचर्यं तपः सत्यवदनं शमो दमोऽहिंसेत्येवमादीन्यपि कर्माणीतराश्रमप्रसिद्धानि विद्योत्पत्तौ साधकतमान्यसंकीर्णत्वाद्विद्यन्ते ध्यानधारणादिलक्षणानि च। वक्ष्यति च—"तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व" (तै.उ. ३-२) इति। जन्मान्तरकृतकर्मभ्यश्च प्रागपि गार्हस्थ्याद्विद्योत्पत्तिसंभवात्,कर्मार्थत्वाच्च गार्हस्थ्यप्रतिपत्तेः कर्मसाध्यायां च विद्यायां सत्यां, गार्हस्थ्यप्रतिपत्तिरनर्थिकैव। लोकार्थत्वाच्च पुत्रादीनाम्। पुत्रादिसाध्येभ्यश्चायं लोकः पितृलोको देवलोक इत्येतेभ्यो व्यावृत्तकामस्य नित्यसिद्धात्मलोकदर्शिनः कर्माणि प्रयोजनमपश्यतः कथं प्रवृत्तिरुपपद्यते। प्रतिपन्नगार्हस्थ्यस्यापि विद्योत्पत्तौ विद्यापरिपाकाद्विरक्तस्य कर्मसु प्रयोजनमपश्यतः कर्मभ्यो निवृत्तिरेव स्यात्। "प्रव्रजिष्यन्वा अरेऽहमस्मात्स्थानादस्मि" (बृ.उ. ४-५-२) इत्येवमादिश्रुतिलिङ्गदर्शनात्। कर्म प्रति श्रुतेर्यत्नाधिक्यदर्शनादयुक्तमिति चेदग्निहोत्रादिकर्म प्रति श्रुतेरधिको यत्नो महांश्च कर्मण्यायासोऽनेकसाधनसाध्यत्वादग्निहोत्रादीनाम्। तपोब्रह्मचर्यादीनां चेतराश्रमकर्मणां गार्हस्थ्येऽपि समानत्वादल्पसाधनापेक्षत्वाच्चेतरेषां न युक्तस्तुल्यवद्विकल्पः आश्रमिभिस्तस्येति चेन्न। जन्मान्तरकृतानुग्रहात्।

*शं नो मित्रः शं वरुणः। शं नो भवत्वर्यमा। शं न इन्द्रो बृहस्पतिः। शं नो विष्णुरुरुक्रमः। नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि। ऋतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु। अवतु माम्। अवतु वक्तारम्। ॐशान्तिः शान्तिः शान्तिः।

हरिः ॐ। इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि प्रथमः शीक्षाध्यायः समाप्तः।।१।।

*(इस मन्त्र की विद्यानन्दीमिताक्षरा पृ० ३ पर देखें)

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्रजकाचार्ययतीन्द्रकुलतिलककैलासपीठाधीश्वरपरामदर्शमहामण्डलेश्वरस्वामिविद्यानन्दगिरि-विरचितातैत्तिरीयोपनिषत्प्रथमशीक्षाध्यायस्य विद्यानन्दीमिताक्षरा।।१।।

---

यदुक्तं कर्मणि श्रुतेरधिको यत्न इत्यादि, नासौ दोषः। यतो जन्मान्तर-कृतमप्यग्निहोत्रादिलक्षणं कर्म ब्रह्मचर्यादिलक्षणं चानुग्राहकं भवति विद्योत्पत्तिं प्रति। येन जन्मनैव विरक्ता दृश्यन्ते केचित्। केचित्तु कर्मसु प्रवृत्ता अविरक्ता विद्याविद्वेषिणः। तस्माज्जन्मान्तरकृतसंस्कारेभ्यो विरक्तानामाश्रमान्तरप्रतिपत्तिरेवेष्यते। कर्मफलबाहुल्याच्च। पुत्रस्वर्गब्रह्मवर्चसादिलक्षणस्य कर्मफलस्यासंख्येयत्वात्। तत्प्रति च पुरुषाणां काम-बाहुल्यात्तदर्थः श्रुतेरधिको यत्नः कर्मसूपपद्यते। आशिषां बाहुल्यदर्शनादिदं मे स्यादिदं मे स्यादित्युपायत्वाच्च। उपायभूतानि हि कर्माणि विद्यां प्रतीत्यवोचाम। उपायेऽधिको यत्नः कर्तव्यो नोपेये।

कर्मनिमित्तत्वाद्विद्याया यत्नान्तरानर्थक्यमिति चेत्कर्मभ्य एव पूर्वोपचितदुरित-प्रतिबन्धक्षयादेव विद्योत्पद्यते चेत्कर्मभ्यः पृथगुपनिषच्छ्रवणादियत्नोऽनर्थक इति चेत्। न। नियमाभावात्। न हि प्रतिबन्धक्षयादेव विद्योत्पद्यते न त्वीश्वरप्रसादतपोध्यानाद्यनुष्ठा-नादिति नियमोऽस्ति। अहिंसाब्रह्मचर्यादीनां च विद्यां प्रत्युपकारकत्वात्साक्षादेव च कारणत्वाच्छ्रवणमनननिदिध्यासनानाम्। अतः सिद्धान्याश्रमान्तराणि। सर्वेषां चाधिकारो विद्यायां परं च श्रेयः केवलाया विद्याया एवेति सिद्धम्।

*इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ तैत्तिरीयोपनिषच्छीक्षाध्यायभाष्ये द्वादशोऽनुवाकः।।१२।।*

शं नः शीक्षाꣳसह नौ यश्छन्दसां भूः स यः पृथिव्योमित्यृतं चाहं वेदमनूच्य शं नो द्वादश।। शं नो मह इत्यादित्यो नो इतराणि त्रयोविꣳशतिः।।

*इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य शंकर-भगवतः कृतौ तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्ये प्रथमः शीक्षाध्यायः।।१।।*

# अथ तैत्तिरीयोपनिषदि

## द्वितीयो ब्रह्मवल्ल्यध्यायः। तत्र प्रथमोऽनुवाकः।

ॐ शं नो मित्रः शं वरुणः। शं नो भवत्वर्यमा। शं न इन्द्रो बृहस्पतिः। शं नो विष्णुरुरुक्रमः। नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि। ऋतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु। अवतु माम्। अवतु वक्तारम्।।*सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीत-मस्तु मा विद्विषावहै। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

## मिताक्षराहिन्दीव्याख्या

*(वह ब्रह्म आचार्य और शिष्य) हम दोनों की साथ-साथ रक्षा करे, हम दोनों का साथ-साथ पालन करे, हम साथ-साथ विद्याजन्य सामर्थ्य प्राप्त करें, हम दोनों का अध्ययन किया हुआ तेजस्वी (अर्थज्ञान के योग्य) हो और हम परस्पर विद्वेष न करें। त्रिविध ताप की शान्ति हो।

(मन्त्र के पूर्वभाग की हिन्दी व्याख्या पृ० 3 पर देखें।)

---

## श्रीभगवत्पादाद्यशङ्कराचार्यविरचितं भाष्यम्

शं नो मित्र इत्याद्यतीतविद्याप्राप्त्युपसर्गप्रशमनार्था शान्तिः पठिता। इदानीं तु वक्ष्यमाणब्रह्मविद्याप्राप्त्युपसर्गोपशमनार्था शान्तिः पठ्यते—शं नो मित्र इति सह नाववत्विति च। शं नो मित्र इत्यादि पूर्ववत्स्पष्टम्। सह नाववतु नौ शिष्याचार्यौ सहैवावतु रक्षतु। सह नौ भुनक्तु भोजयतु। सह वीर्यं विद्यादिनिमित्तं सामर्थ्यं करवावहै निर्वर्तयावहै। तेजस्वि नावावयोस्तेजस्विनोरधीतं स्वधीतमस्तु। अर्थज्ञान-योग्यमस्त्वित्यर्थः। मा विद्विषावहै विद्याग्रहणनिमित्तं शिष्यस्याऽऽचार्यस्य वा प्रमादकृतादन्यायाद्विद्वेषः प्राप्तस्तच्छमनायेयमाशीर्मा विद्विषावहा इति। मैवेतरेतरं विद्वेषमापद्यावहै। शान्तिः शान्तिः शान्तिरिति त्रिर्वचनमुक्तार्थम्। वक्ष्यमाणविद्या-विघ्नप्रशमनार्थं चेयं शान्तिः। अविघ्नेनाऽऽत्मविद्याप्राप्तिराशास्यते तन्मूलं हि परं श्रेय इति।

विघ्न

ॐ ब्रह्मविदाप्नोति परम्। तदेषाऽभ्युक्ता। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान्कामान्त्सह। ब्रह्मणा विपश्चितेति। तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नात्पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः। तस्येदमेव शिरः। अयं दक्षिणः पक्षः। अयमुत्तरः पक्षः। अयमात्मा। इदं पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति।।१।।

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि द्वितीये ब्रह्मवल्ल्यध्याये प्रथमोऽनुवाकः।।१।।

ब्रह्मज्ञानी परतत्त्व को प्राप्त कर लेता है, इसके विषय में यह श्रुति कही गयी है। ब्रह्म (स्वरूप से व्यभिचरित न होने वाला) सत्य, ज्ञानस्वरूप और देश-काल वस्तु कृत परिच्छेद रहित है। जो पुरुष (उस ब्रह्म को) बुद्धिरूप गुफा में निहित जानता है, वह सर्वज्ञ ब्रह्मरूप से सम्पूर्ण भोगों को एक साथ प्राप्त कर लेता है। उस इस उक्त लक्षण वाले आत्मा से ही (सर्वप्रथम शब्द गुणवाला) आकाश उत्पन्न हुआ। आकाश से (शब्द-स्पर्श दो गुणवाला) वायु उत्पन्न हुआ। वायु से (शब्द, स्पर्श और रूप गुण वाला) तेज, तेज से (शब्द, स्पर्श, रूप और रस गुणवाला) जल, जल से (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध गुणवाली) पृथिवी, पृथिवी से औषधियाँ, औषधियों से अन्न और वीर्यरूप में परिणत हुए अन्न से पुरुष उत्पन्न हुआ। वह यह पुरुष अन्न और रस का विकार है, उसका यह (प्रसिद्ध शिर) ही शिर है, यह (दक्षिण बाहु) ही दक्षिण पंख है। यह (बायीं भुजा) वाम पंख है। यह (शरीर का मध्यभाग अङ्गों का) आत्मा है और यह (नाभि के नीचे का भाग) पुच्छ प्रतिष्ठा है। इसके विषय में ही यह मन्त्र है।।१।।

।।इति प्रथमोऽनुवाकः।।

---

संहितादिविषयाणि कर्मभिरविरुद्धान्युपासनान्युक्तानि। अनन्तरं चान्तःसोपाधिकात्मदर्शनमुक्तं व्याहृतिद्वारेण स्वाराज्यफलम्। न चैतावताशेषतः संसारबीजस्योपमर्दनमस्तीत्यतोऽशेषोपद्रवबीजस्याज्ञानस्य निवृत्त्यर्थं विधूतसर्वोपाधिविशेषात्मदर्शनार्थमिदमारभ्यते ब्रह्मविदाप्नोतिपरमित्यादि। प्रयोजनंचास्या ब्रह्मविद्याया अविद्यानिवृत्तिस्तत आत्यन्तिकः संसाराभावः। वक्ष्यति च—"विद्वान्न बिभेति कुतश्चन" (तै.उ. २-९) इति। संसारनिमित्ते च सति

"अभयं प्रतिष्ठां विन्दते" (तै.उ. २-७) इत्यनुपपन्नम्। "कृताकृते पुण्यपापे न तपतः" इति च। अतोऽवगम्यतेऽस्माद्विज्ञानात्सर्वात्मब्रह्मविषयादात्यन्तिकः संसाराभाव इति। स्वयमेव च प्रयोजनमाह ब्रह्मविदाप्नोति परमित्यादावेव संबन्धप्रयोजनज्ञापनार्थम्। निर्ज्ञातयोर्हि संबन्धप्रयोजनयोर्विद्याश्रवणग्रहणधारणाभ्यासार्थं प्रवर्तते। श्रवणादिपूर्वकं हि विद्याफलम् "श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" (बृ.उ. २-४-५) इत्यादिश्रुत्यन्तरेभ्यः। ब्रह्मविद्ब्रह्मेति वक्ष्यमाणलक्षणं बृहत्तमत्वाद्ब्रह्म तद्वेत्ति विजानातीति ब्रह्मविदाप्नोति परं निरतिशयं तदेव ब्रह्म परम्। न ह्यन्यस्य विज्ञानादन्यस्य प्राप्तिः। स्पष्टं च श्रुत्यन्तरं ब्रह्मप्राप्तिमेव ब्रह्मविदो दर्शयति "स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" (तै.उ. ३-२-९) इत्यादि।

ननु सर्वगतं सर्वस्याऽऽत्मभूतं ब्रह्म वक्ष्यति। अतो नाऽऽप्यं प्राप्तिश्चान्यस्यान्येन परिच्छिन्नस्य च परिच्छिन्नेन दृष्टा। अपरिच्छिन्नं सर्वात्मकं च ब्रह्मेत्यतः परिच्छिन्नवदनात्मवच्च तस्याऽऽप्तिरनुपपन्ना। नायं दोषः। कथम्? दर्शनादर्शनापेक्षत्वाद्ब्रह्मण आप्त्यनाप्त्योः। परमार्थतो ब्रह्मरूपस्यापि सतोऽस्य जीवस्य भूतमात्राकृतबाह्यपरिच्छिन्नान्नमयाद्यात्मदर्शिनस्तदासक्तचेतसः प्रकृतसंख्यापूरणस्याऽऽत्मनोऽव्यवहितस्यापि बाह्यसंख्येयविषयासक्तचित्ततया स्वरूपाभावदर्शनवत्परमार्थब्रह्मस्वरूपाभावदर्शनलक्षणयाऽविद्ययाऽन्नमयादीन्बाह्यानानात्मन आत्मत्वेन प्रतिपन्नत्वादन्नमयाद्यनात्मभ्यो नान्योऽहमस्मीत्यभिमन्यते। एवमविद्ययाऽऽत्मभूतमपि ब्रह्मानाप्तं स्यात्। तस्यैवमविद्ययाऽनाप्तब्रह्मस्वरूपस्य प्रकृतसंख्यापूरणस्याऽऽत्मनोऽविद्ययाऽनाप्तस्य सतः केनचित्स्मारितस्य पुनस्तस्यैव विद्ययाऽऽप्तिर्यथा तथा श्रुत्युपदिष्टस्य सर्वात्मब्रह्मण आत्मत्वदर्शनेन विद्यया तदाप्तिरुपपद्यत एव।

ब्रह्मविदाप्नोति परमिति वाक्यं सूत्रभूतं सर्वस्य वल्ल्यर्थस्य। ब्रह्मविदाप्नोति परमित्यनेन वाच्येन वेद्यतया सूत्रितस्य ब्रह्मणोऽनिर्धारितस्वरूपविशेषस्य सर्वतो व्यावृत्तस्वरूपविशेषसमर्पणसमर्थस्य लक्षणस्याभिधानेन स्वरूपनिर्धारणायाविशेषेण चोक्तवेदनस्य ब्रह्मणो वक्ष्यमाणलक्षणस्य विशेषेण प्रत्यगात्मतयाऽनन्यरूपेण विज्ञेयत्वाय ब्रह्मविद्याफलं च ब्रह्मविदो यत्परब्रह्मप्राप्तिलक्षणमुक्तं स सर्वात्मभावः सर्वसंसारधर्मातीतब्रह्मस्वरूपत्वमेव नान्यदित्येतत्प्रदर्शनायैषर्गुदाह्रियते —

तदेषाऽभ्युक्तेति। तत्तस्मिन्नेव ब्राह्मणवाक्योक्तेऽर्थ एषर्गभ्युक्ताऽऽम्नाता। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति ब्रह्मणो लक्षणार्थवाक्यम्। सत्यादीनि हि त्रीणि विशेषणार्थानि

पदानि विशेष्यस्य ब्रह्मणः। विशेष्यं विवक्षितत्वाद्वेद्यतया। विशेषणविशेष्यत्वादेव सत्यादीन्येकविभक्त्यन्तानि पदानि समानाधिकरणानि। सत्यादिभिस्त्रिभिर्विशेषणैर्विशेष्यमाणं ब्रह्म विशेष्यान्तरेभ्यो निर्धार्यते। एवं हि तज्ज्ञानं भवति यदन्येभ्यो निर्धारितम्। यथा लोके नीलं महत्सुगन्ध्युत्पलमिति।

ननु विशेष्यं विशेषणान्तरं व्यभिचरद्विशेष्यते। यथा नीलं रक्तं चोत्पलमिति। यदा ह्यनेकानि द्रव्याण्येकजातीयान्यनेकविशेषणयोगीनि तदा विशेषणस्यार्थवत्त्वम्। न ह्येकस्मिन्नेव वस्तुनि विशेषणान्तरायोगाद्यथाऽसावेक आदित्य इति। तथैकमेव च ब्रह्म न ब्रह्मान्तराणि येभ्यो विशेष्येत नीलोत्पलवत्। न। लक्षणार्थत्वाद्विशेषणानाम्। नायं दोषः। कस्मात्। यस्माल्लक्षणार्थप्रधानानि विशेषणानि न विशेषणप्रधानान्येव। कः पुनर्लक्षणलक्ष्ययोर्विशेषणविशेष्ययोर्वा विशेष इति। उच्यते। समानजातीयेभ्य एवं निवर्तकानि विशेषणानि विशेष्यस्य लक्षणं तु सर्वत एव यथाऽवकाशप्रदात्राकाशमिति। लक्षणार्थं च वाक्यमित्यवोचाम।

सत्यादिशब्दा न परस्परं संबध्यन्ते परार्थत्वाद्विशेष्यार्था हि ते। अत एकैको विशेषणशब्दः परस्परं निरपेक्षो ब्रह्मशब्देन संबध्यते। सत्यं ब्रह्म ज्ञानं ब्रह्मानन्तं ब्रह्मेति। सत्यमिति। यद्रूपेण यन्निश्चितं तद्रूपं न व्यभिचरति तत्सत्यं यद्रूपेण निश्चितं यत्तद्रूपं व्यभिचरदनृतमित्युच्यते। अतो विकारोऽनृतं "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" (छा.उ. ६-१-४) एवं सदेव सत्यमित्यवधारणात्। अतः सत्यं ब्रह्मेति ब्रह्मविकारान्निवर्तयति। अतः कारणत्वं प्राप्तं ब्रह्मणः। कारणस्य च कारकत्वं वस्तुत्वान्मृद्वदचिद्रूपता च प्राप्ताऽत इदमुच्यते ज्ञानं ब्रह्मेति। ज्ञानं ज्ञप्तिरवबोधो भावसाधनो ज्ञानशब्दो ब्रह्मविशेषणत्वात्सत्यानन्ताभ्यां सह। न हि सत्यताऽनन्तता च ज्ञानकर्तृत्वे सत्युपपद्यते। ज्ञानकर्तृत्वेन हि विक्रियमाणं कथं सत्यं भवेदनन्तं च। यद्धि न कुतश्चित्प्रविभज्यते तदनन्तम्। ज्ञानकर्तृत्वे च ज्ञेयज्ञानाभ्यां प्रविभक्तमित्यनन्तता न स्यात्। "यत्र नान्यद्विजानाति स भूमा" "अथ यत्रान्यद्विजानाति तदल्पम्" (छा.उ. ७-२४-१) इति श्रुत्यन्तरात्।

नान्यद्विजानातीति विशेषप्रतिषेधादात्मानं विजानातीति चेन्न। भूमलक्षणविधिपरत्वाद्वाक्यस्य। यत्र नान्यत्पश्यतीत्यादि भूम्नो लक्षणविधिपरं वाक्यम्। यथा प्रसिद्धमेवान्योऽन्यत्पश्यतीत्येतदुपादाय यत्र तन्नास्ति स भूमेति भूमस्वरूपं तत्र ज्ञाप्यतेऽन्यग्रहणस्य प्राप्तप्रतिषेधार्थत्वान्न स्वात्मनि क्रियास्तित्वपरं वाक्यम्। स्वात्मनि च भेदाभावा-

द्विज्ञानानुपपत्तिः। आत्मनश्च विज्ञेयत्वे ज्ञात्रभावप्रसङ्गः। ज्ञेयत्वेनैव विनियुक्तत्वात्। एक एवाऽऽत्मा ज्ञेयत्वेन ज्ञातृत्वेन चोभयथा भवतीति चेन्न युगपदनंशत्वात्। न हि निरवयवस्य युगपज्ज्ञेयज्ञातृत्वोपपत्तिः। आत्मनश्च घटादिवद्विज्ञेयत्वे ज्ञानोपदेशानर्थक्यम्। न हि घटादिवत्प्रसिद्धस्य ज्ञानोपदेशोऽर्थवान्। तस्माज्ज्ञातृत्वे सत्यानन्त्यानुपपत्तिः। सन्मात्रत्वं चानुपपन्नं ज्ञानकर्तृत्वादिविशेषवत्त्वे सति। सन्मात्रत्वं च सत्यत्वम्, "तत्सत्यमिति" (छा.उ. ६-८-७) श्रुत्यन्तरात्। तस्मात्सत्यानन्तशब्दाभ्यां सह विशेषणत्वेन ज्ञानशब्दस्य प्रयोगाद्भाव-साधनो ज्ञानशब्दः। ज्ञानं ब्रह्मेति कर्तृत्वादिकारकनिवृत्त्यर्थं मृदादिवदचिद्रूपतानिवृत्त्यर्थं च प्रयुज्यते। ज्ञानं ब्रह्मेतिवचनात्प्राप्तमन्तवत्त्वम्। लौकिकस्य ज्ञानस्यान्तवत्त्वदर्शनात्। अतस्तन्निवृत्त्यर्थमाह—अनन्तमिति।

सत्यादीनामनृतादिधर्मनिवृत्तिपरत्वाद्विशेष्यस्य च ब्रह्मण उत्पलादिवदप्रसिद्धत्वात्।

"मृगतृष्णाम्भसि स्नातः खपुष्पकृतशेखरः।
एष वन्ध्यासुतो याति शशशृङ्गधनुर्धरः"।।

इतिवच्छून्यार्थतैव प्राप्ता सत्यादिवाक्यस्येति चेन्न लक्षणार्थत्वात्। विशेषणत्वेऽपि सत्यादीनां लक्षणार्थप्राधान्यमित्यवोचाम। शून्ये हि लक्ष्येऽनर्थकं लक्षणवचनं लक्षणार्थ-त्वान्मन्यामहे न शून्यार्थतेति। विशेषणार्थत्वेऽपि च सत्यादीनां स्वार्थापरित्याग एव।

शून्यार्थत्वे हि सत्यादिशब्दानां विशेष्यनियन्तृत्वानुपपत्तिः। सत्याद्यर्थैरर्थवत्त्वे तु तद्विपरीतधर्मवद्भ्यो विशेष्येभ्यो ब्रह्मणो विशेष्यस्य नियन्तृत्वमुपपद्यते, ब्रह्मशब्दोऽपि स्वार्थेनार्थवानेव। तत्रानन्तशब्दोऽन्तवत्त्वप्रतिषेधद्वारेण विशेषणम्। सत्यज्ञानशब्दौ तु स्वार्थसमर्पणेनैव विशेषणे भवतः।

"तस्माद्वा एतस्मादात्मन" (तै.उ. २-१) इति ब्रह्मण्येवाऽऽत्मशब्दप्रयोगाद्वेदितुरात्मा एव ब्रह्म। "एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामती"ति (तै.उ. २-८) च। तत्प्रवेशाच्च। "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशदिति" (तै.उ. २-६) च तस्यैव जीवरूपेण शरीरप्रवेशं दर्शयति। अतो वेदितुः स्वरूपं ब्रह्म। एवं तर्ह्यात्मत्वाज्ज्ञानकर्तृत्वमात्मा ज्ञातेति हि प्रसिद्धम्। "सोऽकामयतेति" (तै.उ. २-६) च कामिनो ज्ञानकर्तृत्वप्रसिद्धिः। अतो ज्ञानकर्तृत्वाज्ज्ञप्तिर्ब्रह्मेत्ययुक्तमनित्य-त्वप्रसङ्गाच्च। यदि नाम ज्ञप्तिर्ज्ञानमिति भावरूपता ब्रह्मणस्तथाऽप्यनित्यत्वं प्रसज्येत पारतन्त्र्यं च। धात्वर्थानां कारकापेक्षत्वात्। ज्ञानं च धात्वर्थोऽतोऽस्यानित्यत्वं परतन्त्रता च। न, स्वरूपाव्यतिरेकेण कार्यत्वोपचारात्। आत्मनः स्वरूपं ज्ञप्तिर्न ततो व्यतिरिच्यतेऽतो

नित्यैव तथाऽपि बुद्धेरुपाधिलक्षणायाश्चक्षुरादिद्वारैर्विषयाकारेण परिणामिन्या ये शब्दाद्याकारावभासास्त आत्मविज्ञानस्य विषयभूता उत्पद्यमाना एवाऽऽत्मविज्ञानेन व्याप्ता उत्पद्यन्ते। तस्मादात्मविज्ञानावभासाश्च ते विज्ञानशब्दवाच्याश्च धात्वर्थभूता आत्मन एव धर्मा विक्रियारूपा इत्यविवेकिभिः परिकल्प्यन्ते।

यत्तु ब्रह्मणो विज्ञानं तत्सवितृप्रकाशवदग्न्युष्णवच्च ब्रह्मस्वरूपाव्यतिरिक्तं स्वरूपमेव तन्न कारणान्तरसव्यपेक्षम्। नित्यस्वरूपत्वात्। सर्वभावानां च तेनाविभक्त-देशकालत्वात्कालाकाशादिकारणत्वान्निरतिशयसूक्ष्मत्वाच्च न तस्यान्यदविज्ञेयं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टं भूतं भवद्भविष्यद्वाऽस्ति। तस्मात्सर्वज्ञं तद्ब्रह्म। मन्त्रवर्णाच्च—

"अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।

स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्" इति। (श्वे. उ.-३-१९)

"न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति" (बृ.उ. ४-३-३०) इत्यादिश्रुतेश्च।

विज्ञातृस्वरूपाव्यतिरेकात्करणादिनिमित्तानपेक्षत्वाच्च ब्रह्मणो ज्ञानस्वरूपत्वेऽपि नित्यत्वप्रसिद्धिरतो नैव धात्वर्थस्तदक्रियारूपत्वात्। अत एव च न ज्ञानकर्तृ, तस्मादेव च न ज्ञानशब्दवाच्यमपि तद्ब्रह्म। तथाऽपि तदाभासवाचकेन बुद्धिधर्मविषयेण ज्ञान-शब्देन तल्लक्ष्यते न तूच्यते, शब्दप्रवृत्तिहेतुजात्यादिधर्मरहितत्वात्। तथा सत्यशब्देनापि सर्वविशेषप्रत्यस्तमितस्वरूपत्वाद्ब्रह्मणो बाह्यसत्तासामान्यविषयेण सत्यशब्देन लक्ष्यते सत्यं ब्रह्मेति न तु सत्यशब्दवाच्यमेव ब्रह्म। एवं सत्यादिशब्दा इतरेतरसंनिधावन्योन्यनिय-म्यनियामकाः सन्तः सत्यादिशब्दवाच्यान्निवर्तका ब्रह्मणो लक्षणार्थाश्च भवन्तीत्यतः सिद्धं "यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह" (तै.उ. २-४) "अनिरुक्तेऽनिलयने" (तै.उ. २-७) इति चावाच्यत्वं नीलोत्पलवदवाक्यार्थत्वं च ब्रह्मणः।

तद्यथाव्याख्यातं ब्रह्म यो वेद विजानाति निहितं स्थितं गुहायाम्। गूहतेः संवरणार्थस्य निगूढा अस्यां ज्ञानज्ञेयज्ञातृपदार्था इति गुहा बुद्धिः। गूढावस्यां भोगापवर्गौ पुरुषार्थाविति वा तस्यां परमे प्रकृष्टे व्योमन्व्योम्न्याकाशेऽव्याकृताख्ये। तद्धि परमं व्योम "एतस्मिन्खल्वक्षरे गार्ग्याकाशः" (बृ.उ. ३-८-११) इत्यक्षरसंनिकर्षात्। गुहायां व्योम्नीति वा सामानाधिकरण्यादव्याकृताकाशमेव गुहा, तत्रापि निगूढाः सर्वे पदार्थास्त्रिषु कालेषु कारणत्वात्सूक्ष्मतरत्वाच्च। तस्मिन्नन्तर्निहितं ब्रह्म। हार्दमेव तु परमं व्योमेति न्याय्यं विज्ञानाङ्गत्वेनोपासनाङ्गत्वेन व्योम्नो विवक्षितत्वात्।

"यो वै स बहिर्धा पुरुषादाकाशो यो वै सोऽन्तः पुरुष आकाशो योऽयमन्तर्हृदय आकाशः" इति श्रुत्यन्तरात्प्रसिद्धं हार्दस्य व्योम्नः परमत्वम्। तस्मिन्हार्दे व्योम्नि या बुद्धिर्गुहा तस्यां निहितं ब्रह्म तद्वृत्त्या विविक्ततयोपलभ्यत इति। न ह्यन्यथा विशिष्टदेशकालसंबन्धोऽस्ति ब्रह्मणः सर्वगतत्वान्निर्विशेषत्वाच्च।

स एवं ब्रह्म विजानन्किमित्याह—अश्नुते भुङ्क्ते सर्वान्निरवशिष्टान्कामान्भोगानित्यर्थः। किमस्मदादिवत्पुत्रस्वर्गादीन्पर्यायेण? नेत्याह। सह युगपदेकक्षणोपारूढानेवैकयोपलब्ध्या सवितृप्रकाशवन्नित्यया ब्रह्मस्वरूपाव्यतिरिक्तया यामवोचाम सत्यं ज्ञानमनन्तमिति। एतत्तदुच्यते—ब्रह्मणा सहेति। ब्रह्मभूतो विद्वान्ब्रह्मस्वरूपेणैव सर्वान्कामान्सहाश्नुते, न यथोपाधिकृतेन स्वरूपेणाऽऽत्मना जलसूर्यकादिवत्प्रतिबिम्बभूतेन सांसारिकेण धर्मादिनिमित्तापेक्षांश्चक्षुरादिकरणापेक्षांश्च कामान्पर्यायेणाश्नुते लोकः। कथं तर्हि? तद्धि वैपश्चित्यं यत्सर्वज्ञत्वं तेन सर्वज्ञस्वरूपेण ब्रह्मणाऽश्नुत इति। इतिशब्दो मन्त्रपरिसमाप्त्यर्थः।

सर्व एव वल्ल्यर्थो ब्रह्मविदाप्नोति परमिति ब्राह्मणवाक्येन सूत्रितः। स च सूत्रितोऽर्थः संक्षेपतो मन्त्रेण व्याख्यातः। पुनस्तस्यैव विस्तरेणार्थनिर्णयः कर्तव्य इत्युत्तरस्तद्वृत्तिस्थानीयो ग्रन्थ आरभ्यते तस्माद्वा एतस्मादित्यादिः। तत्र च सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेत्युक्तं मन्त्रादौ तत्कथं सत्यं ज्ञानमनन्तं चेत्यत आह। तत्र त्रिविधं ह्यानन्त्यं देशतः कालतो वस्तुतश्चेति। तद्यथा देशतोऽनन्त आकाशो न हि देशतस्तस्य परिच्छेदोऽस्ति। न तु कालतश्चाऽऽनन्त्यं वस्तुतश्चाऽऽकाशस्य। कस्मात्? कार्यत्वात्।

नैवं ब्रह्मण आकाशवत्कालतोऽप्यन्तवत्त्वमकार्यत्वात्। कार्यं हि वस्तु कालेन परिच्छिद्यते। अकार्यं च ब्रह्म। तस्मात्कालतोऽप्यनन्तम्। तथा वस्तुतः। कथं पुनर्वस्तुत आनन्त्यं सर्वानन्यत्वात्। भिन्नं हि वस्तु वस्त्वन्तरस्यान्तो भवति। वस्त्वन्तरबुद्धिर्हि प्रसक्ता वस्त्वन्तरान्निवर्तते। यतो यस्य बुद्धेर्विनिवृत्तिः स तस्यान्तः। तद्यथा गोत्वबुद्धिरश्वत्वाद्विनिवर्तत इत्यश्वत्वान्तं गोत्वमित्यन्तवदेव भवति। स चान्तो भिन्नेषु वस्तुषु दृष्टो नैवं ब्रह्मणो भेदः। अतो वस्तुतोऽप्यानन्त्यम्। कथं पुनः सर्वानन्यत्वं ब्रह्मण इत्युच्यते, सर्ववस्तुकारणत्वात्। सर्वेषां हि वस्तूनां कालाकाशादीनां कारणं ब्रह्म। कार्यापेक्षया वस्तुतोऽन्तवत्त्वमितिचेन्न। अनृतत्वात्कार्यवस्तुनः। न हि कारणव्यतिरेकेण कार्यं नाम वस्तुतोऽस्ति। यतः कारणबुद्धिर्विनिवर्तेत। वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यमेवं सदेव सत्यमिति (छा. उ. ६-१-४)

शांकर भाष्य पूर्वाग्रह सहित नहीं। अन्य भाष्य पूर्वाग्रह सहित है।
जानाति - इच्छति - यतते।



श्रुत्यन्तरात्। तस्मादाकाशादिकारणत्वाद्देशतस्तावदनन्तं ब्रह्म। आकाशो ह्यनन्त इति प्रसिद्धं देशतस्तस्य चायं कारणं तस्मात्सिद्धं देशत आत्मन आनन्त्यम्। न ह्यसर्वगतात्सर्वगतमुत्पद्यमानं लोके किंचिद्दृश्यते। अतो निरतिशयमात्मन आनन्त्यं देशतस्तथाऽकार्यत्वात्कालत स्तद्भिन्नवस्त्वन्तराभावाच्च वस्तुतोऽत एव निरतिशयसत्यत्वम्।

तस्मादिति मूलवाक्यसूत्रितं ब्रह्म परामृश्यते। एतस्मादितिमन्त्रवाक्येणानन्तरं यथालक्षितम्। यद्ब्रह्माऽऽदौ ब्राह्मणवाक्येन सूत्रितं यच्च सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेत्यनन्तरमेव लक्षितं तस्मादेतस्माद्ब्रह्मण आत्मन आत्मशब्दवाच्यात्। आत्मा हि तत्सर्वस्य "तत्सत्यं स आत्मेति (छा.उ. ६-८-७)" श्रुत्यन्तरादतो ब्रह्माऽऽत्मा। तस्मादेतस्माद्ब्रह्मण आत्मस्वरूपादाकाश संभूतः समुत्पन्नः। आकाशो नाम शब्दगुणोऽवकाशकरो मूर्तद्रव्याणाम्। तस्मादाकाशात्स्वेन स्पर्शगुणेन पूर्वेण च कारणेन शब्देन द्विगुणो वायुः। संभूत इत्यनुवर्तते। वायोश्च स्वेन रूपगुणेन पूर्वाभ्यां च त्रिगुणोऽग्निः संभूतः। अग्नेः स्वेन रसगुणेन पूर्वैश्च त्रिभिश्चतुर्गुणा आपः संभूताः। अद्भ्यः स्वेन गन्धगुणेन पूर्वैश्चतुर्भिः पञ्चगुणा पृथिवी संभूता। पृथिव्या ओषधयः। ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नाद्रेतोरूपेण परिणतात्पुरुषः शिरःपाण्याद्याकृतिमान्। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयोऽन्नरसविकारः। पुरुषाकृतिभावितं हि सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः संभूतं रेतो बीजं तस्माद्यो जायते सोऽपि तथा पुरुषाकृतिरेव स्यात्। सर्वजातिषु जायमानानां जनकाकृतिनियमदर्शनात्।

सर्वेषामप्यन्नरसविकारत्वे ब्रह्मवंश्यत्वे चाविशिष्टे कस्मात्पुरुष एव गृह्यते? प्राधान्यात्। किं पुनः प्राधान्यम्। कर्मज्ञानाधिकारः। पुरुष एव हि शक्तत्वादर्थित्वादपर्युदस्तत्वाच्चार्थी विद्वान्समर्थः कर्मज्ञानयोरधिक्रियते— "पुरुषे त्वेवाऽऽविस्तरामात्मा स हि प्रज्ञानेन संपन्नतमो विज्ञातं (वदति) पश्यति वेद श्वस्तनं वेद लोकालोकौ मर्त्येनामृतमीप्सति" इत्येवं संपन्नः, अथेतरेषां पशूनामशनापिपासे एवाभिविज्ञानमित्यादिश्रुत्यन्तरदर्शनात्।

स हि पुरुष इह विद्ययाऽन्तरतमं ब्रह्म संक्रामयितुमिष्टस्तस्य च बाह्याकारविशेषेष्वनात्मस्वात्मभाविता बुद्धिरनालम्ब्य विशेषं कंचित्सहसाऽन्तरतमप्रत्यगात्मविषया निरालम्बना च कर्तुमशक्येति दृष्टशरीरात्मसामान्यकल्पनया शाखाचन्द्रनिदर्शनवदन्तः प्रवेशयन्नाह—तस्येदमेव शिरः। तस्यास्य पुरुषस्यान्नरसमयस्येदमेव शिरः प्रसिद्धम्। प्राणमयादिष्वशिरसां शिरस्त्वदर्शनादिहापि तत्प्रसङ्गो मा भूदितीदमेव शिर

अथ ब्रह्मवल्ल्यध्याये द्वितीयोऽनुवाकः

**अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते। याः काश्च पृथिवीꣳ श्रिताः। अथो अन्नेनैव जीवन्ति। अथैनदपि यन्त्यन्ततः। अन्नꣳ हि भूतानां ज्येष्ठम्। तस्मात्सर्वौषधमुच्यते। सर्वं वै तेऽन्नमाप्नुवन्ति। येऽन्नं ब्रह्मोपासते। अन्नꣳ हि भूतानां ज्येष्ठम्। तस्मात्सर्वौषधमुच्यते। अन्नाद्भूतानि जायन्ते। जातान्यन्नेन वर्धन्ते। अद्यते-**

(रसादिरूप में परिणत हुए) अन्न से ही स्थावर-जंगमरूप प्रजा उत्पन्न होती है, जो कोई प्रजा पृथिवी के आश्रित है और उत्पत्ति के अनन्तर अन्न से ही जीवित रहती है। पुनः जीवनवृत्ति की समाप्ति होने पर अन्न में ही लीन हो जाती है क्योंकि अन्नही प्राणियों का अग्रज है। इसीलिए सम्पूर्ण (प्राणियों के देह के संताप को शान्त करने वाला) औषध कहलाता है। जो कोई अन्न ब्रह्म की उपासना करते हैं वे निश्चय ही सम्पूर्ण अन्न को प्राप्त करते हैं। अन्न ही प्राणियों में ज्येष्ठ है, अन्न से ही प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न

---

इत्युच्यते। एवं पक्षादिषु योजना। अयं दक्षिणो बाहुः पूर्वाभिमुखस्य दक्षिणः पक्षः। अयं सव्यो बाहुरुत्तर पक्षः। अयं मध्यमो देहभाग आत्माऽङ्गानाम्। "मध्यं ह्येषामङ्गानामात्मा" इति श्रुतेः। इदमिति नाभेरधस्ताद्यदङ्गं तत्पुच्छं प्रतिष्ठा। प्रतितिष्ठत्यनयेति प्रतिष्ठा पुच्छमिव पुच्छमधोलम्बनसामान्याद्यथा गोः पुच्छम्। एतत्प्रकृत्योत्तरेषां प्राणमयादीना रूपकत्वसिद्धिः। मूषानिषिक्तद्रुतताम्रप्रतिमावत्। तदप्येष श्लोको भवति। तत्तस्मिन्नेवार्थे ब्राह्मणोक्तेऽन्नमयात्मप्रकाशक एष श्लोको मन्त्रो भवति।

*इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ तैत्तिरीयोपनिषदि द्वितीयब्रह्मवल्ल्यध्यायभाष्ये प्रथमोऽनुवाकः।।१।।*

अन्नाद्रसादिभावपरिणतात्। वा इति स्मरणार्थः। प्रजा स्थावरजङ्गमाः प्रजायन्ते। याः काश्चाविशिष्टाः पृथिवीं श्रिताः पृथिवीमाश्रितास्ताः सर्वा अन्नादेव प्रजायन्ते। अथो अपि जाता अन्नेनैव जीवन्ति प्राणान्धारयन्ति वर्धन्त इत्यर्थः। अथाप्येनदन्नमपि यन्त्यपि गच्छन्ति। अपिशब्दः प्रतिशब्दार्थे। अन्नं प्रति प्रलीयन्त इत्यर्थः। अन्ततोऽन्ते जीवनलक्षणाया वृद्धेः परिसमाप्तौ। कस्मात्? अन्नं हि यस्माद्भूतानां प्राणिनां ज्येष्ठं

ऽत्ति च भूतानि। तस्मादन्नं तदुच्यत इति। तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयात्। अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम्। अन्वयं पुरुषविधः। तस्य प्राण एव शिरः। व्यानो दक्षिणः पक्षः। अपान उत्तरः पक्षः। आकाश आत्मा। पृथिवी पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति।।१।।

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि द्वितीये ब्रह्मवल्ल्यध्याये द्वितीयोऽनुवाकः।।२।।

होकर अन्न से बढ़ते हैं, अन्न प्राणियों द्वारा खाया जाता है और जो स्वयं भी प्राणियों को खाता है। अतएव वह अन्न कहा जाता है। उस इस पूर्वोक्त अन्नरसमय पिण्ड से पृथक् उसके भीतर रहने वाला शरीर प्राणमय है। उस प्राणमय से ही वह अन्नमय कोश परिपूर्ण है। वह यह प्राणमय आत्मा भी पुरुषाकार ही है, उस अन्न रसमय की पुरुषाकारता के अनुसार (साँचे में ढली हुई प्रतिमा के समान) यह प्राणमय कोश भी पुरुषाकार है, उस (वायुविकाररूप प्राणमय कोश) का मुख और नासिका से निकलने वाला प्राण ही शिर है। व्यान दक्षिण पक्ष है, अपान उत्तर पक्ष है, आकाश मध्यभाग है और पृथिवी पुच्छ प्रतिष्ठा है, उसी प्राणमय कोश के विषय में यह मन्त्र है।।१।।

।। इति द्वितीयोऽनुवाकः।।

---

प्रथमजम्। अन्नमयादीनां हीतरेषां भूतानां कारणमन्नमतोऽन्नप्रभवा अन्नजीवना अन्नप्रलयाश्च सर्वाः प्रजाः। यस्माच्चैवं तस्मात्सर्वौषधं सर्वप्राणिनां देहदाहप्रशमनमन्नमुच्यते।

अन्नब्रह्मविदः फलमुच्यते। सर्वं वै ते समस्तमन्नजातमाप्नुवन्ति। के। येऽन्नं ब्रह्म यथोक्तमुपासते। कथमन्नजोऽन्नात्माऽन्नप्रलयोऽहं तस्मादन्नं ब्रह्मेति। कुतः पुनः सर्वान्नप्राप्तिफलमन्नात्मोपासनमिति? उच्यते। अन्नं हि भूतानां ज्येष्ठम्। भूतेभ्यः पूर्वं निष्पन्नत्वाज्ज्येष्ठं हि यस्मात्तस्मात्सर्वौषधमुच्यते। तस्मादुपपन्ना सर्वान्नात्मोपासकस्य

सर्वान्नप्राप्तिः। अन्नाद्भूतानि जायन्ते। जातान्यन्नेन वर्धन्त इत्युपसंहारार्थं पुनर्वचनम्। इदानीमन्ननिर्वचनमुच्यते। अद्यते भुज्यते चैव यद्भूतैरन्नमत्ति च भूतानि स्वयं तस्माद्भूतैर्भुज्यमानत्वाद्भूतभोक्तृत्वाच्चान्नं तदुच्यते। इतिशब्दः प्रथमकोशपरिसमाप्त्यर्थः।

अन्नमयादिभ्य आनन्दमयान्तेभ्य आत्मभ्योऽभ्यन्तरतमं ब्रह्म, विद्यया प्रत्यगात्मत्वेन दिदर्शयिषु शास्त्रमविद्याकृतपञ्चकोशापनयनेनानेकतुषकोद्रववितुषीकरणेनेव तदन्तर्गततण्डुलान्प्रस्तौति तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयादित्यादि। तस्मादेतस्माद्यथोक्तादन्नरसमयात्पिण्डादन्यो व्यतिरिक्तोऽन्तरोऽभ्यन्तर आत्मा पिण्डवदेव मिथ्यापरिकल्पित आत्मत्वेन प्राणमयः प्राणो वायुस्तन्मयस्तत्प्रायः। तेन प्राणमयेनान्नरसमय आत्मैष पूर्णो वायुनेव दृतिः।

स वा एष प्राणमय आत्मा पुरुषविध एव पुरुषाकार एव, शिरःपक्षादिभिः। किं स्वतः एव? नेत्याह। प्रसिद्धं तावदन्नरसमयस्याऽऽत्मनः पुरुषविधत्वम्। तस्मादन्नरसमयस्य पुरुषविधतां पुरुषाकारताम् अन्वयं प्राणमयः पुरुषविधो मूषानिषिक्तप्रतिमावन्न स्वत एव। एवं पूर्वस्य पूर्वस्य पुरुषविधतामनूत्तरोत्तरः पुरुषविधो भवति पूर्वः पूर्वश्चोत्तरोत्तरेण पूर्णः। कथं पुनः पुरुषविधताऽस्येत्युच्यते। तस्य प्राणमयस्य प्राण एव शिरः प्राणमयस्य वायुविकारस्य प्राणो मुखनासिकानिःसरणो वृत्तिविशेषः शिर एव परिकल्प्यते वचनात्। सर्वत्र वचनादेव पक्षादिकल्पना। व्यानो व्यानवृत्तिर्दक्षिणः पक्षः। अपान उत्तरः पक्षः। आकाश आत्मा य आकाशस्थो वृत्तिविशेषः समानाख्यः स आत्मेवाऽऽत्मा प्राणवृत्त्यधिकारान्मध्यस्थत्वादितराः पर्यन्ता वृत्तीरपेक्ष्याऽऽत्मा। "मध्यं ह्येषामङ्गानामात्मा" इतिश्रुतिप्रसिद्धं मध्यस्थस्याऽऽत्मत्वम्। पृथिवी पुच्छं प्रतिष्ठा। पृथिवीति पृथिवी देवताऽऽध्यात्मिकस्य प्राणस्य धारयित्री स्थितिहेतुत्वात्। "सैषा पुरुषस्यापानमवष्टभ्य" (प्र.उ. ३-८) इति हि श्रुत्यन्तरम्। अन्यथोदानवृत्त्योर्ध्वगमनं गुरुत्वाच्च पतनं वा स्याच्छरीरस्य तस्मात्पृथिवीदेवता पुच्छं प्रतिष्ठा प्राणमयस्याऽऽत्मनः। तत्तस्मिन्नेवार्थे प्राणमयात्मविषय एष श्लोको भवति।।१।।

*इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ तैत्तिरीयोपनिषदि द्वितीयब्रह्मवल्ल्यध्यायभाष्ये द्वितीयोऽनुवाकः।।२।।*

✦ द्वितीयमाह्निकम् ✦

प्राण की महिमा और मनोमय कोश

अथ ब्रह्मवल्ल्यध्याये तृतीयोऽनुवाकः

**प्राणं देवा अनु प्राणन्ति। मनुष्याः पशवश्च ये। प्राणो हि भूतानामायुः। तस्मात्सर्वायुषमुच्यते। सर्वमेव त आयुर्यन्ति। ये प्राणं ब्रह्मोपासते। प्राणो हि भूताना-मायुः। तस्मात्सर्वायुषमुच्यत इति। तस्यैष एव शारीर आत्मा। यः पूर्वस्य। तस्माद्वा एतस्मात्प्राणमयात्। अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम्। अन्वयं पुरुषविधः। तस्य यजुरेव शिरः। ऋग्दक्षिणः पक्षः।**

यजुषा हि हविर्दीयते स्वाहाकारादिना

इन्द्रियाँ प्राण के पीछे प्राणन करती हैं और अग्नि आदि देवगण वायु रूप प्राण के अनुगामी होकर प्राणन क्रिया करते हैं तथा जो भी मनुष्य पशु आदि हैं (वे प्राणन क्रिया से ही चेष्टा वाले होते हैं।) प्राण ही प्राणियों का जीवन है। इसीलिए वह आयु कहलाता है। जो कोई भी प्राणमय की ब्रह्म रूप से उपासना करते हैं, वे पूर्ण आयु प्राप्त करते हैं। प्राण ही प्राणियों की आयु है। इसलिए वह सर्वायुष कहलाता है। (इस प्रकार उपासना के फल की प्राप्ति बतलाने के लिए उक्त बात की पुनरावृत्ति की गयी।) उस पूर्वोक्त अन्नमय कोश का यही देहस्थित प्राणमय आत्मा है। उस इस प्राणमय कोश से पृथक् इसके भीतर रहने वाला शरीर मनोमय है, उस मनोमय से यह प्राणमय कोश परिपूर्ण है। वह यह (संकल्प-विकल्पात्मक मनोमय कोश) भी पुरुषाकार ही है। उस

---

प्राणं देवा अनु प्राणन्ति। देवा अग्न्यादयः प्राणं वाय्वात्मानं प्राणन-शक्तिमन्तमनु तदात्मभूताः सन्तः प्राणन्ति प्राणनकर्म कुर्वन्ति प्राणनक्रियया क्रियावन्तो भवन्ति। अध्यात्माधिकाराद्देवा इन्द्रियाणि प्राणमनु प्राणन्ति मुख्यप्राणमनु चेष्टन्त इति वा। तथा मनुष्याः पशवश्च ये ते प्राणनकर्मणैव चेष्टावन्तो भवन्ति। अतश्च नान्नमयेनैव परिच्छिन्नेनाऽऽत्मनाऽऽत्मवन्तः प्राणिनः। किं तर्हि तदन्तर्गतेन प्राणमयेनापि साधारणेनैव सर्वपिण्डव्यापिनाऽऽत्मवन्तो मनुष्यादयः। एवं मनोमयादिभिः पूर्वपूर्वव्यापिभिरुत्तरोत्तरैः सूक्ष्मैरानन्दमयान्तैराकाशादिभूतारब्धैरविद्याकृतैरात्मवन्तः सर्वे प्राणिनः। तथा स्वाभाविकेनाऽऽप्याकाशादिकारणेन नित्येनाविकृतेन सर्वगतेन सत्यज्ञानानन्तलक्षणेन पञ्चकोशातिगेन सर्वात्मनाऽऽत्मवन्तः। स हि परमार्थत आत्मा

ब्राह्मण भाग यति देश स्य विशेषात्

**सामोत्तरः पक्षः। आदेश आत्मा। अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति।।१।।** मन्त्र

शान्तिक, पौष्टिक प्रतिष्ठा कर्म कारणत्वात्

**इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि द्वितीये ब्रह्मवल्ल्यध्याये तृतीयोऽनुवाकः।।३।।**

(प्राणमय कोश) की पुरुषाकारता के अनुरूप ही यह मनोमय भी पुरुषाकार है "यजुः" (संकेत विशिष्ट मनोवृत्ति) उसका शिर है, ऋग् विषयक मनोवृत्ति दक्षिणपक्ष है, साम विषयक मनोवृत्ति उत्तरपक्ष है। आदेश (ब्राह्मण भाग) आत्मा है तथा अथर्वाङ्गिरस (ऋषि के साक्षात्कार किये मन्त्र और ब्राह्मण ही) पुच्छ प्रतिष्ठा है, (क्योंकि उनमें शान्ति और पुष्टि के कारण रूप कर्मों की प्रधानता है) इस मनोमय आत्मा के विषय में ही यह मन्त्र है।।१।।

।।इति तृतीयोऽनुवाकः।।

---

सर्वेषामित्येतदप्यर्थादुक्तं भवति। प्राणं देवा अनु प्राणन्तीत्युक्तं तत्कस्मादित्याह। प्राणो हि यस्माद्भूतानां प्राणिनामायुर्जीवनम्। "यावद्ध्यस्मिञ्शरीरे प्राणो वसति तावदायुः" इति (कौ. उ. ३-२) श्रुत्यन्तरात्। तस्मात्सर्वायुषम्। सर्वेषामायुः सर्वायुः सर्वायुरेव सर्वायुषमित्युच्यते। प्राणापगमे मरणप्रसिद्धेः। प्रसिद्धं हि लोके सर्वायुष्ट्वं प्राणस्य। अतोऽस्माद्बाह्यादसाधारणादन्नमयादात्मनोऽपक्रम्यान्तःसाधारणं प्राणमयमात्मानं ब्रह्मोपासते येऽहमस्मि प्राणः सर्वभूतानामात्माऽऽयुर्जीवनहेतुत्वादिति ते सर्वमेवाऽऽयुरस्मिँल्लोके यन्ति नापमृत्युना म्रियन्ते प्राक्प्राप्तादायुष इत्यर्थः। शतं वर्षाणीति तु युक्तं सर्वमायुरिति श्रुतिप्रसिद्धेः। किं कारणं प्राणो हि भूतानामायुस्तस्मात्सर्वायुषमुच्यत इति। यो यद्गुणकं ब्रह्मोपास्ते स तद्गुणभाग्भवतीति विद्याफलप्राप्तेर्हेत्वर्थं पुनर्वचनं प्राणो हीत्यादि। तस्य पूर्वस्यान्नमयस्यैष एव शरीरेऽन्नमये भवः शारीर आत्मा। कः। य एष प्राणमयः।

तस्माद्वा एतस्मादित्युक्तार्थमन्यत्। अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः। मन इति संकल्पाद्यात्मकमन्तःकरणं तन्मयो यथाऽन्नमयः। सोऽयं प्राणमयस्याऽऽभ्यन्तर आत्मा। तस्य यजुरेव शिरः। यजुरित्यनियताक्षरपादावसानो मन्त्रविशेषस्तज्जातीयवचनो यजुःशब्दस्तस्य शिरस्त्वं प्राधान्यात्। प्राधान्यं च यागादौ संनिपत्योपकारात्। यजुषा हि हविर्दीयते स्वाहाकारादिना। वाचनिकी वा शिरआदिकल्पना सर्वत्र। मनसो हि

सं + नि पत् - क्त्वा = ल्यप् ... संनिपत्य

मनोमय की महिमा तथा विज्ञानमय कोश।

अथ ब्रह्मवल्ल्यां चतुर्थोऽनुवाकः।

**यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्। न बिभेति कदाचनेति। तस्यैष**

**जहाँ से मन के सहित वाणी उसे प्राप्त न कर लौट आती है। उस ब्रह्म के आनन्द को जानने वाला पुरुष कभी डरता नहीं। जो मनोमय कोश है, उस अपने प्राणमय कोश का यही आत्मा है। उस इस मनोमय से पृथक् इसके भीतर आत्मा विज्ञानमय कोश है।**

---

स्थानप्रयत्ननादस्वरवर्णपदवाक्यविषया तत्संकल्पात्मिका तद्भाविता वृत्तिः श्रोत्रादिकरणद्वारा यजुःसंकेतविशिष्टा यजुरित्युच्यते। एवमृगेवं साम च। एवं च मनोवृत्तित्वे मन्त्राणां वृत्तिरेवाऽऽवर्त्यत इति मानसो जप उपपद्यते। अन्यथाऽविषयत्वान्मन्त्रो नाऽऽवर्तयितुं शक्यो घटादिवदिति मानसो जपो नोपपद्यते। मन्त्रावृत्तिश्च चोद्यते बहुशः कर्मसु। अक्षरविषयस्मृत्यावृत्त्या मन्त्रावृत्तिः स्यादिति चेन्न। मुख्यार्थासंभवात्। "त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमाम्" इति ऋगावृत्तिः श्रूयते। तत्रर्चोऽविषयत्वे तद्विषयस्मृत्यावृत्तौ च क्रियमाणायां त्रिः प्रथमामन्वाहेति ऋगावृत्तिर्मुख्योऽर्थश्चोदितः परित्यक्तः स्यात्। तस्मान्मनोवृत्त्युपाधिपरिच्छिन्नं मनोवृत्तिनिष्ठमात्मचैतन्यमनादिनिधनं यजुःशब्दवाच्यमात्मविज्ञानं मन्त्रा इति। एवं च नित्यत्वोपपत्तिर्वेदानाम्। अन्यथा विषयत्वे रूपादिवदनित्यत्वं च स्यान्नैतद्युक्तम्। "सर्वे वेदा यत्रैकं भवन्ति स मानसीन आत्मा" इति च श्रुतिर्नित्यात्मनैकत्वं ब्रुवत्यृगादीनां नित्यत्वे समञ्जसा स्यात्। "ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः" इति च मन्त्रवर्णः।

आदेशोऽत्र ब्राह्मणमतिदेष्टव्यविशेषानतिदिशतीति। अथर्वणाऽङ्गिरसा च दृष्टा मन्त्रा ब्राह्मणं च शान्तिकपौष्टिकादिप्रतिष्ठाहेतुकर्मप्रधानत्वात्पुच्छं प्रतिष्ठा तदप्येष श्लोको भवति मनोमयात्मप्रकाशकः पूर्ववत् ।।१।।

*इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ तैत्तिरीयोपनिषदि द्वितीयब्रह्मवल्ल्यध्यायभाष्ये तृतीयोनुऽवाकः।।३।।*

यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सहेत्यादिः। तस्य पूर्वस्य प्राणमयस्यैष एवाऽऽत्मा शारीरः शरीरे प्राणमये भवः शारीरः। कः। य एष मनोमयः। तस्माद्वा एतस्मादित्यादि पूर्ववत्। अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयो मनोमयस्याऽऽभ्यन्तरो

एव शारीर आत्मा। यः पूर्वस्य। तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयात्। अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम्। अन्वयं पुरुषविधः। तस्य श्रद्धैव शिरः। ऋतं दक्षिणः पक्षः। सत्यमुत्तरः पक्षः। योग आत्मा। महः पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति।।१।।

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि द्वितीये ब्रह्मवल्ल्यध्याये चतुर्थोऽनुवाकः।।४।।

उस विज्ञानमय से यह मनोमय परिपूर्ण है। वह यह निश्चय रूप विज्ञानमय भी पुरुष के आकार का ही है। उसकी पुरुषाकारता के अनुरूप ही यह विज्ञानमय भी पुरुषाकार है। उसका शिर श्रद्धा ही है, ऋत दक्षिणपक्ष है, सत्य उत्तरपक्ष है, समाधान ही मध्यभाग है और महत्तत्त्व पुच्छ प्रतिष्ठा है। उस विज्ञानमय के विषय में ही यह मन्त्र है।।१।।

।।इति चतुर्थोऽनुवाकः।।

---

विज्ञानमयो मनोमयो वेदात्मोक्तः। वेदार्थविषया बुद्धिर्निश्चयात्मिका विज्ञानं तच्चाध्यवसायलक्षणमन्तःकरणस्य धर्मः। तन्मयो निश्चयविज्ञानैः प्रमाणस्वरूपैर्निव(र्व)र्तित आत्मा विज्ञानमयः। प्रमाणविज्ञानपूर्वको हि यज्ञादिस्तायते। यज्ञादिहेतुत्वं च वक्ष्यति श्लोकेन।

निश्चयविज्ञानवतो हि कर्तव्येष्वर्थेषु पूर्वं श्रद्धोत्पद्यते। सा सर्वकर्तव्यानां प्राथम्याच्छिर इव शिरः। ऋतसत्ये यथाव्याख्याते एव। योगो युक्तिः समाधानम्। आत्मेवाऽऽत्मा। आत्मवतो हि युक्तस्य समाधानवतोऽङ्गानीव श्रद्धादीनि यथार्थप्रतिपत्तिक्षमाणि भवन्ति, तस्मात्समाधानं योग आत्मा विज्ञानमयस्य। महः पुच्छं प्रतिष्ठा। मह इति महत्तत्त्वं प्रथमजम्। "महद्यक्षं प्रथमजम्" इति श्रुत्यन्तरात्। पुच्छं प्रतिष्ठा। कारणत्वात्। कारणं हि कार्याणां प्रतिष्ठा। यथा वृक्षवीरुधां पृथिवी। सर्वबुद्धिविज्ञानानां च महत्तत्त्वं कारणम्। तेन तद्विज्ञानमयस्याऽऽत्मनः प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति पूर्ववत्। यथाऽन्नमयादीनां ब्राह्मणोक्तानां प्रकाशकाः श्लोका एवं विज्ञानमयस्यापि ।।१।।

*इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ तैत्तिरीयोपनिषदि द्वितीयब्रह्मवल्ल्यध्यायभाष्ये चतुर्थोऽनुवाकः।।४।।*

अथ ब्रह्मवल्ल्यां पञ्चमोऽनुवाकः।

**विज्ञानं यज्ञं तनुते। कर्माणि तनुतेऽपि च। विज्ञानं देवाः सर्वे। ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते। विज्ञानं ब्रह्म चेद्वेद। तस्माच्चेन्न प्रमाद्यति। शरीरे पाप्मनो हित्वा। सर्वान्कामान्त्समश्नुत इति। तस्यैष एव शारीर आत्मा। यः पूर्वस्य। तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात्।**

विज्ञानवान् (पुरुष ही श्रद्धादि पूर्वक) यज्ञ का विस्तार करता है और वही कर्मों का भी विस्तार करता है। इन्द्रादि सभी देवगण (सर्वप्रथम उत्पन्न होने से) ज्येष्ठ विज्ञानस्वरूप ब्रह्म की उपासना करते हैं। विज्ञान ब्रह्म है, इस प्रकार साधक जाने और फिर उससे प्रमाद भी न करे (अर्थात् बाह्य अनात्म पदार्थों में आत्मबुद्धिरूप प्रमाद न करे) तो अपने (शरीराभिमान के कारण होने वाले) सम्पूर्ण पापों को त्याग कर वह समस्त भोगों को विज्ञानमय स्वरूप से ही पूर्णतया उपभोग करता है। उस पूर्व कथित मनोमय शरीर का आत्मा यह विज्ञानमय कोश ही है। उस इस विज्ञानमय कोश से भिन्न उसके भीतर

---

विज्ञानं यज्ञं तनुते। विज्ञानवान्हि यज्ञं तनोति श्रद्धादिपूर्वकम्। अतो विज्ञानस्य कर्तृत्वं तनुते इति, कर्माणि च तनुते। यस्माद्विज्ञानकर्तृकं सर्वं तस्माद्युक्तं विज्ञानमय आत्मा ब्रह्मेति। किंच विज्ञानं ब्रह्म सर्वे देवा इन्द्रादयो ज्येष्ठं प्रथमजत्वात्सर्वप्रवृत्तीनां वा तत्पूर्वकत्वात्प्रथमजं विज्ञानं ब्रह्मोपासते ध्यायन्ति तस्मिन्विज्ञानमये ब्रह्मण्यभिमानं कृत्वोपासते इत्यर्थः। तस्मात्ते महतो ब्रह्मण उपासनाज्ज्ञानैश्वर्यवन्तो भवन्ति। तच्च विज्ञानं ब्रह्म चेद्यदि वेद विजानाति न केवलं वेदैव तस्माद्ब्रह्मणश्चेन्न प्रमाद्यति। बाह्येष्वेवानात्मस्वात्मभावितत्वात्प्राप्तं विज्ञानमये ब्रह्मण्यात्मभावनायाः प्रमदनं, तन्निवृत्त्यर्थमुच्यते तस्माच्चेन्न प्रमाद्यतीति। अन्नमयादिष्वात्मभावं हित्वा केवले विज्ञानमये ब्रह्मण्यात्मत्वं भावयन्नास्ते चेदित्यर्थः। ततः किं स्यादित्युच्यते—शरीरे पाप्मनो हित्वा शरीराभिमाननिमित्ता हि सर्वे पाप्मानस्तेषां च विज्ञानमये ब्रह्मण्यात्माभिमानान्निमित्तापाये हानमुपपद्यते। छत्रापाय इव च्छायापायः। तस्माच्छरीराभिमाननिमित्तान्सर्वान्पाप्मनः शरीरप्रभवाच्छरीरे एव हित्वा विज्ञानमयब्रह्मस्वरूपापन्नस्तत्स्थान्सर्वान् कामान्विज्ञानमयेनैवाऽऽत्मना समश्नुते सम्यग्भुङ्क्त इत्यर्थः।

अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम्। अन्वयं पुरुषविधः। तस्य प्रियमेव शिरः। मोदो दक्षिणः पक्षः। प्रमोद उत्तरः पक्षः। आनन्द आत्मा। ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति ।।१।।

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि द्वितीये ब्रह्मवल्ल्यध्याये पञ्चमोऽनुवाकः ।।५।।

रहने वाला आनन्दमय है। उस आनन्दमय के द्वारा यह विज्ञानमय परिपूर्ण है। वह यह आनन्दमय कोश भी पुरुषाकार ही है। विज्ञानमय की पुरुषाकारता के अनुरूप ही यह भी पुरुषाकार है उस आनन्दमय आत्मा का प्रिय वृत्ति ही शिर है, मोदवृत्ति दक्षिण पंख है, प्रमोदवृत्ति उत्तर पंख है, आनन्द आत्मा और ब्रह्म पुच्छरूप आश्रय है। उसके विषय में यह मन्त्र है।।१।।

।।इति पञ्चमोऽनुवाकः।।

---

तस्य पूर्वस्य मनोमयस्याऽऽत्मैष एव शरीरे मनोमये भवः शारीरः। कः। य एष विज्ञानमयः। तस्माद्वा एतस्मादित्युक्तार्थम्। आनन्दमय इति कार्यात्मप्रतीतिरधिकारान्मयट्शब्दाच्च। अन्नमयादि हि कार्यात्मानो भौतिका इहाधिकृताः। तदधिकारपतितश्चायमानन्दमयः। मयट् चात्र विकारार्थे दृष्टो यथाऽन्नमय इत्यत्र। तस्मात्कार्यात्माऽऽनन्दमयः प्रत्येतव्यः। संक्रमणाच्च, आनन्दमयमात्मानमुपसंक्रामतीति वक्ष्यति। कार्यात्मनां च संक्रमणमन्नात्मनां दृष्टम् संक्रमणकर्मत्वेन चाऽऽनन्दमय आत्मा श्रूयते। यथाऽन्नमयमात्मानमुपसंक्रामतीति। न चाऽऽत्मन एवोपसंक्रमणम्। अधिकारविरोधादसंभवाच्च। न ह्यात्मनैवाऽऽत्मन उपसंक्रमणं संभवति। स्वात्मनि भेदाभावात्। आत्मभूतं च ब्रह्म संक्रमितुः। शिरआदिकल्पनानुपपत्तेश्च। न हि यथोक्तलक्षण आकाशादिकारणेऽकार्यपतिते शिरआद्यवयवरूपककल्पनोपपद्यते। "अदृश्येऽनात्म्येऽनिलयनेऽनिरुक्ते" (तै.उ. २-७) "अस्थूलमनणु" (बृ.उ. ३-८-८) "नेति नेत्यात्मे" (बृ.उ. ३-९-२६) त्यादिविशेषापोहश्रुतिभ्यश्च। मन्त्रोदाहरणानुपपत्तेश्च। न हि प्रियशिरआद्यवयवविशिष्टे प्रत्यक्षतोऽनुभूयमाने आनन्दमये आत्मनि ब्रह्मणि नास्ति ब्रह्मेत्याशङ्काभावात् "असन्नेव स भवति। असद्ब्रह्मेति वेद

चेत्" मन्त्रोदाहरणमुपपद्यते। ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठेत्यपि चानुपपन्नं पृथग्ब्रह्मणः प्रतिष्ठात्वेन ग्रहणम्। तस्मात्कार्यपतितः एवाऽऽनन्दमयो न पर एवाऽऽत्मा। आनन्द इति विद्याकर्मणोः फलम्। तद्विकार आनन्दमयः। स च विज्ञानमयादन्तरः। यज्ञादिहेतोर्विज्ञानमयस्यान्तर(त्व?)-श्रुतेः। ज्ञानकर्मणोर्हि फलं भोक्त्रर्थत्वादन्तरतमं स्यात्। अन्तरतमश्चाऽऽनन्दमय आत्मा पूर्वेभ्यः। विद्याकर्मणोः प्रियाद्यर्थत्वाच्च। प्रियादिप्रयुक्ते हि विद्याकर्मणी। तस्मात्प्रियादीनां फलरूपाणामात्मसंनिकर्षाद्विज्ञानमयस्याऽऽभ्यन्तरत्वमुपपद्यते। प्रियादिवासनानिर्वृत्तो ह्यानन्द-मयो विज्ञानमयाश्रितः स्वप्ने उपलभ्यते।

तस्याऽऽनन्दमयस्याऽऽत्मन इष्टपुत्रादिदर्शनजं प्रियं शिर इव शिरः प्राधान्यात्। मोद इति प्रियलाभनिमित्तो हर्षः। स एव च प्रकृष्टो हर्षः प्रमोदः। आनन्द इति सुखसामान्यमात्मा प्रियादीनां सुखावयवानां तेष्वनुस्यूतत्वादानन्द इति परं ब्रह्म। तद्धि शुभकर्मणा प्रत्युपस्थाप्यमाने पुत्रमित्रादिविषयविशेषोपाधावन्तःकरणवृत्तिविशेषे तमसाऽप्रच्छाद्यमाने प्रसन्नेऽभिव्यज्यते। तद्विषयसुखमिति प्रसिद्धं लोके। तद्वृत्तिविशेष-प्रत्युपस्थापकस्य कर्मणोऽनवस्थितत्वात्सुखस्य क्षणिकत्वम्। तद्यदाऽन्तःकरणं तपसा तमोघ्नेन विद्यया ब्रह्मचर्येण श्रद्धया च निर्मलत्वमापद्यते यावद्यावत्तावत्तावद्वि-विक्ते प्रसन्नेऽन्तःकरण आनन्दविशेष उत्कृष्यते विपुलीभवति। वक्ष्यति च—"रसो वै सः। रसꣳ ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति। एष ह्येवाऽऽनन्दयाति। एतस्यैवाऽऽनन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति" इति च श्रुत्यन्तरात्। एवं च कामोपशमोत्कर्षापेक्षया शतगुणोत्तरोत्तरोत्कर्ष आनन्दस्य वक्ष्यते। एवं चोत्कृष्यमाणस्याऽऽनन्दमयस्याऽऽत्मनः परमार्थब्रह्मविज्ञानापेक्षया ब्रह्म परमेव यत्प्रकृतं सत्यज्ञानानन्तलक्षणं यस्य च प्रतिपत्त्यर्थपञ्चान्नादिमयाः कोशा उपन्यस्ताः। यच्च तेभ्योऽभ्यन्तरं येन च ते सर्व आत्मवन्तस्तद्ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा। तदेव च सर्वस्याविद्यापरिकल्पितस्य द्वैतस्या-वसानभूतमद्वैतं ब्रह्म प्रतिष्ठा। आनन्दमयस्यैकत्वावसानत्वादस्ति तदेकमविद्या-कल्पितस्य द्वैतस्यावसानभूतमद्वैतं ब्रह्म प्रतिष्ठा पुच्छं तदेतस्मिन्नप्यर्थ एष श्लोको भवति ।।१।।

*इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ तैत्तिरीयोपनिषदि द्वितीयब्रह्मवल्ल्यध्याये पञ्चमोऽनुवाकः ।।५ ।।*

सद् और असद् रूप से ब्रह्म को जानने का फल तथा सम्पूर्ण प्रपंच रूप से ब्रह्म की स्थिति

अथ ब्रह्मवल्ल्यध्याये षष्ठोऽनुवाकः

असन्नेव स भवति। असद्ब्रह्मेति वेद चेत्। अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद। सन्तमेनं ततो विदुरिति। तस्यैष एव शारीर आत्मा। यः पूर्वस्य। अथातोऽनुप्रश्नाः। उताविद्वानमुं लोकं प्रेत्य। कश्चन गच्छती३। आहो विद्वानमुं लोकं प्रेत्य। कश्चित्समश्नुता३उ। सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा। इदꣳ सर्वमसृजत। यदिदं किंच। तत्सृष्ट्वा। तदेवानुप्राविशत्। तदनुप्रविश्य। सच्च

"ब्रह्म असद् है" ऐसा यदि कोई पुरुष जानता है तो वह स्वयं ही असद् हो जाता है, (क्योंकि असद् पदार्थ पुरुषार्थ से सम्बन्ध नहीं रखता) और "ब्रह्म है" तो उसे ब्रह्मवेत्ता लोग सद्रूप मानते हैं। उस पूर्वोक्त विज्ञानमय का यह जो आनन्दमय है। वह शरीर स्थित आत्मा है (इस प्रकार आचार्य का उपदेश सुनकर शिष्य के) अब ये अनुप्रश्न हैं, (आकाशादि का कारण होने से ब्रह्म विद्वान् और अविद्वान् दोनों ही के लिये समान रूप से प्राप्त है अतः) क्या कोई अज्ञानी पुरुष भी इस वर्तमान शरीर को त्याग कर उस परमात्मा को प्राप्त कर सकता है या कोई विद्वान् इस वर्तमान देह को छोड़कर उस परमात्मा को प्राप्त होता है या नहीं प्राप्त होता है, (इस प्रकार इन दोनों के ब्रह्म प्राप्ति के विषय में की गयी शंका के समाधान के लिए आचार्य कहते हैं—) उस परमेश्वर ने कामना की "मैं बहुत रूप से उत्पन्न होऊँ।" इसलिए उसने विचाररूप तप किया और तप करने के बाद ही यह जो कुछ जगत् है, इस सबकी रचना उसने की। इसे रचकर वह परमेश्वर इसी में जीवन भाव से प्रविष्ट हो गया। इस

---

असन्नेवासत्सम एव यथाऽसन्न पुरुषार्थसंबन्ध्येवं स भवति अपुरुषार्थसंबन्धी। कोऽसौ। योऽसदविद्यमानं ब्रह्मेति वेद विजानाति चेद्यदि। तद्विपर्ययेण यत्सर्वविकल्पास्पदं सर्वप्रवृत्तिबीजं सर्वविशेषप्रत्यस्तमितमप्यस्ति तद्ब्रह्मेति वेद चेत्। कुतः पुनराशङ्का तन्नास्तित्वे, व्यवहारातीतत्वं ब्रह्मण इति ब्रूमः। व्यवहारविषये हि वाचारम्भणमात्रेऽस्तित्वभाविता बुद्धिस्तद्विपरीते व्यवहारातीते नास्तित्वमपि प्रतिपद्यते। यथा घटादिर्व्यवहारविषयतयोपपन्नः संस्तद्विपरीतोऽसन्निति प्रसिद्धम्। एवं तत्सामान्यादिहापि स्याद्ब्रह्मणो नास्तित्वं प्रत्याशङ्का। तस्मादुच्यते—अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेदेति। किं पुनः स्यात्तदस्तीति विजानतस्तदाह—सन्तं विद्यमानं ब्रह्मस्वरूपेण परमार्थसदात्मापन्नमेनमेवंविदं

त्यच्चाभवत्। निरुक्तं चानिरुक्तं च। निलयनं चानिलयनं च। विज्ञानं चाविज्ञानं च। सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्। यदिदं किंच। तत्सत्यमित्याचक्षते। तदप्येष श्लोको भवति ।।१।।

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि द्वितीये ब्रह्मवल्ल्यध्याये षष्ठोऽनुवाकः।।६।।

शरीर में अनुप्रवेश कर वह अबाधित सत्यस्वरूप परमेश्वर पृथिव्यादि मूर्त, आकाशादि अमूर्त, देश-काल वस्तु से परिच्छिन्न कहने योग्य और ऐसा न कहने योग्य, आश्रय-अनाश्रय, चेतन-अचेतन एवं व्यावहारिक दृष्टि से सत्य तथा असत्य रूप में यह जो कुछ भी है, उसे ब्रह्मतत्त्वदर्शी "सत्य" इस नाम से कहते हैं। उसी के विषय में यह मन्त्र है।।१।।

।। इति षष्ठोऽनुवाकः ।।

---

विदुर्ब्रह्मविदस्ततस्तस्मादस्तित्ववेदनात्सोऽन्येषां ब्रह्मवद्विज्ञेयो भवतीत्यर्थः। अथवा यो नास्ति ब्रह्मेति मन्यते स सर्वस्यैव सन्मार्गस्य वर्णाश्रमादिव्यवस्थालक्षणस्याश्रद्दधानतया नास्तित्वं प्रतिपद्यतेऽब्रह्मप्रतिपत्त्यर्थत्वात्तस्य। अतो नास्तिकः सोऽसन्नसाधुरुच्यते लोके। तद्विपरीतः सन्योऽस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद स तद्ब्रह्मप्रतिपत्तिहेतुं सन्मार्गं वर्णाश्रमादिव्यवस्थालक्षणं श्रद्दधानतया यथावत्प्रतिपद्यते यस्मात्ततस्तस्मात्सन्तं साधुमार्गस्थमेनं विदुः साधवः। तस्मादस्तीत्येव ब्रह्म प्रतिपत्तव्यमिति वाक्यार्थः।

तस्य पूर्वस्य विज्ञानमयस्यैष एव शरीरे विज्ञानमये भवः शारीर आत्मा। कोऽसौ। य एष आनन्दमयः। तं प्रति नास्त्याशङ्का नास्तित्वे, अपोढसर्वविशेषत्वात्तु ब्रह्मणो नास्तित्वं प्रत्याशङ्का युक्ता। सर्वसामान्याच्च ब्रह्मणो यस्मादेवमतस्तस्मात्। अथानन्तरं श्रोतुः शिष्यस्यानुप्रश्ना आचार्योक्तिमन्वेते प्रश्ना अनुप्रश्नाः।

सामान्यं हि ब्रह्माऽऽकाशादिकारणत्वाद्विदुषोऽविदुषश्च। तस्मादविदुषोऽपि ब्रह्मप्राप्तिराशङ्क्यते। उतापि। अविद्वानमुं लोकं परमात्मानमितः प्रेत्य कश्चन। चनशब्दोऽप्यर्थे। अविद्वानपि गच्छति प्राप्नोति किंवा न गच्छतीति द्वितीयोऽपि प्रश्नो द्रष्टव्योऽनुप्रश्ना इति बहुवचनाद्विद्वांसं प्रत्यन्यौ प्रश्नौ। यद्यविद्वान्सामान्यं कारणमपि ब्रह्म न गच्छति ततो विदुषोऽपि ब्रह्मागमनमाशङ्क्यते। अतस्तं प्रति प्रश्न आहो विद्वानिति।

विद्वान्ब्रह्मविदपि कश्चिदितः प्रेत्यामुं लोकं समश्नुते उ इत्येवं स्थितेऽयादेशे यलोपे च कृतेऽकारस्य प्लुतिः समश्नुता उ इत्युकारं च वक्ष्यमाणमधस्तादपकृष्य तकारं च पूर्वस्मादुतशब्दाद्व्यासज्याऽऽहो इत्येतस्मात्पूर्वमुतशब्दं संयोज्य पृच्छ्यत उताऽऽहो विद्वानिति। विद्वान्समश्नुतेऽमुं लोकम्।

किंवा यथाऽविद्वानेव विद्वानपि न समश्नुत इत्यपरः प्रश्नः। द्वावेव वा प्रश्नौ विद्वदविद्वद्विषयौ। बहुवचनं तु सामर्थ्यप्राप्तप्रश्नान्तरापेक्षया घटते। "असद्ब्रह्मेति वेद चेत्। अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद" इति श्रवणादस्ति नास्तीति संशयस्ततोऽर्थप्राप्तः किमस्ति नास्तीति प्रथमोऽनुप्रश्नः। ब्रह्मणोऽपक्षपातित्वादविद्वान्गच्छति न गच्छतीति द्वितीयः। ब्रह्मणः समत्वेऽप्यविदुष इव विदुषोऽप्यगमनमाशङ्क्यते। किं विद्वान्समश्नुते न समश्नुते इति तृतीयोऽनुप्रश्नः। एतेषां प्रतिवचनार्थमुत्तरग्रन्थ आरभ्यते। तत्रास्तित्वमेव तावदुच्यते। यच्चोक्तं "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इति, तच्च कथं सत्यत्वमित्येतद्वक्तव्य-मितीदमुच्यते सत्त्वोक्त्यैव सत्यत्वमुच्यते। उक्तं हि "सदेव सत्यम्" इति। तस्मात्सत्त्वोक्त्यैव सत्यत्वमुच्यते। कथमेवमर्थताऽवगम्यतेऽस्य ग्रन्थस्य, शब्दानुगमादनेनैव ह्यर्थेनान्वितान्युत्तराणि वाक्यानि। "तत्सत्यमित्याचक्षते" (तै.उ. २-६) "यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्" (तै.उ. २-७) इत्यादीनि।

तत्रासदेव ब्रह्मेत्याशङ्क्यते। कस्मात्। यदस्ति तद्विशेषतो गृह्यते यथा घटादि। यन्नास्ति तन्नोपलभ्यते यथा शशविषाणादि। तथा नोपलभ्यते ब्रह्म। तस्माद्विशेषतोऽ-ग्रहणान्नास्तीति। तन्न। आकाशादिकारणत्वाद्ब्रह्मणः। न नास्ति ब्रह्म, कस्मादा- काशादि हि सर्वं कार्यं ब्रह्मणो जातं गृह्यते। यस्माच्च जायते किंचित्तदस्तीति दृष्टं लोके यथा घटाङ्कुरादिकारणं मृद्बीजादि। तस्मादाकाशादिकारणत्वादस्ति ब्रह्म। न चासतो जातं किंचिद्गृह्यते लोके कार्यम्। असतश्चेन्नामरूपादिकार्यं निरात्मकत्वान्नोपलभ्येत। उपलभ्यते तु। तस्मादस्ति ब्रह्म। असतश्चेत्कार्यं गृह्यमाणमप्यसदन्वितमेव तत्स्यात्। न चैवं, तस्मादस्ति ब्रह्म।

तत्र कथमसतः सज्जायेतेति श्रुत्यन्तरमसतः सज्जन्मासंभवमन्वाचष्टे न्यायतः। तस्मात्सदेव ब्रह्मेति युक्तम्। तद्यदि मृद्बीजादिवत्कारणं स्यादचेतनं तर्हि, न, काम-यितृत्वात्। न हि कामयित्रचेतनमस्ति लोके। सर्वज्ञं हि ब्रह्मेत्यवोचाम। अतः कामयितृत्वोपपत्तिः। कामयितृत्वादस्मदादिवदनाप्तकामं चेत्, न, स्वातन्त्र्यात्, यथाऽन्यान्परवशीकृत्य कामादिदोषाः

ब्रह्म कामयितृ कामयितृत्वात् अस्मदादिवत्. (साधनादिहेतु) ब्रह्म स्वतन्त्र न परवश.
ब्रह्म विशुद्ध कामयिता ननु → मलिन काम उपाधि प्राणिकर्मापेक्षया ब्रह्म प्रवर्तक.

प्रवर्तयन्ति न तथा ब्रह्मणः प्रवर्तकाः कामाः। कथं तर्हि, सत्यज्ञानलक्षणाः स्वात्मभूतत्वाद्विशुद्धाः न तैर्ब्रह्म प्रवर्त्यते। तेषां तु तत्प्रवर्तकं ब्रह्म प्राणिकर्मापेक्षया। तस्मात्स्वातन्त्र्यं कामेषु ब्रह्मणः। अतो नानाप्तकामं ब्रह्म साधनान्तरानपेक्षत्वाच्च।

किंच यथाऽन्येषामनात्मभूता धर्मादिनिमित्तापेक्षाः कामाः स्वात्मव्यतिरिक्त-कार्यकारणसाधनान्तरापेक्षाश्च न तथा ब्रह्मणो निमित्ताद्यपेक्षत्वं किं तर्हि स्वात्मनोऽनन्या-स्तदेतदाह—

सोऽकामयत स आत्मा यस्मादाकाशः संभूतोऽकामयत कामितवान्। कथं, बहु स्यां बहु प्रभूतं भवेयम्। कथमेकस्यार्थान्तराननुप्रवेशे बहुत्वं स्यादित्युच्यते। प्रजायेयोत्पद्येय। न हि पुत्रोत्पत्त्येवार्थान्तरविषयं बहुभवनं कथं तर्ह्यात्मस्थानभिव्यक्तनामरूपा-भिव्यक्त्या। यदाऽऽत्मस्थे अनभिव्यक्ते नामरूपे व्याक्रियेते तदा नामरूपे आत्मस्वरूपापरित्यागेनैव ब्रह्मणाऽप्रविभक्तदेशकाले सर्वावस्थासु व्याक्रियेते तदा तन्नामरूपव्याकरणं ब्रह्मणो बहुभवनम्। नान्यथा निरवयवस्य ब्रह्मणो बहुत्वापत्तिरुप-पद्यतेऽल्पत्वं वा। यथाऽऽकाशस्याल्पत्वं बहुत्वं च वस्त्वन्तरकृतमेव। अतस्तद्द्वारेणै-वाऽऽत्मा बहु भवति। न ह्यात्मनोऽन्यदनात्मभूतं तत्प्रविभक्तदेशकालं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टं भूतं भवद्भविष्यद्वा वस्तु विद्यते। अतो नामरूपे सर्वावस्थे ब्रह्मणैवाऽऽत्मवती, न ब्रह्म तदात्मकम्। ते तत्प्रत्याख्याने न स्त एवेति तदात्मके उच्येते। ताभ्यां चोपाधिभ्यां ज्ञातृज्ञेयज्ञानशब्दार्थादिसर्वसंव्यवहारभाग्ब्रह्म। स आत्मैवंकामः संस्तपोऽतप्यत। तप इति ज्ञानमुच्यते। "यस्य ज्ञानमयं तपः" (मु.उ. १-१-९) इतिश्रुत्यन्तरादाप्तकामत्वाच्चेतर-स्यासंभव एव तपसः। तत्तपोऽतप्यत तप्तवान्। सृज्यमानजगद्रचनादिविषयामालो-चनामकरोदात्मेत्यर्थः। स एवमालोच्य तपस्तप्त्वा प्राणिकर्मादिनिमित्तानुरूपमिदं सर्वं जगद्देशतः कालतो नाम्ना रूपेण च यथानुभवं सर्वैः प्राणिभिः सर्वावस्थैरनुभूयमानमसृजत सृष्टवान्।

यदिदं किंच यत्किंचेदमविशिष्टम्। तदिदं जगत्सृष्ट्वा किमकरोदित्युच्यते— तदेव सृष्टं जगदनुप्राविशदिति। तत्रैतच्चिन्त्यं कथमनुप्राविशदिति। किं यः स्रष्टा स तेनैवाऽऽत्मनाऽनुप्राविशदुतान्येनेति, किं तावद्युक्तम्। क्त्वाप्रत्ययश्रवणाद्यः स्रष्टा स एवानुप्राविशदिति।

ननु न युक्तं मृद्वच्चेत्कारणं ब्रह्म तदात्मकत्वात्कार्यस्य। कारणमेव हि कार्यात्मना परिणतमित्यतोऽप्रविष्ट इव कार्योत्पत्तेरूर्ध्वं पृथक्कारणस्य पुनः प्रवेशोऽनुपपन्नः। न हि घटपरिणामव्यतिरेकेण मृदो घटे प्रवेशोऽस्ति। यथा घटे चूर्णात्मना मृदोऽनुप्रवेश एवमन्येनाऽऽत्मना नामरूपकार्येऽनुप्रवेश आत्मन इति चेच्छ्रुत्यन्तराच्च "अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य"(छा.उ. ६-३-२) इति। नैवं युक्तमेकत्वाद्ब्रह्मणः मृदात्मनस्त्वनेकत्वात्सावयवत्वाच्च युक्तो घटे मृदश्चूर्णात्मनाऽनुप्रवेशः। मृदश्चूर्णस्याप्रविष्टदेशवत्त्वाच्च। न त्वात्मन एकत्वे सति निरवयवत्वादप्रविष्टदेशाभावाच्च प्रवेश उपपद्यते कथं तर्हि प्रवेशः स्यात्। युक्तश्च प्रवेशः श्रुतत्वात्तदेवानुप्राविशदिति। सावयवमेवास्तु तर्हि सावयवत्वान्मुखे हस्तप्रवेशवन्नामरूपकार्ये जीवात्मनाऽनुप्रवेशो युक्त एवेति चेन्नाशून्यत्वात्। न हि कार्यात्मना परिणतस्य नामरूपकार्यदेशव्यतिरेकेणाऽऽत्मशून्यः प्रदेशोऽस्ति यं प्रविशेज्जीवात्मना। कारणमेव चेत्प्रविशेज्जीवात्मत्वं जह्याद्यथा घटो मृत्प्रवेशे घटत्वं जहाति। तदेवानुप्राविशदिति च श्रुतेर्न कारणानुप्रवेशो युक्तः।

कार्यान्तरमेव स्यादिति चेत्। तदेवानुप्राविशदिति जीवात्मरूपं कार्यं नामरूपपरिणतं कार्यान्तरमेवाऽऽपद्यत इति चेन्न। विरोधात्। न हि घटो घटान्तरमापद्यते। व्यतिरेकश्रुतिविरोधाच्च जीवस्य नामरूपकार्यव्यतिरेकानुवादिन्यः श्रुतयो विरुध्येरन्। तदापत्तौ मोक्षासंभवाच्च। न हि यतो मुच्यमानस्तदेवाऽऽपद्यते। न हि शृङ्खलापत्तिर्बद्धस्य तस्करादेः।

बाह्यान्तरभेदेन परिणतमिति चेत्तदेव कारणं ब्रह्म शरीराद्याधारत्वेन तदन्तर्जीवात्मनाऽऽधेयत्वेन च परिणतमिति चेन्न, बहिष्ठस्य प्रवेशोपपत्तेः। न हि यो यस्यान्तःस्थः, स एव तत्प्रविष्ट उच्यते। बहिष्ठस्यानुप्रवेशः स्यात्प्रवेशशब्दार्थस्यैवं दृष्टत्वात्। यथा गृहं कृत्वा प्राविशदिति। जलसूर्यकादिप्रतिबिम्बवत्प्रवेशः स्यादिति चेन्न। अपरिच्छिन्नत्वादमूर्तत्वाच्च। परिच्छिन्नस्य मूर्तस्यान्यस्यान्यत्र प्रसादस्वभावके जलादौ सूर्यकादिप्रतिबिम्बोदयः स्यान्नत्वात्मनः, अमूर्तत्वात्। आकाशादिकारणस्याऽऽत्मनो व्यापकत्वात्तद्विप्रकृष्टदेशप्रतिबिम्बाधारवस्त्वन्तराभावाच्च प्रतिबिम्बवत्प्रवेशो न युक्तः।

एवं तर्हि नैवास्ति प्रवेशो न च गत्यन्तरमुपलभामहे। "तदेवानुप्राविशत्" इति च श्रुतेः। श्रुतिश्च नोऽतीन्द्रियविषये विज्ञानोत्पत्तौ निमित्तम्। न चास्माद्वाक्याद्यत्नवतामपि विज्ञानमुत्पद्यते। हन्त तर्ह्यनर्थकत्वादपोह्यमेतद्वाक्यं "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" इति। न। अन्यार्थत्वात्। किमर्थमस्थाने चर्चा। प्रकृतो ह्यन्यो विवक्षितोऽस्य वाक्यस्यार्थोऽस्ति, स

स्मर्तव्यः। "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" (तै.उ. २-१) "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै.उ. २-१) "यो वेद निहितं गुहायाम्"(तै.उ. २-१) इति। तद्विज्ञानं च विवक्षितं प्रकृतं च तत्। ब्रह्मस्वरूपानुगमाय चाऽऽकाशाद्यन्नमयान्तं कार्यं प्रदर्शितं ब्रह्मानुगमश्चाऽऽरब्धस्तत्रान्नमयादात्मनोऽन्तर आत्मा प्राणमयस्तदन्तर्मनोमयो विज्ञानमय इति। विज्ञानगुहायां प्रवेशितस्तत्र चाऽऽनन्दमयो विशिष्ट आत्मा प्रदर्शितः। अतःपरमानन्दमयलिङ्गाधिगमद्वारेणाऽऽनन्दविवृद्ध्यवसान आत्मा। ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा सर्वविकल्पास्पदो निर्विकल्पोऽस्यामेव गुहायामधिगन्तव्य इति तत्प्रवेशः प्रकल्प्यते।

न ह्यन्यत्रोपलभ्यते ब्रह्म, निर्विशेषत्वाद्विशेषसंबन्धो ह्युपलब्धिहेतुर्दृष्टः। यथा राहोश्चन्द्रार्कविशिष्टसंबन्धः। एवमन्तःकरणगुहात्मसंबन्धो ब्रह्मण उपलब्धिहेतुः। संनिकर्षादवभासात्मकत्वाच्चान्तःकरणस्य। यथा चाऽऽलोकविशिष्टा घटाद्युपलब्धिरेवं बुद्धिप्रत्ययालोकविशिष्टात्मोपलब्धिः स्यात्तस्मादुपलब्धिहेतौ गुहायां निहितमिति प्रकृतमेव। तद्वृत्तिस्थानीये त्विह पुनस्तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशदित्युच्यते।

तदेवेदमाकाशादिकारणं कार्यं सृष्ट्वा तदनुप्रविष्टमिवान्तर्गुहायां बुद्धौ द्रष्टृ श्रोतृ मन्तृ विज्ञातृत्येवं विशेषवदुपलभ्यते। स एवं तस्य प्रवेशस्तस्मादस्ति तत्कारणं ब्रह्म। अतोऽस्तित्वादस्तीत्येवोपलब्धव्यं तत्। तत्कार्यमनुप्रविश्य, किं? सच्च मूर्तं त्यच्चामूर्तमभवत्। मूर्तामूर्ते ह्यव्याकृतनामरूपे आत्मस्थे अन्तर्गतेनाऽऽत्मना व्याक्रियेते व्याकृते च मूर्तामूर्तशब्दवाच्ये ते आत्मना त्वप्रविभक्तदेशकाले इति कृत्वाऽऽत्मा ते अभवदित्युच्यते। किंच निरुक्तं चानिरुक्तं च निरुक्तं नाम निष्कृष्य समानासमानजातीयेभ्यो देशकालविशिष्टतयेदं तदित्युक्तमनिरुक्तं तद्विपरीतं निरुक्तानिरुक्ते अपि मूर्तामूर्तयोरेव विशेषणे यथा सच्च त्यच्च प्रत्यक्षपरोक्षे, तथा निलयनं चानिलयनं च। निलयनं नीडमाश्रयो मूर्तस्यैव धर्मः। अनिलयनं तद्विपरीतममूर्तस्यैव धर्मः। त्यदनिरुक्तानिलयनान्यमूर्तधर्मत्वेऽपि व्याकृतविषयाण्येव। सर्गोत्तरकालभावश्रवणात्। त्यदिति प्राणाद्यनिरुक्तं तदेवानिलयनं च। अतो विशेषणान्यमूर्तस्य व्याकृतविषयाण्येवैतानि। विज्ञानं चेतनमविज्ञानं तद्रहितमचेतनं पाषाणादि सत्यं च व्यवहारविषयमधिकारान्न परमार्थसत्यमेकमेव हि परमार्थसत्यं ब्रह्म। इह पुनर्व्यवहार विषयमापेक्षिकं सत्यं मृगतृष्णिकाद्यनृतापेक्षयोदकादि सत्यमुच्यते। अनृतं च तद्विपरीतम्। किं पुनरेतत्सर्वमभवत्परमार्थसत्यं, किं पुनस्तद्ब्रह्म। "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"ति (तै.उ. २-१) प्रकृतत्वात्।

प्रतिबन्ध असंभावना। विपरीतभावना। बुद्धिगत दोष | प्रमाण गत दोष (१) श्रवण से निवृत्त. (x) भोग के कारण द्वैताग्रह के कारण. | प्रमेय गत दोष मनन से | विपरीत भावना निदिध्यासन से. असाधारण कारण, ज्ञान का महावाक्य विचार से प्रतिबन्ध दूर.

ब्रह्म की सुकृत रूपता, आनन्द रूपता तथा ब्रह्मज्ञानी की अभय प्राप्ति

अथ ब्रह्मवल्ल्यध्याये सप्तमोऽनुवाकः

**असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत। तदात्मानꣳस्वयमकुरुत। तस्मात्तत्सुकृतमुच्यत इति। यद्वै तत्सुकृतम्। रसो वै सः। रसꣳ ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति। को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात्। यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवाऽऽनन्दयाति। यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्ते-**

सृष्टि के पहले यह नाम-रूपात्मक जगत् अव्याकृत ब्रह्मस्वरूप ही था। उसी अव्याकृत ब्रह्म से नाम-रूपात्मक व्याकृत सत् उत्पन्न हुआ। उस ब्रह्म ने स्वयं अपने आपको ही नाम-रूपात्मक जगत् रूप से बनाया। इसीलिए वह सुकृत (स्वयं किया हुआ) कहा जाता है। वह जो भी प्रसिद्ध सुकृत है, वह निश्चय रस ही है, क्योंकि मधुरादि रस को प्राप्त कर ही यह पुरुष सुखी होता है। यदि हृदयाकाश में स्थित यह आनन्द स्वरूप परमात्मा न होता तो भला कौन व्यक्ति अपान वायु के द्वारा प्राणन कर सकता (इसीलिए वह ब्रह्म अवश्य है जिससे कि प्राणनादि चेष्टाएँ हो रही हैं), क्योंकि यही लोक में धर्मानुसार सुखी करता है। जिस समय यह साधक इस न देखने योग्य, शरीर रहित, निर्वचन

---

यस्मात्सत्त्यदादिकं मूर्तामूर्तधर्मजातं यत्किंचेदं सर्वमविशिष्टं विकारजातमेकमेव सच्छब्दवाच्यं ब्रह्माभवत्तद्व्यतिरेकेणाभावान्नामरूपविकारस्य, तस्मात्तद्ब्रह्म सत्यमित्याहुः चक्षते ब्रह्मविदः। अस्ति नास्तीत्यनुप्रश्न प्रकृतस्तस्य प्रतिवचनविषय एतदुक्तमात्माऽकामयत बहु स्यामिति। स यथाकामं चाऽऽकाशादिकार्यं सत्त्यदादिलक्षणं सृष्ट्वा तदनु प्रविश्य पश्यञ्शृण्वन्मन्वानो विजानन्बह्वभवत्तस्मात्तदेवेदमाकाशादिकारणं कार्यस्थं परमे व्योमन्हृदयगुहायां निहितं तत्प्रत्ययावभासविशेषेणोपलभ्यमानमस्तीत्येवं विजानीयादित्युक्तं भवति। तदेतस्मिन्नर्थे ब्राह्मणोक्तः एष श्लोको मन्त्रो भवति। यथा पूर्वेष्वन्नमयाद्यात्मप्रकाशकाः। पञ्चस्वप्येवं सर्वान्तरतमात्मास्तित्वप्रकाशकोऽपि मन्त्रः कार्यद्वारेण भवति ।।१।।

*इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ तैत्तिरीयोपनिषदि द्वितीयब्रह्मवल्ल्यध्यायभाष्ये षष्ठोऽनुवाकः ।।६।।*

असद्वा इदमग्र आसीत्। असदिति व्याकृतनामरूपविशेषविपरीतरूपमविकृतं ब्रह्मोच्यते। न पुनरत्यन्तमेवासत्। न ह्यसतः सज्जन्मास्ति। इदमिति नामरूपविशेषवद्-

"क्त" प्रत्यय कर्म और भाव में यहाँ कर्तरि।

ऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते। अथ सोऽभयं गतो भवति। यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते। अथ तस्य भयं भवति। तत्त्वेव भयं विदुषोऽमन्वानस्य। तदप्येष श्लोको भवति ।।१।।

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि द्वितीये ब्रह्मावल्लयध्याये सप्तमोऽनुवाकः।।७।।

के अयोग्य, निराधार ब्रह्म में अभय स्थिति प्राप्त करता है, उस समय निश्चय ही यह अभय को प्राप्त हो जाता है और जिस समय यह ब्रह्म में थोड़ा-सा भी भेद देखता है, तो उस भेद दर्शन के कारण ही इसे भय होता है क्योंकि भेददर्शी अज्ञानी के लिए वह ब्रह्म ही भयरूप हो जाता है। इसी विषय में यह मन्त्र भी है।।१।।

।।इति सप्तमोऽनुवाकः।।

---

व्याकृतं जगदग्रे पूर्वं प्रागुत्पत्तेर्ब्रह्मैवासच्छब्दवाच्यमासीत्। ततोऽसतो वै सत्प्रविभक्तनामरूपविशेषमजायतोत्पन्नम्। किं ततः प्रविभक्तं कार्यमिति पितुरिव पुत्रो, नेत्याह। तदसच्छब्दवाच्यं स्वयमेवाऽऽत्मानमेवाकुरुत कृतवत्। यस्मादेवं तस्मात्तद्ब्रह्मैव सुकृतं स्वयं कर्त्रुच्यते। स्वयं कर्तृ ब्रह्मेति प्रसिद्धं लोके, सर्वकारणत्वात्। यस्माद्वा स्वयमकरोत्सर्वं सर्वात्मना, तस्मात्पुण्यरूपेणापि तदेव ब्रह्म कारणं सुकृतमुच्यते। सर्वथाऽपि तु फलसंबन्धादिकारणं सुकृतशब्दवाच्यं प्रसिद्धं लोके। यदि पुण्यं यदि वाऽन्यत्सा प्रसिद्धिर्नित्ये चेतनावत्कारणे सत्युपपद्यते। तस्मादस्ति तद्ब्रह्म सुकृतप्रसिद्धेः।

इतश्चास्ति। कुतः। रसत्वात्। कुतो रसत्वप्रसिद्धिर्ब्रह्मणः इत्यत आह —

यद्वै तत्सुकृतम्। रसो वै सः। रसो नाम तृप्तिहेतुरानन्दकरो मधुराम्लादिः प्रसिद्धो लोके। रसमेवायं लब्ध्वा प्राप्याऽऽनन्दी सुखी भवति। नासत आनन्दहेतुत्वं दृष्टं लोके। बाह्यानन्दसाधनरहिता अप्यनीहा निरेषणा ब्राह्मणा बाह्यरसलाभादिव सानन्दा दृश्यन्ते विद्वांसो, नूनं ब्रह्मैव रसस्तेषाम्। तस्मादस्ति तत्तेषामानन्दकारणं रसवद्ब्रह्म। इतश्चास्ति कुतः। प्राणनादिक्रियादर्शनात्। अयमपि हि पिण्डो जीवतः प्राणेन प्राणित्यपानेनापानिति। एवं वायवीया ऐन्द्रियकाश्च चेष्टाः संहतैः कार्यकरणैर्निर्वर्त्यमाना दृश्यन्ते। तच्चैकार्थवृत्तित्वेन संहननं नान्तरेण चेतनमसंहतं संभवति।

अन्यत्रादर्शनात्। तदाह — यद्यदि एष आकाशे परमे व्योम्नि गुहायां निहितः आनन्दो न स्यान्न भवेत्को ह्येव लोकेऽन्यादपानचेष्टां कुर्यादित्यर्थः। कः प्राण्यात्प्राणनं वा कुर्यात्तस्मादस्ति तद्ब्रह्म। तदर्थाः कार्यकरणप्राणनादिचेष्टास्तत्कृत एव चाऽऽनन्दो लोकस्य। कुतः एष ह्येव पर आत्माऽऽनन्दयात्यानन्दयति सुखयति लोकं धर्मानुरूपम्। स एवाऽऽत्माऽऽनन्दरूपोऽविद्यया परिच्छिन्नो विभाव्यते प्राणिभिरित्यर्थः। भयाभय-हेतुत्वाद्विद्वदविदुषोरस्ति तद्ब्रह्म। सद्वस्त्वाश्रयणेन ह्यभयं भवति। नासद्वस्त्वाश्रयणेन भयनिवृत्तिरुपपद्यते। कथमभयहेतुत्वमित्युच्यते —

यदा ह्येव यस्मादेष साधक एतस्मिन्ब्रह्मणि किंविशिष्टेऽदृश्ये दृश्यं नाम द्रष्टव्यं विकारो दर्शनार्थत्वाद्विकारस्य। न दृश्यमदृश्यमविकार इत्यर्थः। एतस्मिन्नदृश्येऽविकारेऽविषयभूतेऽनात्म्येऽशरीरे यस्माददृश्यं तस्मादनात्म्यं यस्मादनात्म्यं तस्मादनिरुक्तम्। विशेषो हि निरुच्यते। विशेषश्च विकारः। अविकारं च ब्रह्म। सर्वविकारहेतुत्वात्तस्माद-निरुक्तम्। यत एवं तस्मादनिलयनं निलयनं नीड आश्रयो न निलयनमनिलयनमनाधारं तस्मिन्नेतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिलयने सर्वकार्यधर्मविलक्षणे ब्रह्मणीति वाक्यार्थः। अभयमिति क्रियाविशेषणम्। अभयमिति वा लिङ्गान्तरं परिणम्यते। प्रतिष्ठां स्थितिमात्मभावं विन्दते लभते। अथ तदा स तस्मिन्नानात्वस्य भयहेतोरविद्याकृतस्या-दर्शनादभयं गतो भवति। स्वरूपप्रतिष्ठो ह्यसौ यदा भवति तदा नान्यत्पश्यति नान्य-च्छृणोति नान्यद्विजानाति। अन्यस्य ह्यन्यतो भयं भवति नाऽऽत्मन एवाऽऽत्मनो भयं युक्तं तस्मादात्मैवाऽऽत्मनोऽभयकारणम्। सर्वतो हि निर्भया ब्राह्मणा दृश्यन्ते सत्सु भयहेतुषु तच्चायुक्तमसति भयत्राणे ब्रह्मणि। तस्मात्तेषामभयदर्शनादस्ति तदभय-कारणं ब्रह्मेति। कदाऽसावभयं गतो भवति साधको यदा नान्यत्पश्यत्यात्मनि चान्तरं भेदं न कुरुते तदाऽभयं गतो भवतीत्यभिप्रायः। यदा पुनरविद्यावस्थायां हि यस्मादेषोऽ-विद्यावानविद्यया प्रत्युपस्थापितं वस्तु तैमिरिकद्वितीयचन्द्रवत्पश्यत्यात्मनि चैतस्मि-न्ब्रह्मणि उदपि, अरमल्पमप्यन्तरं छिद्रं भेददर्शनं कुरुते। भेददर्शनमेव ह्यन्तरकरण-मल्पमपि भेदं पश्यतीत्यर्थः। अथ तस्माद्भेददर्शनाद्धेतोरस्य भेददर्शिन आत्मनो भयं भवति। तस्मादात्मैवाऽत्मनो भयकारणमविदुषस्तदेतदाह। तद्ब्रह्म त्वेव भयं भेददर्शिनोऽविदुष ईश्वरोऽन्यो मत्तोऽहमन्यः संसारीत्येवं विदुषो भेददृष्टमीश्वराख्यं तदेव ब्रह्माल्पमप्यन्तरं कुर्वतो भयं भवत्येकत्वेनामन्वानस्य। तस्माद्विद्वानप्यविद्वानेवासौ, योऽयमेकमभिन्नमात्मतत्त्वं न पश्यत्युच्छेदहेतुदर्शनाद्ध्युच्छेद्याभिमतस्य भयं भवति।

नायंलोकोऽस्ति न परो न च पूर्वान् स तारयेत् । कुत एव अनिच्छान्स्त मृषावाद परायण:



ब्रह्मानन्द की मीमांसा

अथ ब्रह्मवल्ल्यध्यायेऽष्टमोऽनुवाकः

**भीषाऽस्माद्वातः पवते। भीषोदेति सूर्यः। भीषा-ऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च। मृत्युर्धावति पञ्चम इति। सैषाऽऽनन्दस्य मीमाꣳसा भवति। युवा स्यात्साधु-युवाऽध्यायकः। आशिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठः। तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्। स एको मानुष आनन्दः। ते ये शतं मानुषा आनन्दाः।।१।।**

इस परमेश्वर के भय से वायु चलती है, इसी के भय से सूर्य उदय होता है एवं इसी के भय से अग्नि, इन्द्र तथा पाँचवा मृत्यु दौड़ता है। अब यह ब्रह्मानन्द की मीमांसा की जाती है। साधु स्वभाव वाला, नवयुवक, वेदादि शास्त्रों का अध्ययन किया हुआ, अत्यन्त आशावान्, अत्यन्त दृढ़ और अत्यन्त बलवान् हो एवं उसी के उपभोग के साधन धन-धान्यादि परिपूर्ण सम्पूर्ण पृथिवी भी हो (अर्थात् पारलौकिक धर्मादि साधन से और लौकिक भोग से युक्त पृथिवीपति राजा हो) उसका वह आनन्द एक मनुष्य का आनन्द है। ऐसे जो सौ मानुष आनन्द हैं।।१।।

---

अनुच्छेद्यो ह्युच्छेदहेतुस्तन्नासत्युच्छेदहेतावनुच्छेद्ये न तद्दर्शनकार्यं भयं युक्तम्।। सर्वं च जगद्भयवद्दृश्यते। तस्माज्जगतो भयदर्शनाद्गम्यते नूनं तदस्ति भयकारणमुच्छेदहेतुरनुच्छेद्यात्मकं, यतो जगद्बिभेतीति। तदेतस्मिन्नप्यर्थ एष श्लोको भवति ।।१।।

*इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ तैत्तिरीयोपनिषदि द्वितीये ब्रह्मवल्ल्यध्याये सप्तमोऽनुवाकः।।७।।*

भीषा भयेनास्माद्वातः पवते। भीषोदेति सूर्यः। भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च। मृत्युर्धावति पञ्चम इति। वातादयो हि महार्हाः स्वयमीश्वराः सन्तः पवनादिकार्येष्वायासबहुलेषु नियताः प्रवर्तन्ते। तद्युक्तं प्रशास्तरि सत्यन्यस्मिन्नियमेन तेषां प्रवर्तनं, तस्मादस्ति भयकारणं तेषां प्रशास्तृ ब्रह्म। यतस्ते भृत्या इव राज्ञोऽस्माद्ब्रह्मणो भयेन प्रवर्तन्ते तच्च भयकारणमानन्दं ब्रह्म।

तस्यास्य ब्रह्मण आनन्दस्यैषा मीमांसा विचारणा भवति। किमानन्दस्य मीमांस्यमित्युच्यते। किमानन्दो विषयविषयिसंबन्धजनितो लौकिकानन्दवदाहोस्वित्स्वाभाविक इत्येवमेषाऽऽनन्दस्य मीमांसा।

स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दाः। स एको देवगन्धर्वाणामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं देवगन्धर्वाणामानन्दाः। स एकः पितॄणां चिरलोकलोकानामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं पितॄणां चिरलोकलोकानामानन्दाः। स एक आजानजानां देवानामानन्दः।।२।।

चिरकालस्थायी लोकों वाला

स्मार्त कर्म विशेषता जाता।

वही कर्म और उपासना द्वारा मनुष्य से गन्धर्व को प्राप्त हुए का एक आनन्द है। (क्योंकि मनुष्य से गन्धर्वत्व को प्राप्त हुए जीव में अन्तर्धानादि होने की शक्ति एवं शीतोष्णादि से प्रतिघात न होने की शक्ति रहती है) वही आनन्द कामना के प्रतिघात से रहित श्रोत्रिय को भी प्राप्त है। ऐसे ही मनुष्य गन्धर्व का सौ गुना आनन्द है वही जन्मजात देव गन्धर्व का एक आनन्द है। वही कामना प्रतिघात से शून्य श्रोत्रिय को वह देव गन्धर्व का आनन्द भी प्राप्त है। देव गन्धर्वों के जो सौ आनन्द हैं वही चिरस्थायीलोक में रहने वाले पितृगण का एक आनन्द है, अकामहत श्रोत्रिय को वह आनन्द प्राप्त है एवं चिरलोक निवासी पितृगणों के जो सौ आनन्द हैं वही (स्मार्त कर्म के फल स्वरूप) आजानदेव भाव को प्राप्त हुए का एक आनन्द है।।२।।

---

तत्र लौकिक आनन्दो बाह्याध्यात्मिकसाधनसंपत्तिनिमित्त उत्कृष्टः। स य एष निर्दिश्यते ब्रह्मानन्दानुगमार्थम्। अनेन हि प्रसिद्धेनाऽऽनन्देन व्यावृत्तविषयबुद्धिगम्य आनन्दोऽनुगन्तुं शक्यते। लौकिकोऽप्यानन्दो ब्रह्मानन्दस्यैव मात्राऽविद्यया तिरस्क्रियमाणे विज्ञान उत्कृष्यमाणायां चाविद्यायां ब्रह्मादिभिः कर्मवशाद्यथाविज्ञानं विषयादिसाधनसंबन्धवशाच्च विभाव्यमानश्च लोकेऽनवस्थितो लौकिकः संपद्यते, स एवाविद्याकामकर्मप्रकर्षेण मनुष्यगन्धर्वाद्युत्तरोत्तरभूमिष्वकामहतविद्वच्छ्रोत्रियप्रत्यक्षो विभाव्यते शतगुणोत्तरोत्तरोत्कर्षेण यावद्धिरण्यगर्भस्य ब्रह्मण आनन्द इति।

ब्रह्मानन्द

निरस्ते त्वविद्याकृते विषयविषयिविभागे विद्यया स्वाभाविकः परिपूर्ण एक आनन्दोऽद्वैतो भवतीत्येतमर्थं विभावयिष्यन्नाह —

युवा प्रथमवयाः। साधुयुवेति साधुश्चासौ युवा चेति यूनो विशेषणम्। युवाऽप्यसाधुर्भवति साधुरप्ययुवाऽतो विशेषणं युवा स्यात्साधुयुवेति। अध्यायकोऽधीतवेदः। आशिष्ठः आशुतमः क्षिप्रकारिषु मध्ये स्वयमतिशयत्वादित्यर्थः। द्रढिष्ठो दृढतमः। बलिष्ठो बलवत्तमः।

श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतमाजानजानां देवानामानन्दाः। स एकः कर्मदेवानां देवानामानन्दः। ये कर्मणा देवानपियन्ति। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं कर्मदेवानां देवानामानन्दाः। स एको देवानामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं देवानामानन्दाः। स एक इन्द्रस्याऽऽनन्दः।।३।।

और वह अकामहत श्रोत्रिय को प्राप्त है। आजानदेवताओं के जो सौ आनन्द हैं जो कर्म करके देवत्व को प्राप्त होते हैं (ऐसे केवल अग्निहोत्रादि वैदिक कर्मानुष्ठान से) कर्म देवत्व को प्राप्त हुए का वही एक आनन्द है। वह अकामहत श्रोत्रिय को भी प्राप्त है। कर्मदेव देवताओं के जो सौ आनन्द हैं वही (यज्ञ में हविर्भाग ग्रहण करने वाले) देवताओं का एक आनन्द है और वह कामना से प्रतिहत न होने वाले श्रोत्रिय को भी प्राप्त है। देवताओं के जो सौ आनन्द हैं वही देवताओं के स्वामी इन्द्र का एक आनन्द है।।३।।

---

एवमाध्यात्मिकसाधनसंपन्नः। तस्येयं पृथिव्युर्वी सर्वा वित्तस्य वित्तेनोपभोगसाधनेन दृष्टार्थेनादृष्टार्थेन च कर्मसाधनेन संपन्ना पूर्णा राजा पृथिवीपतिरित्यर्थः। तस्य च य आनन्दः स एको मानुषो मनुष्याणां प्रकृष्ट एक आनन्दः। ते ये शतं मानुषा आनन्दाः, स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः। मानुषानन्दाच्छतगुणेनोत्कृष्टो मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दो भवति। मनुष्याः सन्तः कर्मविद्याविशेषाद्गन्धर्वत्वं प्राप्ता मनुष्यगन्धर्वाः। ते ह्यन्तर्धानादिशक्तिसंपन्नाः सूक्ष्मकार्यकरणाः। तस्मात्प्रतिघाताल्पत्वं तेषां द्वंद्वप्रतिघातशक्तिसाधनसंपत्तिश्च। ततोऽप्रतिहन्यमानस्य प्रतीकारवतो मनुष्यगन्धर्वस्य स्याच्चित्तप्रसादः। तत्प्रसादविशेषात्सुखविशेषाभिव्यक्तिः। एवं पूर्वस्याः पूर्वस्या भूमेरुत्तरस्यामुत्तरस्यां भूमौ प्रसादविशेषतः शतगुणेनाऽऽनन्दोत्कर्ष उपपद्यते। प्रथमं त्वकामहताग्रहणं मनुष्यविषयभोगकामानभिहतस्य श्रोत्रियस्य मनुष्यानन्दाच्छतगुणेनाऽऽनन्दोत्कर्षो मनुष्यगन्धर्वेण तुल्यो वक्तव्य इत्येवमर्थम्। साधुयुवाऽध्यायक इति श्रोत्रियत्वाऽवृजिनत्वे गृह्येते। ते ह्यविशिष्टे सर्वत्र। अकामहतत्वं तु विषयोत्कर्षापकर्षतः सुखोत्कर्षापकर्षाय विशिष्यते। अतोऽकामहतग्रहणम्, तद्विशेषतः शतगुणसुखोत्कर्षोपलब्धेरकामहतत्वस्य परमानन्दप्राप्तिसाधनत्वविधानार्थम्। व्याख्यातमन्यत्। देवगन्धर्वा जातित एव। चिरलोकलोकानामिति पितॄणां विशेषणम्। चिरकालस्थायी

**श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतमिन्द्रस्या-ऽऽनन्दाः। स एको बृहस्पतेरानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं बृहस्पतेरानन्दाः। स एकः प्रजापतेरानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः स एको ब्रह्मण आनन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।।४।।**

और वह अकामहत श्रोत्रिय को भी प्राप्त है। इन्द्र के जो सौ आनन्द हैं वही इन्द्र गुरु बृहस्पति का एक आनन्द है और वह अकामहत श्रोत्रिय को भी प्राप्त है। बृहस्पति के जो सौ आनन्द हैं वही प्रजापति का एक आनन्द है और वह अकामहत श्रोत्रिय को भी प्राप्त है। प्रजापति के जो सौ आनन्द हैं वही त्रैलोक्य शरीरधारी ब्रह्म का एक आनन्द है, वह अकामहत श्रोत्रिय को भी प्राप्त है (निष्पापत्व और श्रोत्रियत्व ये दोनों धर्म सर्वत्र समान होने पर भी अकामहतत्व के प्रकर्ष से आनन्दानुभव में प्रकर्ष आता जाता है। अन्त में आनन्द तथा आनन्दी का अभेद हो जाता है)।।४।।

---

लोको येषां पितॄणां ते चिरलोकलोका इति। आजान इति देवलोकस्तस्मिन्नाजाने जाता आजानजा देवाः स्मार्तकर्मविशेषतो देवस्थानेषु जाताः।

कर्मदेवा ये वैदिकेन कर्मणाऽग्निहोत्रादिना केवलेन देवानपियन्ति। देवा इति त्रयस्त्रिंशद्धविर्भुजः। इन्द्रस्तेषां स्वामी। तस्याऽऽचार्यो बृहस्पतिः। प्रजापतिर्विराट्-त्रैलोक्यशरीरः। ब्रह्मा समष्टिव्यष्टिरूपः संसारमण्डलव्यापी। यत्रैते आनन्दभेदा एकतां गच्छन्ति धर्मश्च तन्निमित्तो ज्ञानं च तद्विषयमकामहतत्वं च निरतिशयं यत्र स एष हिरण्यगर्भो ब्रह्मा, तस्यैष आनन्दः श्रोत्रियेणावृजिनेनाकामहतेन च सर्वतः प्रत्यक्षमुपलभ्यते। तस्मादेतानि त्रीणि साधनानीत्यवगम्यते। तत्र श्रोत्रियत्वावृजिनत्वे नियते अकामहतत्वं तूत्कृष्यत इति प्रकृष्टसाधनताऽवगम्यते। तस्याकामहतत्वप्रकर्षतश्चोपलभ्यमानः श्रोत्रियप्रत्यक्षो ब्रह्मण आनन्दो यस्य परमानन्दस्य मात्रैकदेशः। "एतस्यैवाऽऽनन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति" (बृ.उ. ४-३-३२) इति श्रुत्यन्तरात्। स एष आनन्दो यस्य मात्रा समुद्राम्भस इव विप्रुषः प्रविभक्ता यत्रैकतां गता स एष परमानन्दः स्वाभाविकोऽद्वैतत्वादानन्दानन्दिनोश्चाविभागोऽत्र ।।१-४।।

**स यश्चायं पुरुषे। यश्चासावादित्ये। स एकः। स य एवंवित्। अस्माल्लोकात्प्रेत्य। एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति। तदप्येष श्लोको भवति।।५।।**

**इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि द्वितीये ब्रह्मवल्ल्यध्याये-ऽष्टमोऽनुवाकः।।८।।**

वह जो यह (पंचकोशात्मक देह रूप) पुरुष में है और जो वह आदित्य मण्डल में पुरुष है वह एक है। जो उक्त रीति से इस प्रकार जानता है वह (दृष्टादृष्ट विषय समुदाय रूप) इस लोक से निवृत्त होकर इस अन्नमय कोशरूप आत्मा को प्राप्त होता है (उसकी दृष्टि में सम्पूर्ण विषय समूह अन्नमय कोशस्वरूप है) इसी प्रकार क्रमशः वह साधक इस प्राणमय कोशरूप आत्मा को प्राप्त होता है। इस मनोमय कोशरूप आत्मा का उपसंक्रमण करता है। इस विज्ञानमय आत्मा को प्राप्त होता है एवं इस आनन्दमय कोशरूप आत्मा को प्राप्त होता है। उसी के विषय में यह मन्त्र है।।५।।

।।इत्यष्टमोऽनुवाकः।।

---

तदेतन्मीमांसाफलमुपसंह्रियते —

स यश्चायं पुरुष इति। यो गुहायां निहितः परमे व्योम्न्याकाशादिकार्यं सृष्ट्वाऽन्नमयान्तं तदेवानुप्रविष्टः स य इति निर्दिश्यते। कोऽसावयं पुरुषे। यश्चासावादित्ये यः परमानन्दः श्रोत्रियप्रत्यक्षो निर्दिष्टो यस्यैकदेशं ब्रह्मादीनि भूतानि सुखार्हाण्युपजीवन्ति स यश्चासावादित्य इति निर्दिश्यते। स एको भिन्नप्रदेशस्थघटाकाशैकत्ववत्। ननु तन्निर्देशे स यश्चायं पुरुष इत्यविशेषतोऽध्यात्मं न युक्तो निर्देशो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन्निति तु युक्तः प्रसिद्धत्वात्। न पराधिकारात्। परो ह्यात्माऽत्राधिकृतोऽदृश्येऽनात्म्ये" (तै.उ. २-७) "भीषाऽस्माद्वातः पवते" (तै.उ. २-८) "सैषाऽऽनन्दस्य मीमांसेति" (तै.उ. २-८)। न ह्यकस्मादप्रकृतो युक्तो निर्देष्टुं परमात्मविज्ञानं च विवक्षितम्। तस्मात्पर एव निर्दिश्यते स एक इति। नन्वानन्दस्य मीमांसा प्रकृता तस्या अपि फलमुपसंहर्तव्यम्। अभिन्नः स्वाभाविक आनन्दः परमात्मैव न विषयविषयिसंबन्धजनित इति। ननु तदनुरूप

एवायं निर्देशः स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एक इति भिन्नाधिकरणस्थ-विशेषोपमर्देन। नन्वेवमप्यादित्यविशेषग्रहणमनर्थकम्। नानर्थकम्। उत्कर्षापकर्षापो-हार्थत्वात्। द्वैतस्य हि मूर्तामूर्तलक्षणस्य पर उत्कर्षः सवित्रभ्यन्तर्गतः स चेत्पुरुषगतविशेषो-पमर्देन परमानन्दमपेक्ष्य समो भवति। न कश्चिदुत्कर्षोऽपकर्षो वा तां गतिं गतस्येत्यभयं प्रतिष्ठां विन्दते इत्युपपन्नम्

अस्ति नास्तीत्यनुप्रश्नो व्याख्यातः। कार्यरसलाभप्राणनाभयप्रतिष्ठाभयदर्शनोप-पत्तिभ्योऽस्त्येव तदाकाशादिकारणं ब्रह्मेत्यपाकृतोऽनुप्रश्न एकः, द्वावन्यावनुप्रश्नौ विद्वदविदुषोर्ब्रह्मप्राप्त्यप्राप्तिविषयौ तत्र विद्वान्समश्नुते न समश्नुत इत्यनुप्रश्नोऽन्त्य-स्तदपाकरणायोच्यते। मध्यमोऽनुप्रश्नोऽन्त्यापाकरणादेवापाकृत इति तदपाकरणाय न यत्यते।

स यः कश्चिदेवं यथोक्तं ब्रह्मोत्सृज्योत्कर्षापकर्षमद्वैतं सत्यं ज्ञानमनन्त-मस्मीत्येवं वेत्तीत्येवंवित्। एवंशब्दस्य प्रकृतपरामर्शार्थत्वात्। स किम्, अस्माल्लो-कात्प्रेत्य दृष्टादृष्टेष्टविषयसमुदायो ह्ययं लोकस्तस्मादस्माल्लोकात्प्रेत्य प्रत्यावृत्य निरपेक्षो भूत्वैतं यथाव्याख्यातमन्नमयमात्मानमुपसंक्रामति विषयजातमन्नमयात्पिण्डात्मनो व्यतिरिक्तं न पश्यति, सर्वं स्थूलभूतमन्नमयमात्मानं पश्यतीत्यर्थः। ततोऽभ्यन्तरमेतं प्राणमयं सर्वान्नमयात्मस्थमविभक्तम्। अथैतं मनोमयं विज्ञानमयमानन्दमयमात्मान-मुपसंक्रामति।

अथादृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते। तत्रैतच्चिन्त्यम्। कोऽयमेवंवित्कथं वा संक्रामतीति। किं परस्मादात्मनोऽन्यः संक्रमणकर्ता प्रविभक्त उत स एवेति। किं ततः, यद्यन्यः स्याच्छ्रुतिविरोधः। "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" (तै.उ. २-६) "अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद" (बृ.उ. १-४-१०) "एकमेवाद्वितीयम्" (छा.उ. ६-२-१) "तत्त्वमसि" इति। (छा.उ. ६-८-७) अथ स एवाऽऽनन्दमयमात्मानमुप-संक्रामतीति, कर्मकर्तृत्वानुपपत्तिः। परस्यैव च संसारित्वं पराभावो वा। यद्युभयथा प्राप्तो दोषो न परिहर्तुं शक्यत इति व्यर्था चिन्ता। अथान्यतरस्मिन्पक्षे दोषाप्राप्तिस्तृतीये वा पक्षेऽदुष्टे स एव शास्त्रार्थ इति व्यर्थैव चिन्ता, न, तन्निर्धारणार्थत्वात्। सत्यं प्राप्तो दोषो न शक्यः परिहर्तुमन्यतरस्मिंस्तृतीये वा पक्षेऽदुष्टेऽवधृते व्यर्था चिन्ता स्यान्न तु सोऽवधृत इति तदवधारणार्थत्वादर्थवत्येवैषा चिन्ता। सत्यमर्थवती चिन्ता। शास्त्रार्थवधारणार्थत्वात्। चिन्तयसि च त्वं न तु

निर्णेष्यसि, किं न निर्णेतव्यमिति वेदवचनं, न, कथं तर्हि बहुप्रतिपक्षत्वादेकत्ववादी त्वं, वेदार्थपरत्वात्। बहवो हि नानात्ववादिनो वेदबाह्यास्त्वत्प्रतिपक्षाः। अतो ममाऽऽशङ्कां न निर्णेष्यसीत्येतदेव मे स्वस्त्ययनं यन्मामेकयोगिनमनेकयोगिबहुप्रतिपक्षमात्थ। अतो जेष्यामि सर्वानारभे च चिन्ताम्।

स एव तु स्यात्तद्भावस्य विवक्षितत्वात्। तद्विज्ञानेन परमात्मभावो ह्यत्र विवक्षितो ब्रह्मविदाप्नोति परमिति। न ह्यन्यस्यान्यभावापत्तिरुपपद्यते। ननु तस्यापि तद्भावापत्तिरनुपपन्नैव। न। अविद्याकृततादात्म्यापोहार्थत्वात्। या हि ब्रह्मविद्यया स्वात्मप्राप्तिरुपदिश्यते साऽविद्याकृतस्यान्नमयादिविशेषात्मन आत्मत्वेनाध्यारोपितस्यानात्मनोऽपोहार्था। कथमेवमर्थताऽवगम्यते विद्यामात्रोपदेशात्। विद्यायाश्च दृष्टं कार्यमविद्यानिवृत्तिस्तच्चेह विद्यामात्रमात्मप्राप्तौ साधनमुपदिश्यते। मार्गविज्ञानोपदेशवदिति चेत्तदात्मत्वे विद्यामात्रसाधनोपदेशोऽहेतुः। कस्मात्। देशान्तरप्राप्तौ मार्गविज्ञानोपदेशदर्शनात्। न हि ग्राम एव गन्तेति चेत्। न, वैधर्म्यात्। तत्र हि ग्रामविषयं विज्ञानं नोपदिश्यते तत्प्राप्तिमार्गविषयमेवोपदिश्यते विज्ञानं न तथेह ब्रह्मविज्ञानव्यतिरेकेण साधनान्तरविषयं विज्ञानमुपदिश्यते। उक्तकर्मादिसाधनापेक्षं ब्रह्मविज्ञानं परप्राप्तौ साधनमुपदिश्यत इति चेत्। न। नित्यत्वान्मोक्षस्येत्यादिना प्रत्युक्तत्वात्। श्रुतिश्च "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशदि"ति (तै.उ. २-६) कार्यस्थस्य तदात्मत्वं दर्शयति। अभयप्रतिष्ठोपपत्तेश्च यदि हि विद्यावान्स्वात्मनोऽन्यन्न पश्यति ततो"ऽभयं प्रतिष्ठां विन्दत" (तै.उ. २-७) इति स्याद्भयहेतोः परस्यान्यस्याभावात्।

अन्यस्य चाविद्याकृतत्वे विद्ययाऽवस्तुत्वदर्शनोपपत्तिस्तद्धि द्वितीयस्य चन्द्रस्य सत्त्वं यदतैमिरिकेण चक्षुष्मता न गृह्यते नैवं न गृह्यत इति चेन्न सुप्तसमाहितयोरग्रहणात्। सुषुप्तेऽग्रहणमन्यासक्तवदिति चेत्। न। सर्वाग्रहणात्। जाग्रत्स्वप्नयोरन्यस्य ग्रहणात्सत्त्वमेवेति चेत्। न। अविद्याकृतत्वाज्जाग्रत्स्वप्नयोर्यदन्यग्रहणं जाग्रत्स्वप्नयोस्तदविद्याकृतमविद्याभावेऽभावात्।

सुषुप्तेऽग्रहणमप्यविद्याकृतमिति चेत्। न। स्वाभाविकत्वात्। द्रव्यस्य हि तत्त्वमविक्रिया परानपेक्षत्वाद्विक्रिया न तत्त्वं परापेक्षत्वात्। न हि कारकापेक्षं वस्तुनस्तत्त्वं सतो विशेषः कारकापेक्षो विशेषश्च विक्रिया। जाग्रत्स्वप्नयोश्च ग्रहणं विशेषः। यद्धि यस्य नान्यापेक्षं स्वरूपं तत्तस्य तत्त्वं यदन्यापेक्षं न तत्तत्त्वम्। अन्याभावेऽभावात्। तस्मात्स्वाभाविकत्वाज्जाग्रत्स्वप्नवन्न सुषुप्ते विशेषः।

पराधीन सुख सपनेउ नाहीं



येषां पुनरीश्वरोऽन्य आत्मनः, कार्यं चान्यत्तेषां भयानिवृत्तिर्भयस्यान्यनिमित्तत्वात्सतश्चान्यस्याऽऽत्महानानुपपत्तिः। न चासत आत्मलाभः। सापेक्षस्यान्यस्य भयहेतुत्वमिति चेन्न, तस्यापि तुल्यत्वात्। यदधर्माद्यनुसहायीभूतं नित्यमनित्यं वा निमित्तमपेक्ष्यान्यद्भयकारणं स्यात्त (त्, न, त) स्यापि तथाभूतस्याऽऽत्महानाभावाद्भयानिवृत्तिरात्महाने वा सदसतोरितरेतरापत्तौ सर्वत्रानाश्वास एव।

एकत्वपक्षे पुनः सनिमित्तस्य संसारस्याविद्याकल्पितत्वाददोषः। तैमिरिकदृष्टस्य हि द्वितीयचन्द्रस्य नाऽऽत्मलाभो नाशो वाऽस्ति। विद्याविद्ययोस्तद्धर्मत्वमिति चेन्न प्रत्यक्षत्वात्। विवेकाविवेकौ रूपादिवत्प्रत्यक्षावुपलभ्येते अन्तःकरणस्थौ। न हि रूपस्य प्रत्यक्षस्य सतो द्रष्टृधर्मत्वम्। अविद्या च स्वानुभवेन निरूप्यते मूढोऽहमविविक्तं मम विज्ञानमिति। तथा विद्याविवेकोऽनुभूयते। उपदिशन्ति चान्येभ्य आत्मनो विद्यां बुधाः। तथा चान्येऽवधारयन्ति तस्मान्नामरूपपक्षस्यैव विद्याविद्ये च; नामरूपे नाऽऽत्मधर्मौ। "नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म" इति श्रुत्यन्तरात्। ते च पुनर्नामरूपे सवितर्यहोरात्रे इव कल्पिते न परमार्थतो विद्यमाने। अभेदे "एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति" इति कर्मकर्तृत्वानुपपत्तिरिति चेन्न। विज्ञानमात्रत्वात्संक्रमणस्य। न जलूकादिवत्संक्रमणमिहोपदिश्यते, किं तर्हि, विज्ञानमात्रं संक्रमणश्रुतेरर्थः।

ननु मुख्यमेव संक्रमणं श्रूयते उपसंक्रामती (ती) ति चेत्। न। अन्नमयेऽदर्शनात्। न ह्यन्नमयमुपसंक्रामतो बाह्यादस्माल्लोकाज्जलूकावत्संक्रमणं दृश्यतेऽन्यथा वा। मनोमयस्य बहिर्निर्गतस्य विज्ञानमयस्य वा पुनः प्रत्यावृत्त्याऽऽत्मसंक्रमणमिति चेत्। न। स्वात्मनि क्रियाविरोधादन्योऽन्नमयमन्यमुपसंक्रामतीति प्रकृत्य मनोमयो विज्ञानमयो वा स्वात्मानमेवोपसंक्रामतीति विरोधः स्यात्। तथा नाऽऽनन्दमयस्याऽऽत्मसंक्रमणमुपपद्यते। तस्मान्न प्राप्तिः संक्रमणं नाप्यन्नमयादीनामन्यतमकर्तृकं पारिशेष्यादन्नमयाद्यानन्दमयान्तात्मव्यतिरिक्तकर्तृकं ज्ञानमात्रं च संक्रमणमुपपद्यते। ज्ञानमात्रत्वे चाऽऽनन्दमयान्तःस्थस्यैव सर्वान्तरस्याऽऽकाशाद्यन्नमयान्तं कार्यं सृष्ट्वाऽनुप्रविष्टस्य हृदयगुहाभिसंबन्धादन्नमयादिष्वनात्मस्वात्मविभ्रमः संक्रमणेनाऽऽत्मविवेकविज्ञानोत्पत्त्या विनश्यति। तदेतस्मिन्नविद्याविभ्रमनाशे संक्रमणशब्द उपचर्यते न ह्यन्यथा सर्वगतस्याऽऽत्मनः संक्रमणमुपपद्यते। वस्त्वन्तराभावाच्च। न च स्वात्मन एव संक्रमणम्। न हि जलूकाऽऽत्मानमेव संक्रामति। तस्मात्सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति यथोक्तलक्षणात्मप्रतिपत्त्यर्थमेव बहुभवनसर्गप्रवेशरसलाभाभयसंक्रमणादि परिकल्प्यते ब्रह्मणि सर्वव्यवहाराविषये

ब्रह्मानन्दानुभवी विद्वान् किसी से भयभीत नहीं होता।

अथ ब्रह्मवल्ल्यध्याये नवमोऽनुवाकः

**यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्। न बिभेति कुतश्चनेति। एतꣳह वाव न तपति। किमहꣳसाधु नाकरवम्। किमहं पापमकरवमिति। स य एवं विद्वानेते आत्मानꣳ**

जहाँ से (सविकल्पक वस्तुओं को प्रकाशित करने वाली) मन के सहित वाणी उसे प्राप्त किये बिना ही लौट आती है। उस ब्रह्म के आनन्द को जानने वाला विद्वान् किसी से भयभीत नहीं होता। मैंने शुभ कर्म क्यों नहीं किया और पाप कर्म क्यों किया। इस प्रकार की चिन्ता केवल इस विद्वान् को संतप्त नहीं करती, (क्योंकि ताप के कारण सुकर्म और दुष्कर्म भी होते हैं) उसे तो ये दोनों आत्म-स्वरूप

---

न तु परमार्थतो निर्विकल्पे ब्रह्मणि कश्चिदपि विकल्प उपपद्यते।

तमेतं निर्विकल्पमात्मानमेवं क्रमेणोपसंक्रम्य विदित्वा न बिभेति कुतश्चनाभयं प्रतिष्ठां विन्दत इत्येतस्मिन्नर्थेऽप्येष श्लोको भवति। सर्वस्यैवास्य प्रकरणस्याऽऽनन्द-वल्ल्यर्थस्य संक्षेपतः प्रकाशनायैष मन्त्रो भवति ।।५।।

*इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ तैत्तिरीयोपनिषदि द्वितीयब्रह्मवल्ल्यध्यायेऽष्टमोऽनुवाकः ।।८।।*

**✦ तृतीयमाह्निकम् ✦**

यतो यस्मान्निर्विकल्पाद्यथोक्तलक्षणादद्वयानन्दादात्मनो वाचोऽभिधानानि द्रव्यादिसविकल्पवस्तुविषयाणि वस्तुसामान्यान्निर्विकल्पेऽद्वयेऽपि ब्रह्मणि प्रयोक्तृभिः प्रकाशनाय प्रयुज्यमानान्यप्राप्याप्रकाश्यैव निवर्तन्ते स्वसामर्थ्याद्धीयन्ते। मन इति प्रत्ययो विज्ञानम्। तच्च यत्राभिधानं प्रवृत्तमतीन्द्रियेऽप्यर्थे तदर्थे च प्रवर्तते प्रकाशनाय। यत्र च विज्ञानं तत्र वाचः प्रवृत्तिः। तस्मात्सहैव वाङ्मनसयोरभिधानप्रत्यययोः प्रवृत्तिः सर्वत्र। तस्माद्ब्रह्मप्रकाशनाय सर्वथा प्रयोक्तृभिः प्रयुज्यमाना अपि वाचो यस्मादप्रत्ययविषया-दनभिधेयाददृश्यादिविशेषणात्सहैव मनसा विज्ञानेन सर्वप्रकाशनसमर्थेन निवर्तन्ते तं ब्रह्मण आनन्दं श्रोत्रियस्यावृजिनस्याकामहतस्य सर्वैषणाविनिर्मुक्तस्याऽऽत्मभूतं विषय-विषयिसंबन्धविनिर्मुक्तं स्वाभाविकं नित्यमविभक्तं परमानन्दं ब्रह्मणो विद्वान्यथोक्तेन विधिना न बिभेति कुतश्चन, निमित्ताभावात्। न हि तस्माद्विदुषोऽन्यद्वस्त्वन्तरमस्ति भिन्नं, यतो बिभेति। अविद्यया "यदोदरमन्तरं कुरुते। अथ तस्य भयं भवती"ति (तै.उ. २-७)

स्पृणुते। उभे ह्येवैष एते आत्मानꣳ स्पृणुते। य प्रीणयति बलयति
एवं वेद। इत्युपनिषत् ।।१।।

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि द्वितीये ब्रह्मवल्ल्यध्याये
नवमोऽनुवाकः।।९।।

सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

हरि ॐ। इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि द्वितीयो
ब्रह्मवल्ल्यध्यायः समाप्तः।।२।।

---

ही दिखायी पड़ते हैं। अतः वह जो इस प्रकार जानने वाला विद्वान् है वह अपने आत्मा को प्रसन्न और सबल बनाये रखता है। जो पूर्वोक्त अद्वितीय सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म को जानता है, ऐसी यह ब्रह्मविद्या रूप उपनिषद् है (इस विद्या में ही कल्याण निहित है)।।१।।

।।इति नवमोऽनुवाकः।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्रजकाचार्ययतीन्द्रकुलतिलककैलासपीठाधीश्वरपरामदर्शमहामण्डलेश्वरस्वामिविद्यानन्दगिरि-विरचितातैत्तिरीयोपनिषद्द्वितीयब्रह्मवल्ल्यध्यायस्य विद्यानन्दीमिताक्षरा ।।२।।

---

ह्युक्तम्। विदुषश्चाविद्याकार्यस्य तैमिरिकदृष्टद्वितीयचन्द्रवन्नाशाद्भयनिमित्तस्य न बिभेति कुतश्चनेति युज्यते। मनोमये चोदाहृतौ मन्त्रौ मनसो ब्रह्मविज्ञानसाधनत्वात्। तत्र ब्रह्मत्वमध्यारोप्य तत्स्तुत्यर्थं "न बिभेति कदाचने"ति (तै.उ. २-४) भयमात्रं प्रतिषिद्ध-मिहाद्वैतविषये न बिभेति कुतश्चनेति भयनिमित्तमेव प्रतिषिध्यते।

नन्वस्ति भयनिमितं साध्वकरणं पापक्रिया च। नैवम्। कथमित्युच्यते —

एतं यथोक्तमेवंविदम्। ह वावेत्यवधारणार्थौ। न तपति नोद्वेजयति न संताप-यति। कथं पुनः साध्वकरणं पापक्रिया च न तपतीत्युच्यते। किं कस्मात्साधु शोभनं कर्म नाकरवं न कृतवानस्मीति पश्चात्संतापो भवत्यासन्ने मरणकाले। तथा किं कस्मा-त्पापं प्रतिषिद्धं कर्माकरवं कृतवानस्मीति च नरकपतनादिदुःखभयात्तापो भवति। ते एते साध्वकरणपापक्रिये एवमेनं न तपतो यथाऽविद्वांसं तपतः।

कस्मात्पुनर्विद्वांसं न तपत इत्युच्यते —

स य एवंविद्वानेते साध्वसाधुनी तापहेतू इत्यात्मानं स्पृणुते प्रीणयति बलयति वा परमात्मभावेनोभे पश्यतीत्यर्थः। उभे पुण्यपापे हि यस्मादेवमेष विद्वानेते आत्मान-

## अथ तैत्तिरोयोपनिषदि

### तृतीयो भृगुवल्ल्यध्यायः। तत्र प्रथमोऽनुवाकः

**हरिः ॐ। सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै।**
**तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।**

**भृगुर्वै वारुणि:। वरुणं पितरमुपससार। अधीहि**
**भगवो ब्रह्मेति। तस्मा एतत्प्रोवाच। अन्नं प्राणं**

वरुण का अत्यन्त प्रसिद्ध पुत्र भृगु (ब्रह्म जिज्ञासा से) अपने पिता वरुण के पास गया (और बोला) हे भगवन्! मुझे ब्रह्म का उपदेश करें! (विधिपूर्वक अपने पास आये हुए) भृगु से वरुण ने कहा — अन्न, (उसके भीतर भक्षण करने वाला) प्राण, (प्राण के

---

मात्मरूपेणैव पुण्यपापे स्वेन विशेषरूपेण शून्ये कृत्वाऽऽत्मानं स्पृणुत एव। को य एवं वेद यथोक्तमद्वैतमानन्दं ब्रह्म वेद तस्याऽऽत्मभावेन दृष्टे पुण्यपापे निर्वीर्ये अतापके जन्मान्तरारम्भके न भवतःइतीयमेवं यथोक्ताऽस्यां वल्ल्यां ब्रह्मविद्योपनिषत्सर्वाभ्यो विद्याभ्यः परमरहस्यं दर्शितमित्यर्थः। परं श्रेयोऽस्यां निषण्णमिति ।।१।।

इति ब्रह्मवल्ल्यध्याये नवमोऽनुवाकशाङ्करभाष्यः ।।९।।

ब्रह्मविदिदमेकविꣳशतिरन्नादन्नरसमयात्प्राणो व्यानोऽपान आकाशः पृथिवी पुच्छꣳ षड्विꣳ शतिः प्राणं यजुर्ऋक्सामाऽऽदेशोऽथर्वाङ्गिरसः पुच्छं द्वाविꣳ शतिर्यतः श्रद्धर्तꣳ सत्यं योगो महोऽष्टादश विज्ञानं प्रियं मोदः प्रमोद आनन्दो ब्रह्म पुच्छं द्वाविꣳ-शतिरसन्नेवाष्टाविꣳशतिरसत्षोडश भीषास्मादेकपञ्चाशद्यतः कुतश्चैकादश।।

*इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्ये द्वितीयो ब्रह्मवल्ल्यध्यायः समाप्तः।।२।।*

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्माऽऽकाशादिकार्यमन्नमयान्तं सृष्ट्वा तदेवानुप्रविष्टं विशेषवदिवोपलभ्यमानं यस्मात्तस्मात्सर्वकार्यविलक्षणमदृश्यादिधर्मकमेवाऽऽनन्दं तदेवाहमिति विजानीयादनुप्रवेशस्य तदर्थत्वात्तस्यैवं विजानतः शुभाशुभे कर्मणी जन्मान्तरारम्भके न भवत इत्येवमानन्दवल्ल्यां विवक्षितोऽर्थः। परिसमाप्ता च ब्रह्मविद्या। अतः परं ब्रह्मविद्यासाधनं तपो वक्तव्यमन्नादिविषयाणि चोपासनान्यनुक्तानीत्यत इदमारभ्यते —

आख्यायिका विद्यास्तुतये, प्रियाय पुत्राय पित्रोक्तेति — भृगुर्वै वारुणिः। वैशब्दः प्रसिद्धानुस्मारको भृगुरित्येवंनामा प्रसिद्धोऽनुस्मार्यते। वारुणिर्वरुणस्यापत्यं वारुणिर्वरुणं पितरं ब्रह्म विजिज्ञासुरुपससारोपगतवान्। अधीहि भगवो ब्रह्मेत्यनेन मन्त्रेण।

न त्वशेष भूतान्तभावेन न निरतिशयं लक्षणं याति। क्वेदं निरतिशयं लक्षणं याति। इति संशयः



ब्रह्मप्राप्ति द्वारम् चक्षुः श्रोत्रं मनो वाचमिति। तꣳहोवाच। यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा ।।१।।

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि तृतीये भृगुवल्ल्यध्याये प्रथमोऽनुवाकः।।१।।

भीतर विषयों की उपलब्धि के साधन) श्रोत्रादि इन्द्रियाँ, मन और वाणी (ये सभी ब्रह्म प्राप्ति के द्वार है)। फिर भृगु से वरुण ने कहा — निश्चय ही जिससे ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब पर्यन्त सभी प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिसके आश्रय से ये प्राण धारण करते हैं (और विनाशकाल उपस्थित होने पर अन्त में) मरणोन्मुख हो जिसमें ये लीन होते हैं; तू उस ब्रह्म को विशेष रूप से जानने की इच्छा कर। वही ब्रह्म है, (तदनन्तर अपने पिता से ब्रह्म की उपलब्धि के द्वार उक्त लक्षण को सुन कर) भृगु ने मन और इन्द्रियों के समाधान रूप तप किया और उसने तप करके।।१।। अनादिरविद्यानिवाच्या कारणोपाधिः

अधीहि अध्यापय कथय।

।। इति प्रथमोऽनुवाकः।।

---

स च पिता विधिवदुपसन्नाय तस्मै पुत्रायैतद्वचनं प्रोवाच। अन्नं प्राणं चक्षु : श्रोत्रं मनो वाचमिति। अन्नं शरीरं तदभ्यन्तरं च प्राणमत्तारमु पलब्धिसाधनानि चक्षु : श्रोत्रं मनो वाचमित्येतानि ब्रह्मोपलब्धौ द्वाराण्युक्तवान्। उक्त्वा च द्वारभूतान्येतान्यन्नादीनि तं भृगुं होवाच ब्रह्मणो लक्षणम्। किं तत्। यतो यस्माद्वा इमानि ब्रह्मादीनि स्तम्ब-पर्यन्तानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति प्राणान्धारयन्ति वर्धन्ते। विनाशकाले च यत्प्रयन्ति यद्ब्रह्म प्रतिगच्छन्ति, अभिसंविशन्ति तादात्म्यमेव प्रति-पद्यन्ते। उत्पत्तिस्थितिलयकालेषु यदात्मतां न जहति भूतानि तदेतद्ब्रह्मणो लक्षणम्। तद्ब्रह्म विजिज्ञासस्व विशेषेण ज्ञातुमिच्छस्व। यदेवंलक्षणं ब्रह्म तदन्नादिद्वारेण प्रतिपद्यस्वेत्यर्थः। श्रुत्यन्तरं च — "प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रमन्न- स्यान्नं मनसो ये मनो विदुः ते निचिक्युर्ब्रह्म पुराणमग्र्यम्" (बृ.उ. ४-४-१८) इति ब्रह्मोपलब्धौ द्वाराण्येतानीति दर्शयति।

स भृगुर्ब्रह्मोपलब्धिद्वाराणि ब्रह्मलक्षणं च श्रुत्वा पितुस्तपो ब्रह्मोपलब्धि-साधनत्वेनातप्यत तप्तवान्। कुतः पुनरनुपदिष्टस्यैव तपसः साधनत्वप्रतिपत्तिर्भृगोः, सावशेषोक्तेरन्नादि ब्रह्मणः प्रतिपत्तौ द्वारं लक्षणं च यतो वा इमानीत्याद्युक्तवान्।

[अन्न को ब्रह्म रूप से जानकर पिता की आज्ञा से भृगु का पुनः तप करना]

अथ भृगुवल्ल्यां द्वितीयोऽनुवाकः

अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्। अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। अन्नेन जातानि जीवन्ति। अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय। पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तꣳ होवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा ।।१।। अन्नस्योत्पत्तिदर्शनात्

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि तृतीये भृगुवल्ल्यध्याये द्वितीयोऽनुवाकः।।२।।

'अन्न ब्रह्म है' ऐसा जाना, क्योंकि निश्चय अन्न से ही ये सभी प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न हुए अन्न से ही जीवित रहते हैं तथा मरणोन्मुख होने पर अन्न में ही लीन हो जाते हैं। ऐसा जान कर फिर भी संशयग्रस्त हो भृगु पिता वरुण के पास आया। भगवन्! मुझे ब्रह्म का उपदेश करो! भृगु ने कहा — तप से ब्रह्म को जानने की विशेष इच्छा करो। तप ही ब्रह्म है, तब भृगु ने तप किया और उसने तप करके।।१।।

।।इति द्वितीयोऽनुवाकः।।

---

सावशेषं हि तत्साक्षाद्ब्रह्मणोऽनिर्देशात्। अन्यथा हि स्वरूपेणैव ब्रह्म निर्देष्टव्यं जिज्ञासवे पुत्रायेदमित्थंरूपं ब्रह्मेति। न चैवं निरदिशत्किं तर्हि, सावशेषमेवोक्तवान्। अतोऽवगम्यते नूनं साधनान्तरमप्यपेक्षते पिता ब्रह्मविज्ञानं प्रतीति। तपोविशेषप्रतिपत्तिस्तु सर्वसाधकतमत्वात्, सर्वेषां हि नियतसाध्यविषयाणां साधनानां तप एव साधकतमं साधनमिति हि प्रसिद्धं लोके। तस्मात्पित्राऽनुपदिष्टमपि ब्रह्मविज्ञानसाधनत्वेन तपः प्रतिपेदे भृगुः। तच्च तपो बाह्यान्तःकरणसमाधानं तद्द्वारकत्वाद्ब्रह्मप्रतिपत्तेः। "मनसश्चेन्द्रियाणां च ह्यैकाग्र्यं परमं तपः।
तज्ज्यायः सर्वधर्मेभ्यः स धर्मः पर उच्यते" इति स्मृतेः।(महा.शा. २५०-४) स च तपस्तप्त्वा।।१।।

*इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ तैत्तिरीयोपनिषदि तृतीयभृगुवल्ल्यध्यायभाष्ये प्रथमोऽनुवाकः।।१।।*

अन्नं ब्रह्मेति व्यजानाद्विज्ञातवान्। तद्धि यथोक्तलक्षणोपेतम्। कथम्। अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। अन्नेन जातानि जीवन्ति। अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति।

प्राण को ब्रह्मरूप से जानकर पुनः वरुण के उपदेशानुसार भृगु की तपश्चर्या

अथ भृगुवल्लयध्याये तृतीयोऽनुवाकः।

**प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात्। प्राणाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। प्राणेन जातानि जीवन्ति। प्राणं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तद्विज्ञाय। पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तꣳ होवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा ।।१।।**

**इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि तृतीये भृगुवल्ल्यध्याये तृतीयोऽनुवाकः।।३।।**

प्राण ब्रह्म है, ऐसा भृगु ने जाना, क्योंकि निश्चय प्राण से ही ये प्राणी जन्मते हैं, उत्पन्न हुए प्राण से ही जीते रहते हैं और मरणोन्मुख होने पर प्राण में ही लीन हो जाते हैं। ऐसा जानकर संशय ग्रस्त होकर फिर भी पिता वरुण के पास आया। भगवन्! मुझे ब्रह्म का उपदेश करें! भृगु से वरुण ने कहा — तू तप से ब्रह्म को विशेष रूप से जानने की इच्छा कर, क्योंकि तप ही ब्रह्म है, तब भृगु ने (इन्द्रिय और मन की एकाग्रता रूप) तप किया और उसने तप करके।।१।।

।।इति तृतीयोऽनुवाकः।।

---

तस्माद्युक्तमन्नस्य ब्रह्मत्वमित्यभिप्रायः। स एवं तपस्तप्त्वाऽन्नं ब्रह्मेति विज्ञाय लक्षणेनोपपत्त्या च पुनरेव संशयमापन्नो वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। कः पुनः संशयहेतुरस्येत्युच्यते। अन्नस्योत्पत्तिदर्शनात्। तपसः पुनः पुनरुपेदशः साधनातिशयत्वावधारणार्थः। यावद्ब्रह्मणो लक्षणं निरतिशयं न भवति, यावच्च जिज्ञासा न निवर्तते, तावत्तप एव ते साधनम्। तपसैव ब्रह्म विजिज्ञासस्वेत्यर्थः। ऋज्वन्यत् ।।१।।

*इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ तैत्तिरीयोपनिषदि तृतीयभृगुवल्ल्यध्यायभाष्ये द्वितीयोऽनुवाकः।।२।।*

*इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्ये तृतीये भृगुवल्ल्यध्याये तृतीयोऽनुवाकः।।३।।*

मन को ब्रह्मरूप जानकर पुन: वरुण के उपदेश से भृगु की तपश्चर्या

अथ भृगुवल्ल्यां चतुर्थोऽनुवाक:।

मनो ब्रह्मेति व्यजानात्। मनसो ह्येव खल्वि-
मानि भूतानि जायन्ते। मनसा जातानि जीवन्ति।
मन: प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय। पुनरेव
वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति।
तꣳ होवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो
ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा ।।१।।

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि तृतीये भृगुवल्ल्यध्याये
चतुर्थोऽनुवाक:।।४।।

विज्ञान को ब्रह्मरूप से जानकर वरुण के उपदेश से भृगु की पुन: तपश्चर्या

अथ भृगुवल्ल्यां पञ्चमोऽनुवाक:।

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्। विज्ञानाद्ध्येव खल्वि-
मानि भूतानि जायन्ते। विज्ञानेन जातानि जीवन्ति। विवेक
विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय। पुनरेव
वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति।

मन ब्रह्म है ऐसा जाना, क्योंकि निश्चय मन से ही ये सभी प्राणी उत्पन्न हुए, मन से ही जीवित रहते हैं और मरणोन्मुख होने पर मन में ही लीन होते हैं। ऐसा जान कर भृगु फिर भी अपने पिता वरुण के पास गया। भगवन्! मुझे ब्रह्म का बोध कराओ! वरुण ने भृगु से कहा — तप से ब्रह्म को जानने की इच्छा करो। तप ही ब्रह्म है, तब भृगु ने तप किया और उसने तप करके।।१।।

।।इति चतुर्थोऽनुवाक:।।

विज्ञान ब्रह्म है ऐसा जाना, क्योंकि विज्ञान से ही ये सभी प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न हुए विज्ञान से ही प्राण धारण करते हैं और मरणोन्मुख होने पर विज्ञान में लीन

---

*इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवत: कृतौ तैत्तिरीयोपनिषदि तृतीये भृगुवल्ल्यध्यायभाष्ये चतुर्थपञ्चमावनुवाकौ।।४।।५।।*

तथ्ं होवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। तपस्तप्त्वा ।।१।।

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि तृतीये भृगुवल्ल्यध्याये पञ्चमोऽनुवाकः।।५।।

अथ भृगुवल्ल्यध्याये षष्ठोऽनुवाकः।

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्वि-
मानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि
जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। सैषा
भार्गवी वारुणी विद्या। परमे व्योमन्प्रतिष्ठिता। स
य एवं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति।
महान्भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान्कीर्त्या ।।१।।

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि तृतीये भृगुवल्ल्यध्याये षष्ठोऽनुवाकः।।६।।

हो जाते हैं। ऐसा जानकर भृगु फिर अपने पिता वरुण के निकट आया। हे भगवन्! मुझे ब्रह्म का बोध करावें! वरुण ने भृगु ने तप किया और तप करके।।१।।

।।इति पञ्चमोऽनुवाकः।।

आनन्द ब्रह्म है ऐसा जाना, क्योंकि आनन्द से ही ये सभी प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न हुए आनन्द से जीवित रहते हैं और विनाशोन्मुख हुए आनन्द में ही प्रविष्ट हो जाते हैं। वह यह वरुण से उपदिष्ट और भृगु से ज्ञात ब्रह्मविद्या हृदयाकाश के भीतर (अद्वैत परमानन्दरूप में) स्थित है। जो ऐसा जानता है वह परब्रह्म में स्थिति प्राप्त करता है, यानी ब्रह्म ही हो जाता है। वह अन्नवान् और अन्न का भोक्ता (प्रदीप्ताग्नि) हो जाता है। वह प्रजा, पशु और शमदमादि ज्ञान के साधन रूप ब्रह्मतेज से युक्त हो महान् होता है तथा (शुभाचरण के कारण होने वाली) ख्याति से भी महान् होता है।।१।।

।।इति षष्ठोऽनुवाकः।।

---

एवं तपसा विशुद्धात्मा प्राणादिषु साकल्येन ब्रह्मलक्षणमपश्यञ्शनैः शनैरन्तरनुप्रविश्यान्तरतममानन्दं ब्रह्म विज्ञातवांस्तपसैव साधनेन भृगुस्तस्माद्ब्रह्म विजिज्ञासुना बाह्यान्तःकरणसमाधानलक्षणं परमं तपःसाधनमनुष्ठेयमिति प्रकरणार्थः।

अथ भृगुवल्ल्यध्याये सप्तमोऽनुवाकः।

**अन्नं न निन्द्यात्। तद्व्रतम्। प्राणो वा अन्नम्। शरीरमन्नादम्। प्राणे शरीरं प्रतिष्ठितम्। शरीरे प्राणः प्रतिष्ठितः। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य**

(गुरु के समान ही) अन्न की भी निन्दा न करे, यह ब्रह्मवेत्ता के लिये व्रत है। (शरीर के भीतर रहने के कारण) प्राण ही अन्न है और शरीर अन्नाद है। प्राण में शरीर स्थित है और शरीर में प्राण प्रतिष्ठित है। इस प्रकार (परस्पर एक दूसरे के आश्रित होने से) दोनों अन्न ही अन्न में प्रतिष्ठित हैं (अर्थात् आश्रित होने से अन्न है

---

अधुनाऽऽख्यायिकातोऽपसृत्य श्रुतिः स्वेन वचनेनाऽऽख्यायिकानिर्वृत्तमर्थमाचष्टे —

सैषा भार्गवी भृगुणा विदिता वरुणेन प्रोक्ता वारुणी विद्या परमे व्योमन्हृदयाकाशगुहायां परमे आनन्देऽद्वैते प्रतिष्ठिता परिसमाप्ताऽन्नमयादात्मनोऽधिप्रवृत्ता। य एवमन्योऽपि तपसैव साधनेनानेनैव क्रमेणानुप्रविश्याऽऽनन्दं ब्रह्म वेद, स एवं विद्याप्रतिष्ठानात्प्रतितिष्ठत्यानन्दे परमे ब्रह्मणि, ब्रह्मैव भवतीत्यर्थः।

दृष्टं च फलं तस्योच्यते —

अन्नवान्प्रभूतमन्नमस्य विद्यत इत्यन्नवान्। सत्तामात्रेण तु सर्वो ह्यन्नवानिति विद्याया विशेषो न स्यात्। एवमन्नमत्तीत्यन्नादो दीप्ताग्निर्भवतीत्यर्थः। महान्भवति। केन महत्त्वमित्यत आह — प्रजया पुत्रादिना पशुभिर्गवाश्वादिभिर्ब्रह्मवर्चसेन शमदमज्ञानादिनिमित्तेन तेजसा। महान्भवति कीर्त्या ख्यात्या शुभप्रचारनिमित्तया ।।१।।

*इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ तैत्तिरीयोपनिषदि तृतीयभृगुवल्ल्यध्यायभाष्ये षष्ठोऽनुवाकः।।६।।*

किंचान्नेन द्वारभूतेन ब्रह्म विज्ञातं यस्मात्तस्माद्गुरुमिवान्नं न निन्द्यात्तदस्यैवं ब्रह्मविदो व्रतमुपदिश्यते। व्रतोपदेशोऽन्नस्तुतये, स्तुतिभाक्त्वं चान्नस्य ब्रह्मोपलब्ध्युपायत्वात्। प्राणो वा अन्नम्। शरीरान्तर्भावात्प्राणस्य। यद्यस्यान्तः प्रतिष्ठितं भवति तत्तस्यान्नं भवतीति। शरीरे च प्राणः प्रतिष्ठितस्तस्मात्प्राणोऽन्नं शरीरमन्नादम्। तथा शरीरमप्यन्नं प्राणोऽन्नादः। कस्मात्प्राणे शरीरं प्रतिष्ठितम्। तन्निमित्तत्वाच्छरीरस्थितेः। तस्मात्तदेतदुभयं शरीरं प्राणश्चान्नमन्नादश्च। येनान्योन्यस्मिन्प्रतिष्ठितं तेनान्नम्। येनान्योन्यस्य प्रतिष्ठा तेनान्नादः। तस्मात्प्राणः शरीरं चोभयमन्नमन्नादं च।

एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति। अन्न-
वानन्नादो भवति। महान्भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्म-
वर्चसेन। महान्कीर्त्या ।।१।।

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि तृतीये भृगुवल्ल्यध्याये
सप्तमोऽनुवाकः।।७।।

अन्न का न त्यागना रूप व्रत तथा जल और ज्योति रूप अन्न ब्रह्म की उपासना

अथ भृगुवल्ल्यध्यायेऽष्टमोऽनुवाकः।

अन्नं न परिचक्षीत। तद्व्रतम्। आपो वा अन्नम्। (निन्दयात्) परिहरेत
ज्योतिरन्नादम्। अप्सु ज्योतिः प्रतिष्ठितम्।
ज्योतिष्यापः प्रतिष्ठिताः। तदेतदन्नमन्ने प्रति-
ष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद, प्रति-
तिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान्भवति

और आधार होने से अन्नाद है) जो इस प्रकार अन्न को अन्न में स्थित जानता है वह प्रख्यात होता है। अन्नवान् और अन्न का भोक्ता होता है। प्रजा, पशु तथा ब्रह्मतेज के कारण महान् होता है एवं ख्याति के कारण भी महान् होता है।।१।।

।।इति सप्तमोऽनुवाकः।।

अन्न का प्रत्याख्यान न करे, यह व्रत है। जल ही अन्न है, ज्योति अन्नाद है। जल में ज्योति स्थित है और ज्योति में जल स्थित है। इस प्रकार ये दोनों अन्न ही अन्न में प्रतिष्ठित हैं। जो इस प्रकार अन्न को अन्य में प्रतिष्ठित जानता है वह प्रतिष्ठित

---

स य एवमेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठत्यन्नान्नादात्मनैव। किंचान्नवानन्नादो भवतीत्यादि पूर्ववत् ।।१।।

*इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ तैत्तिरीयोपनिषदि तृतीये भृगुवल्ल्यध्याये सप्तमोऽनुवाकः।।७।।*

अन्नं न परिचक्षीत न च परिहरेत् तद्व्रतं पूर्ववत्स्तुत्यर्थम्। तदेव शुभाशुभकल्पनयाऽपरिगृह्यमाणं स्तुतं महीकृतमन्नं स्यादेवं यथोक्तमुत्तरेष्वप्यापो वा अन्नमित्यादिषु योजयेत् ।।१।।

प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान्कीर्त्या ।।१।।

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि तृतीये भृगुवल्ल्यध्याये-ऽष्टमोऽनुवाकः।।८।।

अन्न संचय रूप व्रत तथा पृथिवी और आकाश रूप अन्न ब्रह्म की उपासना का फल

अथ भृगुवल्ल्यध्याये नवमोऽनुवाकः।

अन्नं बहु कुर्वीत। तद्व्रतम्। पृथिवी वा अन्नम्।
आकाशोऽन्नादः। पृथिव्यामाकाशः प्रतिष्ठितः।
आकाशे पृथिवी प्रतिष्ठिता। तदेतदन्नमन्ने प्रति-
ष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रति-
तिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान्भवति प्रजया
पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान्कीर्त्या ।।१।।

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि तृतीये भृगुवल्ल्यध्याये नवमोऽनुवाकः।।९।।

होता है, वह अन्नवान् और अन्न का भोक्ता होता है। प्रजा पशु और ब्रह्मतेज के कारण महान् होता है। तथा ख्याति के कारण भी महान् होता है।।१।।

।।इत्यष्टमोऽनुवाकः।।

बहुत अन्न उपजावे, यह व्रत है। पृथिवी ही अन्न है, आकाश अन्नाद है। पृथिवी में आकाश प्रतिष्ठित है और आकाश में पृथिवी प्रतिष्ठित है। इस प्रकार ये दोनों अन्न में प्रतिष्ठित है। जो इस प्रकार अन्न को अन्न में स्थित जानता है वह प्रतिष्ठित होता है, अन्नवान् और अन्न का भोक्ता होता है। प्रजा, पशु और ब्रह्मतेज से महान् होता है तथा कीर्ति से भी महान् होता है।।१।।

।।इति नवमोऽनुवाकः।।

---

अप्सु ज्योतिरित्यब्ज्योतिषोरन्नान्नादगुणत्वेनोपासकस्यान्नस्य बहुकरणं व्रतम् ।।१।।

*इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ तैत्तिरीयोपनिषदि तृतीये भृगुवल्ल्यध्यायेऽष्टमनवमावनुवाकौ ।।८।।९।।*

तथा पृथिव्याकाशोपासकस्य वसतौ वसतिनिमित्तं कंचन कंचिदपि न प्रत्याचक्षीत वसत्यर्थमागतं न निवारयेदित्यर्थः। वासे च दत्तेऽवश्यं ह्यशनं दातव्यम्। तस्माद्यया कया च विधया येन केन च प्रकारेण बह्वन्नं प्राप्नुयाद्बह्वन्नसंग्रहं कुर्यादित्यर्थः। यस्मादन्नवन्तो विद्वांसोऽभ्यागतायान्नार्थिनेऽराधि संसिद्धमस्मा अन्नमित्या-

अथ भृगुवल्ल्यध्याये दशमोऽनुवाकः।

**न कंचन वसतौ प्रत्याचक्षीत। तद्व्रतम्। तस्माद्यया कया च विधया बह्वन्नं प्राप्नुयात्। अराध्यस्मा अन्नमित्याचक्षते। एतद्वै मुखतोऽन्नꣳ राद्धम्। मुखतोऽस्मा अन्नꣳ राध्यते। एतद्वै मध्यतोऽन्नꣳ राद्धम्। मध्यतोऽस्मा अन्नꣳ राध्यते। एतद्वा अन्ततोऽन्नꣳराद्धम् अन्ततोऽस्मा अन्नꣳराध्यते (१)। य एवं वेद। क्षेम इति वाचि। योगक्षेम इति प्राणापानयोः। कर्मेति हस्तयोः। गतिरिति**

निवास के लिए घर पर आये हुए किसी का भी (अतिथि का) परित्याग न करें, (पृथिवी और आकाश की उपासना करने वालों के लिये) यह व्रत है। इसलिये गृहागत अतिथिसत्कार के लिये किसी न किसी प्रकार खूब अन्न प्राप्त करें (क्योंकि अन्नउपासक गृहागत) उस अतिथि से "मैंने अन्न तैयार किया है" ऐसा कह कर परित्याग नहीं करते। जो गृहस्थ सत्कारपूर्वक सिद्ध किया हुआ अन्न अतिथि को देता है उसे मुख्यवृत्ति से ही अन्न प्राप्त होता है। जो मध्यमवृत्ति से सिद्ध किया हुआ अन्न है उसे मध्यमवृत्ति से ही अन्न प्राप्त होता है और जो निकृष्टवृत्ति से (तिरस्कार पूर्वक) सिद्ध किया हुआ अन्न देता है उसे निकृष्टवृत्ति से अन्न प्राप्त होता है।।१।। जो इस प्रकार जानता है (उसे पूर्वोक्त फल की प्राप्ति होती है। अब प्रकारान्तर से ब्रह्मोपासना बतलाते हैं।) ब्रह्म वाणी में क्षेमरूप से, योगक्षेमरूप से प्राण और अपान में, कर्मरूप से हाथों में, गतिरूप से चरणों में और विसर्गरूप से गुदा में (उपासनीय है), यह मनुष्य सम्बन्धी उपासना बतलायी गयी है। अब

---

चक्षते न नास्तीति प्रत्याख्यानं कुर्वन्ति तस्माच्च हेतोर्बह्वन्नं प्राप्नुयादिति पूर्वेण संबन्धः। अपि चान्नदानस्य माहात्म्यमुच्यते। यथा यत्कालं प्रयच्छत्यन्नं तथा तत्कालमेव प्रत्युपनमते।

कथमिति तदेतदाह —

एतद्वा अन्नं मुखतो मुख्ये प्रथमे वयसि मुख्यया वा वृत्त्या, पूजापुरःसरमभ्यागतायान्नार्थिने राद्धं संसिद्धं प्रयच्छतीति वाक्यशेषः। तस्य किं फलं स्यादित्युच्यते — मुखतः पूर्वे वयसि मुख्यया वा वृत्त्याऽस्मा अन्नदायान्नं राध्यते, यथादत्तमुपतिष्ठत इत्यर्थः। एवं मध्यतो मध्यमे वयसि मध्यमेन चोपचारेण। तथाऽन्ततोऽन्ते वयसि जघन्येन चोपचारेण परिभवेन तथैवास्मै राध्यते संसिध्यत्यन्नम्। य एवं वेद, य एवमन्नस्य यथोक्तं माहात्म्यं वेद, तद्दानस्य यथोक्तं फलमुपनयेत्।

पादयोः। विमुक्तिरिति पायौ। इति मानुषीः समाज्ञाः। अथ दैवीः। तृप्तिरिति वृष्टौ। बलमिति विद्युति (२)। यश इति पशुषु। ज्योतिरिति नक्षत्रेषु। प्रजातिरमृतमानन्द इत्युपस्थे। सर्वमित्याकाशे। तत्प्रतिष्ठेत्युपासीत। प्रतिष्ठावान्भवति। तन्मह इत्युपासीत। महान्भवति। तन्मन इत्युपासीत। मानवान्भवति (३) तन्नम इत्युपासीत। नम्यन्तेऽस्मै कामाः। तद्ब्रह्मेत्युपासीत। ब्रह्मवान्भवति।

देवताओं में होने वाली उपासना कही जाती है — तृप्तिरूप से ब्रह्म ही वृष्टि में, बलरूप से विद्युत् में उपासनीय है।।२।। यशरूप से पशुओं में, ज्योतिरूप से नक्षत्रों में, पुत्रादि प्रजा, पितृ ऋण से मुक्त होनारूप अमरत्व और आनन्दरूप से उपस्थ में, (स्थित ब्रह्म की उपासना करें) वह ब्रह्म सबका आधार है — ऐसा समझ कर उसकी उपासना करें, इसमें उपासक प्रतिष्ठावान् होता है। वह ब्रह्म महत्त्व गुण वाला है इस भाव से उसकी उपासना करें, इससे उपासक महान् होता है। वह मन ब्रह्म है इस प्रकार उपासना करें, इससे उपासक मनन करने में समर्थ होता है।।३।। वह 'नमः' है इस प्रकार ब्रह्म की उपासना करें, इससे सम्पूर्ण भोग्यपदार्थ उपासक के पास विनम्र होकर जाते हैं। वह ब्रह्म सबसे बड़ा है,

इदानीं ब्रह्मण उपासनप्रकार उच्यते —

क्षेम इति वाचि। क्षेमो नामोपात्तपरिरक्षणम्। ब्रह्म वाचि क्षेमरूपेण प्रतिष्ठितमित्युपास्यम्। योगक्षेम इति, योगोऽनुपात्तस्योपादानम्। तौ हि योगक्षेमौ प्राणापानयोः सतोर्भवतो यद्यपि, तथाऽपि न प्राणापाननिमित्तावेव, किं तर्हि? ब्रह्मनिमित्तौ। तस्माद्ब्रह्म योगक्षेमात्मना प्राणापानयोः प्रतिष्ठितमित्युपास्यम्। एवमुत्तरेष्वन्येषु तेन तेनाऽऽत्मना ब्रह्मैवोपास्यम्। कर्मणो ब्रह्मनिर्वर्त्यत्वाद्धस्तयोः कर्मात्मना ब्रह्म प्रतिष्ठितमित्युपास्यम्। गतिरिति पादयोः विमुक्तिरिति पायौ। इत्येता मानुषीर्मनुष्येषु भवा मानुष्यः समाज्ञाः, आध्यात्मिक्यः समाज्ञा ज्ञानानि विज्ञानान्युपासनानीत्यर्थः।

अथानन्तरं दैवीर्दैव्यो देवेषु भवाः समाज्ञा उच्यन्ते। तृप्तिरिति वृष्टौ। वृष्टेरन्नादिद्वारेण तृप्तिहेतुत्वाद्ब्रह्मैव तृप्त्यात्मना वृष्टौ व्यवस्थितमित्युपास्यम्। तथाऽन्येषु तेन तेनाऽऽत्मना ब्रह्मैवोपास्यम्। तथा बलरूपेण विद्युति। यशोरूपेण पशुषु। ज्योतीरूपेण

**तद्ब्रह्मणः परिमर इत्युपासीत। पर्येणं म्रियन्ते द्विषन्तः सपत्नाः। परि येऽप्रिया भ्रातृव्याः। स यश्चायं पुरुषे। यश्चासावादित्ये। स एकः (४)**

इस प्रकार उपासना करें। इससे वह ब्रह्म के समान गुण वाला होता है। वह ब्रह्म का परिमर (विद्युत्, वृष्टि, चन्द्रमा, आदित्य और अग्नि ये पाँच देवता जिसमें मरते हैं, ऐसा आकाश) है, इस प्रकार उसकी उपासना करें, इससे उस उपासक से द्वेष करने वाले प्रतिपक्षी मर जाते हैं तथा जो अप्रिय भाई के पुत्र होते हैं वे भी मर जाते हैं। वह जो इस पुरुष में है तथा जो उस आदित्य में है — एक ही है।।४।।

---

नक्षत्रेषु। प्रजातिरमृतममृतत्वप्राप्तिः पुत्रेण ऋणविमोक्षद्वारेणाऽऽनन्दः सुखमित्येतत्सर्वमुपस्थनिमित्तं ब्रह्मैवानेनाऽऽत्मनोपस्थे प्रतिष्ठितमित्युपास्यम्। सर्वं ह्याकाशे प्रतिष्ठितमतो यत्सर्वमाकाशे तद्ब्रह्मैवेत्युपास्यम्। तच्चाऽऽकाशं ब्रह्मैव। तस्मात्तत्सर्वस्य प्रतिष्ठेत्युपासीत। प्रतिष्ठागुणोपासनात्प्रतिष्ठावान्भवति। एवं पूर्वेष्वपि यद्यत्तदधीनं फलं तद्ब्रह्मैव तदुपासनात्तद्वान्भवतीति द्रष्टव्यम्। श्रुत्यन्तराच्च — "तं यथा यथोपासते तदेव भवति" (शतपथब्रा. १०-५-२-२०) इति।

तन्मह इत्युपासीत। महो महत्त्वगुणवत्तदुपासीत। महान्भवति। तन्मन इत्युपासीत। मननं मनः। मानवान्भवति मननसमर्थो भवति। तन्नम इत्युपासीत। नमनं नमो नमनगुणवत्तदुपासीत। नम्यन्ते प्रह्वी भवन्त्यस्मा उपासित्रे कामाः काम्यन्त इति भोग्या विषया इत्यर्थः। तद्ब्रह्मेत्युपासीत। ब्रह्म परिवृढतममित्युपासीत। ब्रह्मवांस्तद्गुणो भवति। तद्ब्रह्मणः परिमर इत्युपासीत। ब्रह्मणः परिमरः परिम्रियन्तेऽस्मिन्पञ्च देवता विद्युद्वृष्टिश्चन्द्रमा आदित्योऽग्निरित्येताः। अतो वायुः परिमरः श्रुत्यन्तरप्रसिद्धेः। स एष एवायं वायुराकाशेनानन्य इत्याकाशो ब्रह्मणः परिमरस्तमाकाशं वाय्वात्मानं ब्रह्मणः परिमर इत्युपासीत। पर्येनमेवंविदं प्रतिस्पर्धिनो द्विषन्तोऽद्विषन्तोऽपि सपत्ना यतो भवन्त्यतो विशेष्यन्ते द्विषन्तः सपत्ना इति। ये एनं द्विषन्तः सपत्नास्ते परिम्रियन्ते प्राणाञ्जहति। किंच ये चाप्रिया अस्य भ्रातृव्या अद्विषन्तोऽपि ते च परिम्रियन्ते।

प्राणो वा अन्नं शरीरमन्नादमित्यारभ्याऽऽकाशान्तस्य कार्यस्यैवान्नान्नादत्वमुक्तम्। उक्तं नाम किं तेन, तेनैतत्सिद्धं भवति, कार्यविषय एव भोज्यभोक्तृत्वकृतः संसारो न त्वात्मनीति। आत्मनि तु भ्रान्त्योपचर्यते।

नन्वात्माऽपि परमात्मनः कार्यं ततो युक्तस्तस्य संसार इति। न। असंसारिण एव प्रवेशश्रुतेः। "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" इत्याकाशादिकारणस्य ह्यसंसारिण एव परमात्मनः

मातृवद् बुद्धि परदारेषु रागापोहार्थं.
मातृवत् परदारेषु लोष्ठवत् परद्रव्येषु.
आत्मवत् सर्व भूतेषु यः पश्यति स पण्डितः

आदित्य और देह में स्थित चेतन की अभेद उपासना का फल।

एवंवित्। अस्माल्लोकात्प्रेत्य। एतमन्नमयमात्मान-
मुपसंक्रम्य। एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतं
मनोमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतं विज्ञानमयमात्मा-
नमुपसंक्रम्य। एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्य।
इमाँल्लोकान्कामान्नी कामरूप्यनुसंचरन्। एतत्साम
गायन्नास्ते। हा३वु हा३वु हा३वु (५)। अहो = विस्मयख्यापनार्थ

जो इस प्रकार जानने वाला है वह इस दृष्टादृष्टलोक से निवृत्त होकर इस अन्नमय आत्मा को प्राप्त कर इस प्राण में आत्मा के प्रति संक्रमण कर, इस मनोमय आत्मा के प्रति संक्रमण कर, इस विज्ञानमय आत्मा को प्राप्त कर तथा इस आनन्दमय आत्मा के प्रति संक्रमण कर इन लोकों में यथेच्छ भोगों को भोगता हुआ इच्छानुसार रूप धारण कर विचरता हुआ इस साम का गान करता है हा३वु, हा३वु, हा३वु।।५।।

---

कार्येऽनुप्रवेशः श्रूयते। तस्मात्कार्यानुप्रविष्टो जीव आत्मा पर एवासंसारी। सृष्ट्वाऽनुप्राविश-दिति समानकर्तृ (क) त्वोपपत्तेश्च। सर्गप्रवेशक्रिययोश्चैकश्चेत्कर्ता ततः क्त्वाप्रत्ययो युक्तः। प्रविष्टस्य तु भावान्तरापत्तिरिति चेत्। न। प्रवेशस्यान्यार्थत्वेन प्रत्याख्यातत्वात्। "अनेन जीवेने"ति (छा.उ. ६-३-२) विशेषश्रुतेर्धर्मान्तरेणानुप्रवेश इति चेत्। न। "तत्त्वमसी"ति (छा.उ. ६-८-७) पुनस्तद्भावोक्तेः। भावान्तरापन्नस्यैव तदपोहार्था संपदिति चेत्। न। "तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसी"ति (छा.उ. ६-८-७) सामानाधिकरण्यात्। दृष्टं जीवस्य संसारित्वमिति चेत्। न। उपलब्धुरनुपलभ्यत्वात्। संसारधर्मविशिष्ट आत्मोपलभ्यत इति चेत्। न। धर्माणां धर्मिणोऽव्यतिरेकात्कर्मत्वानुपपत्तेः उष्णप्रकाशयोर्दाह्यप्रकाश्यत्वानुपपत्तिवत्त्रासादि-दर्शनाद्दुःखित्वाद्यनुमीयत इति चेत्। न। त्रासादेर्दुःखस्य चोपलभ्यमानत्वान्नोपलब्धृधर्मत्वम्। कापिलकाणादादितर्कशास्त्रविरोध इति चेत्। न। तेषां मूलाभावे वेदविरोधे च भ्रान्तत्वोपपत्तेः। श्रुत्युपपत्तिभ्यां च सिद्धमात्मनोऽसंसारित्वमेकत्वाच्च।

कथमेकत्वमित्युच्यते —

स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एक इत्येवमादि पूर्ववत्सर्वम्। अन्नमयादि क्रमेणाऽऽनन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्यैतत्साम गायन्नास्ते। सत्यं ज्ञानमित्यस्या ऋचोऽर्थो व्याख्यातो विस्तरेण तद्विवरणभूतयाऽऽनन्दवल्ल्या सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सह ब्रह्मणा विपश्चितेति तस्य फलवचनस्यार्थविस्तारो नोक्तः। के ते, किंविषया वा सर्वे कामाः, कथं वा ब्रह्मणा सह समश्नुत इत्येतद्वक्तव्यमितीदमिदानीमारभ्यते। तत्र पितापुत्राख्या-यिकायां पूर्वविद्याशेषभूतायां तपो ब्रह्मविद्यासाधनमुक्तम्। प्राणादेराकाशान्तस्य च

ब्रह्म ज्ञानी के ज्ञान का विषय साम-

अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्। अहमन्नादो३ऽह-
मन्नादो३ऽहमन्नादः। अहꣳ श्लोककृदहꣳ श्लोक- संघातस्य कर्ता चेतनावान्।
कृदहꣳश्लोककृत्। अहमस्मि प्रथमजा३ऋता३स्य।
पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य ना३भायि। यो मा ददाति स नाभि मध्यं
इदेव मा३ऽऽवाः। अहमन्नमन्नमदन्तमा३द्मि। अहं
विश्वं भुवनमभ्यभवा३म्। सुवर्न ज्योतीः। य एवं सुवर् + नः उपमा आदित्ये।

अन्नं यथाभूतं भवति। आदित्यमिव सकृद् विभातं।

विशुद्ध होता हुआ भी मैं भोग्य हूँ, मैं अन्न हूँ, मैं अन्न हूँ, मैं ही अन्नाद हूँ, मैं ही अन्न का भोक्ता हूँ, मैं ही अन्नाद हूँ, मैं ही श्लोककृत् (अन्न एवं अन्नाद के संघातकर्ता) हूँ, मैं ही श्लोककृत् हूँ, मैं ही श्लोककृत् हूँ। मैं ही मूर्तामूर्त जगत् के पहले हिरण्यगर्भ से उत्पन्न हुआ हूँ, मैं ही देवताओं से पूर्ववर्ती विराट् एवं अमरत्व का केन्द्र स्थान हूँ। जो अन्नरूप मुझे (अन्नार्थियों को) देता है वह इस प्रकार मेरी रक्षा करता है, किन्तु स्वयं अन्न भक्षण करने वाले को मैं अन्नरूप से भक्षण करता हूँ। मैं इस सम्पूर्ण भुवन का पराभव करता हूँ, हमारी ज्योति सूर्य के समान सदा प्रकाशरूप है, ऐसी यह

---

कार्यस्यान्नान्नादत्वेन विनियोगश्चोक्तः। ब्रह्मविषयोपासनानि च। ये च सर्वे कामाः प्रतिनियतानेकसाधनसाध्या आकाशादिकार्यभेदविषया एते दर्शिताः। एकत्वे पुनः कामकामित्वानुपपत्तिः। भेदजातस्य सर्वस्याऽऽत्मभूतत्वात्। तत्र कथं युगपद्ब्रह्मस्वरूपेण सर्वान्कामानेवंवित्समश्नुते इत्युच्यते। सर्वात्मत्वापत्तेः। कथं सर्वात्मत्वापत्तिरित्याह। पुरुषादित्यस्थात्मैकत्वविज्ञानेनापोह्योत्कर्षापकर्षावन्नमयाद्यात्मनोऽविद्याकल्पितान्क्रमेण संक्रम्याऽऽनन्दमयान्तान्सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्माऽदृश्यादिधर्मकं स्वाभाविकमानन्दमजममृत-मभयमद्वैतं फलभूतमापन्न इमाँल्लोकान्भूरादीननुसंचरन्निति व्यवहितेन संबन्धः। कथमनु-संचरन्। कामान्नी कामतोऽन्नमस्येति कामान्नी। तथा कामतो रूपाण्यस्येति कामरूपी। अनुसंचरन्सर्वात्मनेमाँल्लोकानात्मत्वेनानुभवन्। किम्, एतत्साम गायन्नास्ते। समत्वा-द्ब्रह्मैव साम, सर्वानन्यरूपं गायञ्शब्दयन्नात्मैकत्वं प्रख्यापयँल्लोकानुग्रहार्थं तद्विज्ञानफलं चातीव कृतार्थत्वं गायन्नास्ते तिष्ठति।

कथम्। हा३वु हा३वु हा३वु। अहो इत्येतस्मिन्नर्थेऽत्यन्तविस्मयख्यापनार्थम्। कः पुनरसौ विस्मय इत्युच्यते — अद्वैत आत्मा निरञ्जनोऽपि सन्नहमेवान्नमन्नादश्च। किंचाहमेव श्लोककृत्। श्लोको नामान्नान्नादयोः संघातस्तस्य कर्ता चेतनावान्। अन्नस्यैव वा

वेद। इत्युपनिषत् (६)।।

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि तृतीये भृगुवल्ल्यध्याये
दशमोऽनुवाकः।।१०।।

ब्रह्मविद्या है। जो इसे इस प्रकार जानता है, उसे पूर्वोक्त फल मिलता है।।६।।

---

परार्थस्यान्नादार्थस्य सतोऽनेकात्मकस्य पारार्थ्येन हेतुना संघातकृत्। त्रिरुक्तिर्विस्मयत्वख्यापनार्था। अहमस्मि भवामि। प्रथमजाः प्रथमजः प्रथमोत्पन्नः। ऋतस्य सत्यस्य मूर्तामूर्तस्यास्य जगतो देवेभ्यश्च पूर्वममृतस्य नाभिरमृतत्वस्य नाभिर्मध्यं मत्संस्थममृतत्वं प्राणिनामित्यर्थः।

यः कश्चिन्मा मामन्नमन्नार्थिभ्यो ददाति प्रयच्छत्यन्नात्मना ब्रवीति स इदित्थमेवमविनष्टं यथाभूतमावाः अवतीत्यर्थः। यः पुनरन्यो मामदत्त्वाऽर्थिभ्यः काले प्राप्तेऽन्नमत्ति तमन्नमदन्तं भक्षयन्तं पुरुषमहमन्नमेव संप्रत्यद्मि भक्षयामि। अत्राऽऽहैवं तर्हि बिभेमि सर्वात्मत्वप्राप्तेर्मोक्षादस्तु संसार एव यतो मुक्तोऽप्यहमन्नभूत आद्यः स्यामन्नस्यैवं मा भैषीः संव्यवहारविषयत्वात्सर्वकामाशनस्यातीत्यायं संव्यवहारविषयमन्नान्नादादिलक्षणमविद्याकृतं विद्यया ब्रह्मत्वमापन्नो विद्वांस्तस्य नैव द्वितीयं वस्त्वन्तरमस्ति यतो बिभेत्यतो न भेतव्यं मोक्षात्। एवं तर्हि किमिदमाह — अहमन्नमहमन्नाद इत्युच्यते योऽयमन्नान्नादादिलक्षणः संव्यवहारः कार्यभूतः स संव्यवहारमात्रमेव न परमार्थवस्तु। स एवंभूतोऽपि ब्रह्मनिमित्तो ब्रह्मव्यतिरेकेणासन्निति कृत्वा ब्रह्मविद्याकार्यस्य ब्रह्मभावस्य स्तुत्यर्थमुच्यते अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्। अहमन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नाद इत्यादि। अतो भयादिदोषगन्धोऽप्यविद्यानिमित्तोऽविद्योच्छेदाद्ब्रह्मभूतस्य नास्तीत्यहं विश्वं समस्तं भुवनं भूतैः संभजनीयं ब्रह्मादिभिर्भवन्तीति वाऽस्मिन्भूतानीति भुवनमभ्यभवा३मभिभवामि परेणेश्वरेण स्वरूपेण।

सुवर्न ज्योतीः सुवरादित्यो नकार उपमार्थे। आदित्य इव सकृद्विभातमस्मदीयं ज्योतीर्ज्योतिः। प्रकाश इत्यर्थः। इति वल्लीद्वयविहितोपनिषत्परमात्मज्ञानं तामेतां यथोक्तामुपनिषदं शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वा भृगुवत्तपो महदास्थाय य एवं वेद तस्येदं फलं यथोक्तमोमिति।।१-६।।

*इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ तैत्तिरीयोपनिषदि तृतीयभृगुवल्ल्यध्यायभाष्ये दशमोऽनुवाकः।।१०।।*

सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै।।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

इति कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयोपनिषदि तृतीयो भृगुवल्ल्यध्यायःसमाप्तः।।३।।

समाप्तेयं कृष्णयजुर्वेदीया तैत्तिरीयोपनिषत्

(वह ब्रह्म आचार्य और शिष्य) हम दोनों की साथ-साथ रक्षा करे, हम दोनों का साथ-साथ पालन करे, हम साथ-साथ विद्याजन्य सामर्थ्य प्राप्त करें, हम दोनों का अध्ययन किया हुआ तेजस्वी (अर्थज्ञान के योग्य) हो और हम परस्पर विद्वेष न करें। त्रिविध ताप की शान्ति हो।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्रजकाचार्ययतीन्द्रकुलतिलककैलासपीठाधीश्वरपरामदर्शमहामण्डलेश्वरस्वामिविद्यानन्दगिरि-विरचितातैत्तिरीयोपनिषद्तृतीयभृगुवल्ल्यध्यायस्य विद्यानन्दीमिताक्षरा ।।३।।

---

(भृगुस्तस्मै यतो विशन्ति तद्विजिज्ञासस्व त्रयोदशान्नं प्राणो मनो
विज्ञानं द्वादश द्वादशाऽऽनन्दो दशान्नं न निन्द्यादन्नं न परिचक्षी-
तान्नं बहु कुर्वीतैकादशैकादश) न कंचनैकषष्टिर्दश।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य शाङ्करभगवतः कृतौ तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्ये तृतीयो भृगुवल्ल्यध्यायः।।३।।

✦ चतुर्थमाह्निकम् ✦

उपोद्घात = सम्बन्धभाष्य में मुख्य अधिकारी तुरीय आश्रमी सन्यासी है।
सृष्टि में पर एवं अपर श्रेष्ठता का बारे में संशय होने पर परविद्या को ही श्रेष्ठ माना गया।
परमात्मा पञ्च भूतों को बनाता है। पञ्चीकरण करता है. अपर ब्रह्म जन्म.

उपक्रम में अपर ब्रह्म ही है। उपसंहार में प्रज्ञानं ब्रह्म. आरम्भ में अपर ब्रह्म.

# ★ ऐतरेयोपनिषत् ★

## अध्याय प्रकाशिका



(1) उपक्रम :- आत्मा वा इदमेक एवाग्रे आसीत (1-1-1).
उपसंहार :- प्रज्ञानं ब्रह्म. (3-5-3)

(2) अभ्यास :- स इमान् लोकान् असृजत (1-1-2)
स ईक्षत एमेनु लोकान्नु सृजा इति (1-1-3)

(3) अपूर्वता :- स जातो भूतानि अभिव्यैख्यत (1-3-13)

(4) फल :- स एतेन प्रज्ञेन आत्मना.
अस्माद् लोकाद् उत्क्रम्य
अमुष्मिन् स्वर्गे लोके (3-5-4)

(5) अर्थवाद :- ता एता देवता सृष्टाः (2-1-1), गर्भेनुसन्नन्वेषामवेदमहं देवानि (2-4-5)

(6) उपपत्ति : (a) स इमान् लोकान् असृजत (1-1-2)

(b) स एतमेव सीमानं विदार्य एतया द्वारा प्रापद्यत (1-3-12)

ॐ तत्सद्ब्रह्मणे नमः।

ऋग्ब्राह्मणारण्यकाण्डान्तर्गतद्वितीयारण्यकस्था ऐतरेयशाखा.

# ऐतरेयोपनिषत्

## भगवत्पादाद्यशङ्कराचार्यविरचितशाङ्करभाष्यसमेता

* * *

### अथ श्रीमच्छङ्करभगवत्पादाचार्यविरचितं उपोद्घातभाष्यम्

उपासना

परिसमाप्तं कर्म सहापरब्रह्मविषयविज्ञानेन। सैषा कर्मणो ज्ञानसहितस्य परा गतिरुक्थविज्ञानद्वारेणोपसंहृता। "एतत्सत्यं ब्रह्मप्राणाख्यम्" (ऐ. आ. २/१/५) "एष एको देवः" "एतस्यैव प्राणस्य सर्वे देवा विभूतयः" (ऐ. आ. २/१/७) "एतस्य प्राणस्याऽऽत्मभावं गच्छन्देवता अप्येति" (ऐ. आ. २-२-४) इत्युक्तम्। सोऽयं देवताप्ययलक्षणः परः पुरुषार्थः। एष मोक्षः। स चायं यथोक्तेन ज्ञानकर्मसमुच्चयसाधनेन प्राप्तव्यो नातः परमस्तीत्येके प्रतिपन्नास्तान्निराचिकीर्षुरुत्तरं केवलात्मज्ञानविधानार्थम् 'आत्मा वा इदम्' इत्याद्याह।

प्राण

कथं पुनरकर्मसंबन्धिकेवलात्मविज्ञानविधानार्थ उत्तरो ग्रन्थ इति गम्यते। अन्यार्थानवगमात्। तथा च पूर्वोक्तानां देवतानामग्न्यादीनां संसारित्वं दर्शयिष्यत्यशनायादिदोषवत्त्वेन तमशनापिपासाभ्यामन्ववार्जदित्यादिना। अशनायादिमत्सर्वं संसार एव परस्य तु ब्रह्मणोऽशनायाद्यत्ययश्रुतेः। भवत्वेवं केवलात्मज्ञानं मोक्षसाधनं न त्वत्राकर्म्येवाधिक्रियते। विशेषाश्रवणात्। अकर्मिण आश्रम्यन्तरस्येहाश्रवणात्। कर्म च बृहतीसहस्रलक्षणं प्रस्तुत्यानन्तरमेवाऽऽत्मज्ञानं प्रारभ्यते। तस्मात्कर्म्येवाधिक्रियते।

न च कर्मासंबन्ध्यात्मविज्ञानं पूर्ववदन्त उपसंहारात्। यथा कर्मसंबन्धिनः पुरुषस्य सूर्यात्मनः स्थावरजङ्गमादिसर्वप्राण्यात्मत्वमुक्तं ब्राह्मणेन मन्त्रेण च ' सूर्य आत्मा' (ऐ. आ. २-२-४) इत्यादिना, तथैव "एष ब्रह्मैष इन्द्रः" इत्याद्युपक्रम्य सर्वप्राण्यात्मत्वम्। यच्च स्थावरं सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रमित्युपसंहरिष्यति। तथा च संहितोपनिषदि – "एतं ह्येव बह्वृचा महत्युक्थे मीमांसन्ते" (ऐ. आ. ३-२-३) इत्यादिना कर्मसंबन्धित्वमुक्त्वा "सर्वेषु भूतेष्वेतमेव ब्रह्मेत्याचक्षते" (ऐ. आ. ३-२-३) इत्युपसंहरति। तथा तस्यैव "योऽयमशरीरः प्रज्ञात्मा" (ऐ. आ. ३-२-३) इत्युक्तस्य यश्चासावादित्य एकमेव तदिति विद्यादित्येकत्वमुक्तम्। इहापि कोऽयमात्मेत्युपक्रम्य प्रज्ञात्मत्वमेव 'प्रज्ञानं ब्रह्म' इति दर्शयिष्यति। तस्मान्नाकर्मसंबन्ध्यात्मज्ञानम्।

मोक्ष ज्ञान से ही, ज्ञान के लिये सर्व कर्म सन्यास.
जो नरपति घर में ज्ञान पाता तो क्यों जंगल जाते.
लाठा पानी:- जोतखुतरया, बीज बोवरया, सींच सिंचरया, काट कटरया, पीस पीसरया. खा खाकरया.

कथम्?

पुनरुक्त्याऽऽनर्थक्यमिति चेत्, "प्राणो वा अहमस्म्यृषे" (ऐ. आ. २-२-३) इत्यादिब्राह्मणेन "सूर्य आत्मा" (ऐ. आ. २-२-४) इति मन्त्रेण च निर्धारितस्याऽऽत्मन "आत्मा वा इदम्" इत्यादिब्राह्मणेन 'कोऽयमात्मा' इति प्रश्नपूर्वकं पुनर्निर्धारणं पुनरुक्तमनर्थकमिति चेत्। न। तस्यैव धर्मान्तरविशेषनिर्धारणार्थत्वान्न पुनरुक्ततादोषः। कथम्? तस्यैव कर्मसंबन्धिनो जगत्सृष्टिस्थितिसंहारादिधर्मविशेषनिर्धारणार्थत्वात्। केवलोपास्त्यर्थत्वाद्वा। अथवाऽऽत्मेत्यादिपरो ग्रन्थसंदर्भ आत्मनः कर्मिणः कर्मणोऽन्यत्रोपासनाऽप्राप्तौ कर्मप्रस्तावेऽविहितत्वात्केवलोऽप्यात्मोपास्य इत्येवमर्थः। भेदाभेदोपास्यत्वाद्वैक एवाऽऽत्मा कर्मविषये भेददृष्टिभाक्, स एवाकर्मकालेऽभेदेनाप्युपास्य इत्येवमपुनरुक्तता।

Para change not necessary. (P.C.N.N)

"विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳसह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते" (ई. उ. ११) इति। "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः" (ई. उ. २) इति च वाजिनाम्। न च वर्षशतात्परमायुर्मर्त्यानाम्। येन कर्मपरित्यागेनाऽऽत्मानमुपासीत। दर्शितं च "तावन्ति पुरुषायुषोऽह्नां सहस्राणि भवन्ति" (ऐ. आ. २-३-८)। वर्षशतं चाऽऽयुः कर्मणैव व्याप्तम्। दर्शितश्च मन्त्रः "कुर्वन्नेवेह कर्माणि" इत्यादिः। तथा "यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति" "यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत" इत्याद्याश्च। "तं यज्ञपात्रैर्दहन्ति" इति च। ऋणत्रयश्रुतेश्च।

तत्र पारिव्राज्यादिशास्त्रं 'व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति' (बृ. ३-५-१) इत्याद्यात्मज्ञानस्तुतिपरोऽर्थवादोऽनधिकृतार्थो वा। न। परमार्थविज्ञाने फलादर्शने क्रियानुपपत्तेः। यदुक्तं "कर्मिण एव चाऽऽत्मज्ञानं कर्मसंबन्धि च" इत्यादि तन्न। परं ह्याप्तकामं सर्वसंसारदोषवर्जितं ब्रह्माहमस्मीत्यात्मत्वेन विज्ञाने कृतेन कर्तव्येन वा प्रयोजनमात्मनोऽपश्यतः फलादर्शने क्रिया नोपपद्यते। फलादर्शनेऽपि नियुक्तत्वात्करोतीति चेत्। न। नियोगाविषयात्मदर्शनादिष्टयोगमनिष्टवियोगं चाऽऽत्मनः प्रयोजनं पश्यंस्तदुपायार्थी यो भवति स नियोगस्य विषयो दृष्टो लोके, न तु तद्विपरीतो नियोगाविषयब्रह्मात्मत्वदर्शी। ब्रह्मात्म- त्वदर्श्यपि संश्चेन्नियुज्येत नियोगाविषयोऽपि सन्न कश्चिन्न नियुक्त इति सर्वं कर्म सर्वेण सर्वदा कर्तव्यं प्राप्नोति। तच्चानिष्टम्। न च स नियोक्तुंशक्यते केनचित्। आम्नायस्यापि तत्प्रभवत्वान्न हि स्वविज्ञानोत्थेन वचसा स्वयं नियुज्यते, नापि बहुवित्स्वाम्यविवेकिना भृत्येन। आम्नायस्य नित्यत्वे सति स्वातन्त्र्यात्सर्वान्प्रति नियोक्तृत्वसामर्थ्यमिति चेत्। न। उक्तदोषात्। तथाऽपि सर्वेण सर्वदा सर्वं शिष्टं कर्म कर्तव्यमित्युक्तो दोषोऽपरिहार्य एव। तदपि शास्त्रेणैव विधीयत इति चेत्। यथा कर्मकर्तव्यता

शास्त्रेण कृता तथा तदप्यात्मज्ञानं तस्यैव कर्मिणः शास्त्रेण विधीयत इति चेन्न। विरुद्धार्थबोधकत्वानुपपत्तेः। न ह्येकस्मिन्कृताकृर्तासंबन्धित्वं तद्विपरीतत्वं च बोधयितुं शक्यम्। शीतोष्णतामिवाग्नेः।

न चेष्टयोगचिकीर्षाऽऽत्मनोऽनिष्टवियोगचिकीर्षा च शास्त्रकृता, सर्वप्राणिनां तद्दर्शनाच्छास्त्रकृतं चेत्तदुभयं गोपालादीनां न दृश्येताशास्त्रज्ञत्वात्तेषाम्। यद्धि स्वतोऽप्राप्तं तच्छास्त्रेण बोधयितव्यम्। तच्चेत्कृतकर्तव्यताविरोध्यात्मज्ञानं शास्त्रेण कृतं, कथं तद्विरुद्धां कर्तव्यतां पुनरुत्पादयेच्छीततामिवाग्नौ तम इव च भानौ।

न बोधयत्येवेति चेत्। न। 'स मे आत्मेति विद्यात्'(ऐ. आ. ३-२-४) 'प्रज्ञानं ब्रह्म' इति चोपसंहारात्। 'तदात्मानमेवावेत्' (बृ. १-४-१०) 'तत्त्वमसि' (छा. ६-८-७) इत्येवमादिवाक्यानां तत्परत्वात्। उत्पन्नस्य च ब्रह्मात्मविज्ञानस्याबाध्यमानत्वान्नानुत्पन्नं भ्रान्तं वेति शक्यं वक्तुम्।

त्यागेऽपि प्रयोजनाभावस्य तुल्यत्वमिति चेत् "नाकृतेनेह कश्चन" (गी. ३-२८) इतिस्मृतेः। ये आहुर्विदित्वा ब्रह्म व्युत्थानमेव कुर्यादिति। तेषामप्येष समानो दोषः प्रयोजनाभाव इति चेत्। न। अक्रियामात्रत्वाद्व्युत्थानस्य। अविद्यानिमित्तो हि प्रयोजनस्य भावो न वस्तुधर्मः। सर्वप्राणिनां तद्दर्शनात्। प्रयोजनतृष्णया च प्रेर्यमाणस्य वाङ्मनःकायैः प्रवृत्तिदर्शनात्। "सोऽकामयत जाया मे स्यात्" (बृ. १-४-२७) इत्यादिना पुत्रवित्तादि पाङ्क्तलक्षणं काम्यमेवेति "उभे ह्येते साध्यसाधनलक्षणे एषणे एव" इति वाजसनेयिब्राह्मणेऽवधारणात्।

अविद्याकामदोषनिमित्ताया वाङ्मनःकायप्रवृत्तेः पाङ्क्तलक्षणाया विदुषोऽविद्यादिदोषाभावादनुपपत्तेः क्रियाऽभावमात्रं व्युत्थानं न तु यागादिवदनुष्ठेयरूपं भावात्कर्मं, तच्च विद्यावत्पुरुषधर्म इति न प्रयोजनमन्वेष्टव्यम्। न हि तमसि प्रविष्टस्योदित आलोके यद्गर्तपङ्ककण्टकाद्यपतनं तत्किंप्रयोजनमिति प्रश्नार्हम्। व्युत्थानं तर्ह्यर्थप्राप्तत्वान्न चोदनार्हमिति। गार्हस्थ्ये चेत्परब्रह्मविज्ञानं जातं तत्रैवास्त्वकुर्वत आसनं न ततोऽन्यत्र गमनमिति चेत्। न। कामप्रयुक्तत्वाद्गार्हस्थ्यस्य। 'एतावान्वै कामः (बृ. २-४-२७) इति। 'उभे ह्येते एषणे एव' (बृ. ३-५-१) इत्यवधारणात्। कामनिमित्तपुत्रवित्तादिसंबन्धनियमाभावमात्रमेव न हि ततोऽन्यत्र गमनं व्युत्थानमुच्यते। अतो न गार्हस्थ्य एवाकुर्वत आसनमुत्पन्नविद्यस्य। एतेन गुरुशुश्रूषातपसोरप्यप्रतिपत्तिर्विदुषः सिद्धा।

अत्र केचिद्गृहस्था भिक्षाटनादिभयात्परिभवाच्च त्रस्यमानाः सूक्ष्मदृष्टितां दर्शयन्त उत्तरमाहुः। 'भिक्षोरपि भिक्षाटनादिनियमदर्शनाद्देहधारणमात्रार्थिनो, गृहस्थस्यापि साध्यसाधनैषणोभयविनिर्मुक्तस्य देहमात्रधारणार्थमशनाच्छादनमात्रमुपजीवतो गृहे एवास्त्वासनमिति।' न, स्वगृहविशेषपरिग्रहनियमस्य कामप्रयुक्तत्वादित्युक्तोत्तरमेतत्। स्वगृहविशेषपरिग्रहाभावे च शरीरधारणमात्रप्रयुक्ताशनाच्छादनार्थिनः स्वपरिग्रहविशेषाभावेऽर्थाद्भिक्षुकत्वमेव। शरीरधारणार्थायां भिक्षाटनादिषु प्रवृत्तौ यथा नियमो भिक्षोः शौचादौ च तथा गृहिणोऽपि विदुषोऽकामिनोऽस्तु नित्यकर्मसु नियमेन प्रवृत्तियावज्जीवादिश्रुतिनियुक्तत्वात्प्रत्यवायपरिहारायेति। एतन्नियोगाविषयत्वेन विदुषः प्रयु(त्यु)क्तमशक्यनियोगत्वाच्चेति।

यावज्जीवादिनित्यचोदनानर्थक्यमिति चेत्। न। अविद्वद्विषयत्वेनार्थवत्त्वात्। यत्तु भिक्षोः शरीरधारणमात्रप्रवृत्तस्य प्रवृत्तेर्नियतत्वं, तत्प्रवृत्तेर्न प्रयोजकम्। आचमनप्रवृत्तस्य पिपासापगमवन्नान्यप्रयोजनार्थत्वमवगम्यते। न चाग्निहोत्रादीनां तद्वदर्थप्राप्तप्रवृत्तिनियतत्वोपपत्तिः।

अर्थप्राप्तप्रवृत्तिनियमोऽपि प्रयोजनाभावेऽनुपपन्न एवेति चेत्। न। तन्नियमस्य पूर्वप्रवृत्तिसिद्धत्वात्तदतिक्रमे यत्नगौरवादर्थप्राप्तस्य व्युत्थानस्य पुनर्वचनाद्विदुषः कर्तव्यत्वोपपत्तिः।

अविदुषाऽपि मुमुक्षुणा पारिव्राज्यं कर्तव्यमेव। तथा च "शान्तो दान्तः" (बृ. ४-४-२३) इत्यादिवचनं प्रमाणम्। शमदमादीनां चाऽऽत्मदर्शनसाधनानामन्याश्रमेष्वनुपपत्तेः। "अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रं प्रोवाच सम्यगृषिसंघजुष्टम्" (श्वे. ६-२१) इति च श्वेताश्वतरे विज्ञायते। "न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः" (कै. ३) इति च कैवल्यश्रुतिः। "ज्ञात्वा नैष्कर्म्यमाचरेत्" इति च स्मृतेः। "ब्रह्माश्रमपदे वसेत्" इति च। ब्रह्मचर्यादिविद्यासाधनानां च साकल्येनान्त्याश्रमिषूपपत्तेर्गार्हस्थ्येऽसंभवात्।

न चासंपन्नं साधनं कस्यचिदर्थस्य साधनायालम्। यद्विज्ञानोपयोगीनि च गार्हस्थ्याश्रमकर्माणि तेषां परं फलमुपसंहृतं देवताप्ययलक्षणं संसारविषयमेव।

यदि कर्मिण एव परमात्मविज्ञानमभविष्यत्संसारविषयस्यैव फलस्योपसंहारो नोपापत्स्यत। अङ्गफलं तदिति चेन्न। तद्विरोध्यात्मवस्तुविषत्वादात्मविद्यायाः।

निराकृतसर्वनामरूपकर्मपरमार्थात्मवस्तुविषयं ज्ञानममृतत्वसाधनम्। गुणफलसंबन्धे हि निराकृतसर्वविशेषात्मवस्तुविषयत्वं विज्ञानस्य न प्राप्नोति तच्चानिष्टम्। "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्" (बृ. ४-५-१५) इत्यधिकृत्य क्रियाकारकफलादिसर्वव्यवहार-निराकरणाद्विदुषः। तद्विपरीतस्याविदुषो "यत्र हि द्वैतमिव" (बृ. ४-५-१५) इत्युक्त्वा क्रियाकारकफलरूपस्यैव संसारस्य दर्शितत्वाच्च वाजसनेयिब्राह्मणे। तथेहापि देवताप्ययसंसारविषयं यत्फलमशनायादिमद्वस्त्वात्मकं तत्फलमुपसंहृत्य केवलसर्वात्म-कवस्तुविषयं ज्ञानममृतत्वाय वक्ष्यामीति प्रवर्तते।

ऋणप्रतिबन्धश्चाविदुष एव मनुष्यपितृदेवलोकप्राप्तिं प्रति, न विदुषः। "सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव" (बृ. १-५-१६) इत्यादिलोकत्रयसाधननियमश्रुतेः। विदुषश्चर्णप्रतिबन्धाभावो दर्शित आत्मलोकार्थिनः "किं प्रजया करिष्यामः" (बृ. ४-४-२२) इत्यादिना। तथा "एतद्ध स्म वै तद्विद्वांस आहुरृषयः कावषेयाः" इत्यादि। "एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे विद्वांसोऽग्निहोत्रं न जुहवांचक्रुः" (कौ. २-५) इति च कौषीतकिनाम्। छा. 6-4-5

कावषेय ऋषि बोले मैं कैसे अध्ययन करूं, कैसे होम करूं ॥

अविदुषस्तर्ह्यृणानपाकरणे पारिव्राज्यानुपपत्तिरिति चेत्। न। प्राग्गार्हस्थ्य-प्रतिपत्तेरृणित्वासंभवादधिकारानारूढोऽप्यृणी चेत्स्यात्सर्वस्यर्णित्वमित्यनिष्टं प्रसज्येत। प्रतिपन्नगार्हस्थ्यस्यापि "गृहाद्वनी भूत्वा प्रव्रजेद्यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्गृहाद्वा वनाद्वा" इत्यात्मदर्शनोपायसाधनत्वेनेष्यत एव पारिव्राज्यम्। यावज्जीवादिश्रुतीनामविद्वदमुमु-क्षुविषये कृतार्थता। छान्दोग्ये च केषांचिद्द्वादशरात्रमग्निहोत्रं हुत्वा तत ऊर्ध्वं परित्यागः श्रूयते।

यत्त्वनधिकृतानां पारिव्राज्यमिति। तन्न। तेषां पृथगेव "उत्सन्नाग्निरनग्निको वा" (जा. ४) इत्यादिश्रवणात्सर्वस्मृतिषु चाविशेषेणाऽऽश्रमविकल्पः प्रसिद्धः समुच्चयश्च।

यत्तु विदुषोऽर्थप्राप्तं व्युत्थानमित्यशास्त्रार्थत्वे गृहे वने वा तिष्ठतो न विशेष इति तदसत्। व्युत्थानस्यैवार्थप्राप्तत्वान्नान्यत्रावस्थानं स्यात्। अन्यत्रावस्थानस्य कामकर्मप्रयुक्तत्वं ह्यवोचाम। तदभावमात्रं व्युत्थानमिति च।

(P.C.N.M)

यथाकामित्वं तु विदुषोऽत्यन्तमप्राप्तमत्यन्तमूढविषयत्वेनावगमात्। तथा शास्त्रचोदितमपि कर्माऽऽत्मविदोऽप्राप्तुं(प्तं) गुरुभारतयाऽवगम्यते, किमुतात्यन्ताविवेक-निमित्तं यथाकामित्वम्। न ह्युन्मादतिमिरदृष्ट्युपलब्धं वस्तु तदपगमेऽपि तथैव स्यादुन्माद-

## हरिः ॐ

**वाङ्मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठित-**
**माविरावीर्म एधि वेदस्य म आणी स्थः श्रुतं मे मा**
**प्रहासीरनेनाधीतेनाहोरात्रान्त्संदधाम्यृतं वदिष्यामि**

मेरी वाणी में मन प्रतिष्ठित हो और मन में वाणी प्रतिष्ठित हो (अर्थात् मन से जैसा निश्चय किया हो, वाणी वैसे ही बोले और जैसे वाणी बोले मनसे वैसे ही चिन्तन हो, दोनों परस्पर अनुकूल रहें)। हे परमात्मन्! तुम मेरे सामने प्रकट हो जाओ, हे वाक् और मन! मेरे प्रति वेद को लावो, मेरा श्रवण किया हुआ मुझे न त्यागे, अधीत शास्त्रों के द्वारा मैं दिन रात को एक करदूँ – अर्थात् दिन रात अध्ययन चलता रहे। मैं वाचिक सत्य का भाषण करूँ और मानसिक सत्य को ही बोलूँ। यह ब्रह्म मेरी रक्षा करे, वक्ता की रक्षा करे, वह मेरी रक्षा करे और वक्ता की रक्षा करे, वक्ता की रक्षा करे। त्रिविध ताप की शान्ति हो।

---

तिमिरदृष्टिनिमित्तत्वादेव तस्य। तस्मादात्मविदो व्युत्थानव्यतिरेकेण न यथाकामित्वं न चान्यत्कर्तव्यमित्येतत्सिद्धम्।

यत्तु – "विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳ सह" (ई. ११) इति, न तत्र विद्यावतो विद्यया सहाविद्याऽपि वर्तत इत्ययमर्थः। कस्तर्ह्येकस्मिन्पुरुष एकदैव न सह संबध्येयाता-मित्यर्थः। यथा शुक्तिकायां रजतशुक्तिकाज्ञाने एकस्य पुरुषस्य। "दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्या इति ज्ञाता" (का. १-२-४) इति हि काठके। तस्मान्न विद्यायां सत्यामविद्यासंभवोऽस्ति। "तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व" (तै. ३-२) इत्यादिश्रुतेः, तपआदिविद्योत्पत्तिसाधनं गुरूपासनादि च कर्माविद्यात्मकत्वादविद्योच्यते। तेन विद्यामुत्पाद्य मृत्युं काममतितरति। ततोनिष्कामस्त्यक्तैषणो ब्रह्मविद्ययाऽमृतत्वमश्नुते इत्येतमर्थं दर्शयन्नाह – "अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते" (ई. ११) इति। यत्तु पुरुषायुः सर्वं कर्मणैव व्याप्तं "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः" (ई. २) इत्यविद्वद्विषयत्वेन परिहृतमितरथाऽसंभवात्। यत्तु वक्ष्यमाणमपि पूर्वोक्तं तुल्यत्वा-त्कर्मणाऽविरुद्धमात्मज्ञानमिति, तत्सविशेषनिर्विशेषात्मतया प्रत्युक्त मुत्तरत्र व्याख्याने च दर्शयिष्यामः। अतः केवलनिष्क्रियब्रह्मात्मैकत्वविद्याप्रदर्शनार्थमुत्तरो ग्रन्थ आरभ्यते।

आत्मेति। आत्माऽऽप्नोतेरत्तेरततेर्वा परः सर्वज्ञः सर्वशक्तिरशनायादिसर्व-

सत्यं वदिष्यामि तन्मामवतु तद्वक्तारमवत्ववतु
मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम्।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।।

ॐ आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्।
नान्यत्किंचन मिषत्। स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति।।१।।

संसार की सृष्टि से पूर्व यह नाम-रूपात्मक जगत् एकमात्र आत्मा ही था। उससे भिन्न कोई क्रियाशील वस्तु नहीं थी, उसने चिन्तन किया कि मैं लोकों की रचना करूँ।।१।।

---

संसारधर्मवर्जितो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावोऽजोऽजरोऽमरोऽमृतोऽद्वयो वा इदं यदुक्तं नामरूपकर्मभेदभिन्नं जगदात्मैवैकोऽग्रे जगतः सृष्टेः प्रागासीत्। किं नेदानीं स एवैकः। न। कथं तर्ह्यासीदित्युच्यते? यद्यपीदानीं स एवैकस्तथाऽप्यस्ति विशेषः। प्रागुत्पत्तेरव्याकृतनामरूपभेदमात्म (भेदात्म) भूतमात्मैकशब्दप्रत्ययगोचरं, जगदिदानीं व्याकृतनामरूपभेदत्वादनेकशब्दप्रत्ययगोचरमात्मैकशब्दप्रत्ययगोचरं चेति विशेषः।

यथा सलिलात्पृथक्फेननामरूपव्याकरणात्प्राक्सलिलैकशब्दप्रत्ययगोचरमेव फेनं यदा सलिलात्पृथङ्नामरूपभेदेन व्याकृतं भवति तदा सलिलं फेनं चेत्यनेकशब्दप्रत्यय-भाक्सलिलमेवेति चैकशब्दप्रत्ययभाक्च फेनं भवति तद्वत्।

नान्यत्किंचन न किंचिदपि मिषन्निमिषद्व्यापारवदितरद्वा। यथा सांख्यानामनात्म-पक्षपाति स्वतन्त्रं प्रधानम्। यथा च काणादानामणवो न तद्वदिहान्यदात्मनः किंचिदपि वस्तु विद्यते। किं तर्ह्यात्मैवैक आसीदित्यभिप्रायः।

स सर्वज्ञस्वाभाव्यादात्मैकः एव सन्नीक्षत लोकान्नु सृजा इति। ननु प्रागुत्पत्तेर-कार्यकरणत्वात्कथमीक्षितवान्। नायं दोषः। सर्वज्ञस्वाभाव्यात्। तथा च मन्त्रवर्णः:- "अपाणिपादो जवनो ग्रहीता" (श्वे. ३-१९) इत्यादिः। केनाभिप्रायेणेत्याह लोकानम्भः:-प्रभृतीन्प्राणिकर्मफलोपभोगस्थानभूतान्नु सृजै सृजेऽहमिति।।१।।

**स इमाल्ँलोकानसृजत। अम्भो मरीचीर्मरमापोऽदोऽम्भः परेण दिवं द्यौः प्रतिष्ठाऽन्तरिक्षं मरीचयः पृथिवी मरो या अधस्तात्ता आपः।।२।।**

उस आत्मा ने अम्भ (शब्द से कहे जाने वाले लोक) मरीचि, मर और आप इन लोकों की सृष्टि की, जो द्युलोक से परे है और स्वर्ग जिसका आश्रय है, वह अम्भ है। द्युलोक से नीचे भुवर्लोक मरीचि, पृथिवी मरलोक है (क्योंकि उसमें प्राणी मरते है) और जो पृथिवी के नीचे वह आप है (क्योंकि वह नीचे के लोक में रहने वाले प्राणियों से प्राप्त किया जाता है)।।२।।

---

एवमीक्षित्वाऽऽलोच्य स आत्मेमाल्ँलोकानसृजत सृष्टवान्। यथेह बुद्धिमांस्तक्षादिरेवंप्रकारान्प्रासादादीन्सृज इतीक्षित्वाऽनन्तरं प्रासादादीन्सृजति, तद्वत्।

ननु सोपादानस्तक्षादिः प्रासादादीन्सृजतीति युक्तं निरुपादानस्त्वात्मा कथं लोकान्सृजतीति। नैष दोषः। सलिलफेनस्थानीये आत्मभूते अव्याकृते आत्मैकशब्दवाच्ये व्याकृतफेनस्थानीयस्य जगत उपादानभूते संभवतः। तस्मादात्मभूतनामरूपोपादानः सन्सर्वज्ञो जगन्निर्मिमीते इत्यविरुद्धम्।

अथवा यथा विज्ञानवान्मायावी निरुपादान आत्मानमेवाऽऽत्मान्तरत्वेनाऽऽकाशेन गच्छन्तमिव निर्मिमीते तथा सर्वज्ञो देवः सर्वशक्तिर्महामाय आत्मानमेवाऽऽत्मान्तरत्वेन जगद्रूपेण निर्मिमीत इति युक्ततरम्। एवं च सति कार्यकारणोभयासद्वाद्यादिपक्षाश्च न प्रसज्जन्ते सुनिराकृताश्च भवन्ति।

काँल्लोकानसृजतेत्याह —

अम्भो मरीचीर्मरमाप इति। आकाशादिक्रमेणाण्डमुत्पाद्याम्भःप्रभृतील्ँलोकानसृजत। तत्राम्भःप्रभृतीन्स्वयमेव व्याचष्टेश्रुतिः। अदस्तदम्भःशब्दवाच्यो लोकः परेण दिवं द्युलोकात्परेण परस्तात्सोऽम्भःशब्दवाच्योऽम्भो भरणात्। द्यौः प्रतिष्ठाऽऽश्रयस्तस्याम्भसो लोकस्य। द्युलोकादधस्तादन्तरिक्षं यत्तन्मरीचयः। एकोऽप्यनेकस्थानभेदत्वाद्बहुवचनभाङ्मरीचय इति। मरीचिभिर्वा रश्मिभिः संबन्धात्। पृथिवी मरो म्रियन्तेऽस्मिन्भूतानीति या अधस्तात्पृथिव्यास्ता आप उच्यन्त आप्नोतेर्लोकाः। यद्यपि पञ्चभूतात्मकत्वं लोकानां तथाऽप्यब्बाहुल्यादब्नामभिरेवाम्भो मरीचीर्मरमाप इत्युच्यन्ते।।२।।

स ईक्षतेमे नु लोका लोकपालान्नु सृजा इति।

सोऽद्भ्य एव पुरुषं समुद्धृत्यामूर्छयत्।।३।।

तमभ्यतपत्तस्याभितप्तस्य मुखं निरभिद्यत यथाऽण्डम्।

मुखाद्वाग्वाचोऽग्निर्नासिके निरभिद्येतां नासिकाभ्यां

प्राणः, प्राणाद्वायुरक्षिणी निरभिद्येतामक्षीभ्यां

चक्षुश्चक्षुष आदित्यः, कर्णौ निरभिद्येतां, कर्णाभ्यां

श्रोत्रं, श्रोत्राद्दिशस्त्वङ्निरभिद्यत, त्वचो लोमानि,

उसने फिर विचार किया कि ये लोक तो बन गये (किन्तु रक्षक के विना ये नष्ट हो जायेंगे अतः इन) लोकों की रक्षा के लिए अब मैं लोकपालों की रचना करूँ, ऐसा विचार कर उसने जल (प्रधान पंचभूतों) से ही एक पुरुष निकालकर अवयवयुक्त किया।।३।।

उस पुरुषाकार पिण्ड को लक्ष्य में रखकर ईश्वर ने संकल्परूप तप किया। ईश्वर के संकल्परूप तप से तपे हुए पिण्ड से अण्डे के समान मुख प्रकट हुआ, मुख से वाणी और वाणी से (उसका अभिमानी) अग्निदेव उत्पन्न हुआ, नासिका छिद्रों से प्राण प्रकट हुआ और प्राण से उसका अभिमानी वायु उत्पन्न हुआ, नेत्रगोलक प्रकट हुए, नेत्रों से चक्षुरिन्द्रिय और चक्षु से आदित्य उत्पन्न हुआ। श्रोत्रगोलक उत्पन्न हुए, श्रोत्रगोलक से श्रोत्रेन्द्रिय और श्रोत्र से दिशाएँ उत्पन्न हुई। त्वक्गोलक उत्पन्न हुआ, त्वचा से लोम और लोमों से

---

सर्वप्राणिकर्मफलोपादानाधिष्ठानभूतांश्चतुरो लोकान्सृष्ट्वा-स ईश्वरः पुनरेवेक्षत। इमे न्वम्भःप्रभृतयो मया सृष्टा लोकाः परिपालयितृवर्जिता विनश्येयुः। तस्मादेषां रक्षणार्थं लोकपालाँल्लोकानां पालयितॄन्नु सृजै सृजेऽहमिति।

एवमीक्षित्वा—

सोऽद्भ्य एवाप्प्रधानेभ्य एव पञ्चभूतेभ्यो येभ्योऽम्भःप्रभृतीन्सृष्टवांस्तेभ्य एवेत्यर्थः। पुरुषं पुरुषाकारं शिरःपाण्यादिमन्तं समुद्धृत्याद्भ्यः समुपादाय मृत्पिण्डमिव कुलालः पृथिव्या अमूर्छयन्मूर्छितवान्संपिण्डितवान्स्वावयवसंयोजनेनेत्यर्थः।।३।।

तं पिण्डं पुरुषविधमुद्दिश्याभ्यतपत्। अभितपनमभिध्यानं संकल्पं कृतवानित्यर्थः। "यस्य ज्ञानमयं तपः" (मु. १-१-९) इत्यादिश्रुतेः। तस्याभितप्तस्येश्वरसंकल्पेन तपसाऽभितप्तस्य पिण्डस्य मुखं निरभिद्यत मुखाकारं सुषिरमजायत। यथा पक्षिणोऽण्डं निरभिद्यतैवम्।

**लोमभ्य ओषधिवनस्पतयो, हृदयं निरभिद्यत, हृद-यान्मनो, मनसश्चन्द्रमा, नाभिर्निरभिद्यत. नाभ्या अपानोऽपानान्मृत्युः, शिश्नं निरभिद्यत, शिश्नाद्रेतो रेतस आपः।।४।।**

**इत्यैतरेयोपनिषद्यात्मषट्के प्रथमः खण्डः।।१।।**

**उपनिषत्क्रमेण प्रथमाध्याये प्रथमः खण्डः।।१।।**

औषधि तथा वनस्पतियाँ उत्पन्न हुई हृदयगोलक उत्पन्न हुआ, हृदय से मन और मन से तदभिमानी चन्द्रमा उत्पन्न हुआ। नाभि उत्पन्न हुई। नाभि से अपान और अपान से मृत्यु प्रकट हुई। (तदनन्तर) शिश्न, शिश्न से शुक्र और शुक्र से उसका अधिष्ठातृदेव जल प्रादुर्भूत हुआ।।४।।

।।इति प्रथमः खण्डः।।

---

तस्मान्निर्भिन्नान्मुखाद्वाक्करणमिन्द्रियं निरवर्तत तदधिष्ठाताऽग्निस्ततो वाचो लोकपालः। तथा नासिके निरभिद्येताम्। नासिकाभ्यां प्राणः प्राणाद्वायुरिति सर्वत्राधिष्ठानं करणं देवता च त्रयं क्रमेण निर्भिन्नमिति। अक्षिणी कर्णौ त्वग्घृदयमन्तः-करणाधिष्ठानं मनोऽन्तःकरणं नाभिः सर्वप्राणबन्धनस्थानम्। तस्मादपानसंयुक्तत्वादपान इति पाय्विन्द्रियमुच्यते। तस्याधिष्ठात्री देवता मृत्युः। यथाऽन्यत्र तथा शिश्नं निरभिद्यत प्रजननेन्द्रियस्थानमिन्द्रियं रेतो रेतोविसर्गार्थत्वात्सह रेतसोच्यते रेतस आप इति।।४।।

*इति श्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवत्कृतावैत-रेयोपनिषद्भाष्ये प्रथमाध्याये प्रथमः खण्डः।।१।।*

(अथ द्वितीयः खण्डः)

ता एता देवताः सृष्टा अस्मिन्महत्यर्णवे प्रापतन्। तमशनायापिपासाभ्यामन्ववार्जत्। ता एनमब्रुवन्नायतनं नः प्रजानीहि यस्मिन्प्रतिष्ठिता अन्नमदामेति।।१।।

(इस प्रकार ईश्वर द्वारा लोकपालरूप से) रचे गये वे ये इन्द्रियाभिमानी देवगण (अविद्या, काम और कर्म, जल से परिपूर्ण संसाररूप) महासमुद्र में गिर गये। उस पिण्ड को परमेश्वर ने क्षुधा पिपासा से अभिभूत कर दिया, तब उन इन्द्रियाभिमानी देवताओं ने परमेश्वर से कहा कि हमारे लिए कोई स्थान बतलाओ जिसमें बैठकर हम अपने भोज्य वस्तु अन्न का भक्षण कर सकें।।१।।

---

ता एता अग्न्यादयो देवता लोकपालत्वेन संकल्प्य सृष्टा ईश्वरेणास्मिन्संसारार्णवे संसारसमुद्रे महत्यविद्याकामकर्मप्रभवदुःखोदके तीव्ररोगजरामृत्युमहाग्राहेऽनादावनन्तेऽपारे निरालम्बे विषयेन्द्रियजनितसुखलवलक्षणविश्रामे पञ्चेन्द्रियार्थतृणमारुतविक्षोभोत्थितानर्थशतमहोर्मौ महारौरवाद्यनेकनिरयगतहाहेत्यादिकूजिताक्रोशनोद्भूतमहारवे सत्यार्जवदानदयाऽहिंसाशमदमधृत्याद्यात्मगुणपाथेयपूर्णज्ञानोडुपे सत्सङ्गसर्वत्यागमार्गे मोक्षतीर एतस्मिन्महत्यर्णवे प्रापतन्पतितवत्यः।

तस्मादग्न्यादिदेवताप्ययलक्षणाऽपि या गतिर्व्याख्याता ज्ञानकर्मसमुच्चयानुष्ठानफलभूता,साऽपि नालं संसारदुःखोपशमायेत्ययं विवक्षितोऽर्थोऽत्र यत एवं तस्मादेवं विदित्वा परं ब्रह्माऽऽत्माऽऽत्मनः सर्वभूतानां च यो वक्ष्यमाणविशेषणः प्रकृतश्च जगदुत्पत्तिस्थितिसंहारहेतुत्वेन सर्वसंसारदुःखोपशमनाय वेदितव्यः। तस्मात् "एष पन्था एतत्कर्मैतद्ब्रह्मैतत्सत्यम्" यदेतत्परब्रह्मात्मज्ञानम्। "नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" (श्वे. ३-८) इति मन्त्रवर्णात्।

तं स्थानकरणदेवतोत्पत्तिबीजभूतं पुरुषं प्रथमोत्पादितं पिण्डमात्मानमाशनायापिपासाभ्यामन्ववार्जदनुगमितवान्संयोजितवानित्यर्थः। तस्य कारणभूतस्याशनायादिदोषवत्त्वात्तत्कार्यभूतानामपि देवतानामशनायादिमत्त्वम्।

तास्ततोऽशनायापिपासाभ्यां पीड्यमाना एनं पितामहं स्त्रष्टारमब्रुवन्नुक्तवत्यः। आयतनमधिष्ठानं नोऽस्मभ्यं प्रजानीहि विधत्स्व। यस्मिन्नायतने प्रतिष्ठिताः समर्थाः सत्योऽन्नमदाम भक्षयाम इति।।१।।

**ताभ्यो गामानयत्ता अब्रुवन्न वै नोऽयमलमिति।**
**ताभ्योऽश्वमानयत्ता अब्रुवन्न वै नोऽयमलमिति।।२।।**

**ताभ्यः पुरुषमानयत्ता अब्रुवन्सुकृतं बतेति पुरुषो वाव।**
**सुकृतं ता अब्रवीद्यथायतनं प्रविशतेति।।३।।**

**अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशद्वायुः प्राणो भूत्वा नासिके**
**प्राविशदादित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशद्दिशः श्रोत्रं**

उन देवताओं के लिए गौ के आकार वाला पिण्ड जल से निकाल कर ले आया। देवताओं ने कहा यह हमारे लिए पर्याप्त नहीं है फिर उन देवों के लिए पूर्ववत् घोड़ा लाया, फिर भी देवताओं ने कहा कि यह हामरे लिए (अन्नभक्षण के निमित्त आश्रय) पर्याप्त नहीं है।।२।।

उनके लिए अपनी उपलब्धि के योग्य पुरुष शरीर ले आया (देखते ही प्रसन्न हो) देवताओं ने कहा — यह शरीर सुन्दर बना है, निश्चय पुरुष ही सुन्दर रचना है। उन देवताओं से परमेश्वर ने कहा कि अपने-अपने आश्रयस्थानों में तुम प्रवेश कर जाओ।।३।।

(वागिन्द्रिय के अभिमानी देव) अग्नि ने वाणी होकर मुख में प्रवेश किया, वायु ने प्राण होकर नासिकाछिद्र में प्रवेश किया, सूर्य चक्षु होकर नेत्रों में प्रविष्ट हुआ, दिशाएँ श्रोत्रेन्द्रिय होकर कानों में प्रविष्ट हुईं औषधि और वनस्पतियाँ लोम होकर त्वचा

---

एवमुक्त ईश्वरस्ताभ्यो देवताभ्यो गां गवाकृतिविशिष्टं पिण्डं ताभ्य एवाद्भ्यः पूर्ववत्पिण्डं समुद्धृत्य मूर्छयित्वाऽऽनयद्दर्शितवान्। ताः पुनर्गवाकृतिं दृष्ट्वाऽब्रुवन्। न वै नोऽस्मदर्थमधिष्ठायान्नमत्तुमयं पिण्डोऽलं, न वै। अलं पर्याप्तोऽत्तुं न योग्य इत्यर्थः।

गवि प्रत्याख्याते ताभ्योऽश्वमानयत्ता अब्रुवन्न वै नोऽयमलमिति पूर्ववत्।।२।।

सर्वप्रत्याख्याने ताभ्यः पुरुषमानयत्स्वयोनिभूतम्। ताः स्वयोनिपुरुषं दृष्ट्वाऽखिन्नाः सत्यः सुकृतं शोभनं कृतमिदमधिष्ठानं बतेत्यब्रुवन् तस्मात्पुरुषो वाव पुरुष एव सुकृतं सर्वपुण्यकर्महेतुत्वात्। स्वयं वा स्वेनैवाऽऽत्मना स्वमायाभिः कृतत्वात्सुकृतमुच्यते। ता देवता ईश्वरोऽब्रवीदिष्टमासामिदमधिष्ठानमिति मत्वा सर्वे हि स्वयोनिषु रमन्ते। अतो यथायतनं यस्य यद्वदनादिक्रियायोग्यमायतनं तत्प्रविशतेति।।३।।

तथाऽस्त्वित्यनुज्ञां प्रतिलभ्येश्वरस्य नगर्यामिव बलाधिकृतादयोऽग्निर्वागभिमानी वागेव भूत्वा स्वां योनिं मुखं प्राविशत्तथोक्तार्थमन्यत्। वायुर्नासिके आदित्योऽक्षिणी

भूत्वा कर्णौ प्राविशन्नोषधिवनस्पतयो लोमानि
भूत्वा त्वचं प्राविशंश्चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं
प्राविशन्मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशदापो रेतो
भूत्वा शिश्नं प्राविशन्।।४।।

तमशनायापिपासे अब्रूतामावाभ्यामभिप्रजानीहीति
ते अब्रवीदेतास्वेव वां देवतास्वाभजाम्येतासु भागिन्यौ
करोमीति। तस्माद्यस्यै कस्यै च देवतायै हविर्गृह्यते
भागिन्यावेवास्यामशनायापिपासे भवतः।।५।।

इत्यैतरेयोपनिषद्यात्मषट्के द्वितीयः खण्डः।।२।।

उपनिषत्क्रमेण प्रथमाध्याये द्वितीयः खण्डः।।२।।

में प्रविष्ट हुईं, चन्द्रमा मन होकर हृदय में प्रविष्ट हुआ, मृत्यु अपान होकर नाभि में प्रविष्ट हुई और जल वीर्य होकर शिश्न इन्द्रिय में प्रविष्ट हुआ।।४।।

उस ईश्वर से क्षुधा पिपासा ने (आश्रयहीन होने के कारण) कहा — हमारे लिए आश्रय का चिन्तन करो। तब परमेश्वर ने उससे कहा — तुम दोनों को मैं इन्हीं देवताओं में भागीदार बना दूँगा अतः जिस किसी देवता के लिए हवि दी जाती है उस देवता की हवि में भूख-प्यास भी भागीदार होती ही हैं (सृष्टि के आदि में ईश्वर द्वारा की गयी व्यवस्था आज भी सर्वत्र दीख पड़ती है)।।५।।

।।इति द्वितीयः खण्डः।।

---

दिशः कर्णावोषधिवनस्पतयस्त्वचं चन्द्रमा हृदयं मृत्युर्नाभिमापः शिश्नं प्राविशन्।।४।।

एवं लब्धाधिष्ठानासु देवतासु निरधिष्ठाने सत्यावशनायापिपासे तमीश्वरमब्रूतामुक्तवत्यावावाभ्यामधिष्ठानमभिप्रजानीहि चिन्तय विधत्स्वेत्यर्थः। स ईश्वर एवमुक्तस्ते अशनायापिपासे अब्रवीत्। न हि युवयोर्भावरूपत्वाच्चेतनावद्वस्त्वनाश्रित्यान्नात्तृत्वं संभवति। तस्मादेतास्वेवाग्न्याद्यासु वां युवां देवतास्वध्यात्माधिदेवतास्वाभजामि वृत्तिसंविभागेनानुगृह्णामि। एतासु भागिन्यौ यद्देवत्यो यो भागो हविरादिलक्षणः स्यात्तस्यास्तेनैव भागेन भागिन्यौ भागवत्यौ वां करोमीति सृष्ट्यादावीश्वर एवं व्यदधाद्यस्मात्तस्मादिदानीमपि यस्यै कस्यै च देवताया अर्थाय हविर्गृह्यते चरुपुरोडाशादिलक्षणं भागिन्यावेव भागवत्यावेवास्यां देवतायामशनायापिपासे भवतः।।५।।

*इति श्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवत्कृतावैतरेयोपनिषद्भाष्ये प्रथमाध्याये द्वितीयः खण्डः।।२।।*

अन्न सृष्टि का संकल्प

।। अथ तृतीयः खण्डः।।

स ईक्षतेमे नु लोकाश्च लोकपालाश्चान्नमेभ्यः सृजा इति।।१।।

अन्न की सृष्टि

सोऽपोऽभ्यतपत्ताभ्योऽभितप्ताभ्यो मूर्तिरजायत या वै सा मूर्तिरजायतान्नं वै तत्।।२।।

भागते हुए अन्न को ग्रहण का प्रयत्न

तदेनत्सृष्टं पराङ्त्यजिघांसत्तद्वाचाऽजिघृक्षत्तन्नाशक्नोद्वाचा ग्रहीतुं स यद्धैनद्वाचाऽग्रहैष्यदभिव्याहृत्य हैवान्नमत्रप्स्यत्।।३।।

अति अजिघांसद् अति गन्तुमैच्छत्।

उस ईश्वर ने ईक्षण किया कि इन लोक और लोकपालों की (रचना तो मैंने की) अब मैं इन लोकपालों के लिये अन्न की रचना करूँ।।१।।

(अन्न की सुष्टि की इच्छा से) उस ईश्वर ने पूर्वोक्त जलों को लक्ष्य करके तप किया। उन अभितप्त जलों से ही (चराचर घनीभूत एक) मूर्ति उत्पन्न हुई यह जो मूर्ति उत्पन्न हुई, वह अन्न ही है।।२।।

(लोकपालों के निमित्त) निर्मित उस इस अन्न ने (अन्न भोक्ता को अपना मृत्यु समझकर) उनकी ओर से मुख मोड़कर भागना चाहा। तब उस आदि पुरुष ने अन्न को वाणी से ग्रहण करना चाहा, किन्तु वह उसे वदनक्रिया से ग्रहण करने में समर्थ न हो सका। यदि उस अन्न को (आदिपुरुष) वाणी से ग्रहण कर लेता तो उसके कार्यभूत (उसके परवर्ती पुरुष भी) अन्न को बोलकर ही तृप्त हो जाया करते।।३।।

---

स एवमीश्वर ईक्षत। कथमिमे नु लोकाश्च लोकपालाश्च मया सृष्टा अशनायापिपासाभ्यां च संयोजिताः। अतो नैषां स्थितिरन्नमन्तरेण, तस्मादन्नमेभ्यो लोकपालेभ्यः सृजै सृज इति। एवं हि लोक ईश्वराणामनुग्रहे निग्रहे च स्वातन्त्र्यं दृष्टं स्वेषु। तद्वन्महेश्वरस्यापि सर्वेश्वरत्वात्सर्वान्प्रति निग्रहानुग्रहे स्वातन्त्र्यमेव।।१।।

स ईश्वरोऽन्नं सिसृक्षुस्ता एव पूर्वोक्ता अप उद्दिश्याभ्यतपत्। ताभ्योऽभितप्ताभ्य उपादानभूताभ्यो मूर्तिर्घनरूपं धारणसमर्थं च चराचरलक्षणमजायतोत्पन्नमन्नं वै तन्मूर्तिरूपं या वै सा मूर्तिरजायत।।२।।

तदेनदन्नं लोकपालानामर्थेऽभिमुखे सृष्टं तद्यथा मूषकादिर्मार्जारादिगोचरे सन्मम

तत्प्राणेनाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोत्प्राणेन ग्रहीतुं स यद्धैन-
त्प्राणेनाग्रहैष्यदभिप्राण्य हैवान्नमत्रप्स्यत्।।४।।

तच्चक्षुषाऽजिघृक्षत्तन्नाशक्नोच्चक्षुषा ग्रहीतुं स यद्धैन-
च्चक्षुषाऽग्रहैष्यद्दृष्ट्वा हैवान्नमत्रप्स्यत्।।५।।

तच्छ्रोत्रेणजिघृक्षत्तन्नाशक्नोच्छ्रोत्रेण ग्रहीतुं स
यद्धैनच्छ्रोत्रेणाग्रहैष्यच्छ्रुत्वा हैवान्नमत्रप्स्यत्।।६।।

फिर उस पुरुष ने अन्न को प्राणनक्रिया से पकड़ना चाहा, किन्तु इसे प्राण से पकड़ न सका। यदि (उस समय) इस अन्न को प्राण से पकड़ लिया होता (तो इस समय भी पुरुष) अन्न के उद्देश्य से प्राणनक्रिया करके ही तृप्त हो जाता।।४।।

उस पुरुष ने इसे नेत्र से ग्रहण करना चाहा, पर नत्रे से ग्रहण करने में वह समर्थ न हुआ। यदि (उस समय) वह अन्न को नेत्र से ग्रहण कर लिया होता तो (इस समय भी पुरुष) अन्न को देखकर ही तृप्त हो जाता।।५।।

पुरुष ने इसे श्रोत्र से पकड़ना चाहा, किन्तु वह श्रोत्र व्यापार से ग्रहण न कर सका। यदि वह इसे श्रोत्र से ग्रहण कर लिया होता तो (इस समय भी पुरुष) अन्न को कानों से सुन कर ही तृप्त हो जाता।।६।।

---

मृत्युरन्नाद इति मत्वा पराग्ञ्चतीति पराङ्सदत्तृनतीत्याजिघांसदतिगन्तुमैच्छत्पलायितुं प्रारभतेत्यर्थः। तदन्नाभिप्रायं मत्वा स लोकपालसंघातः कार्यकारणलक्षणः पिण्डः प्रथमजत्वादन्यांश्चान्नादानपश्यंस्तदन्नं वाचा वदनव्यापारेणाजिघृक्षद्ग्रहीतुमैच्छत्तदन्नं नाशक्नोन्न समर्थोऽभवद्वाचा वदनक्रियया ग्रहीतुमुपादातुम्। स प्रथमजः शरीरी यद्यदि हैनद्वाचाऽग्रहैष्यद्गृहीतवान्स्यात्सर्वोऽपि लोकस्तत्कार्यभूतत्वादन्नमभिव्याहृत्य हैवान्न-मत्रप्स्यत्तृप्तोऽभविष्यत्। न चैतदस्त्यतो नाशक्नोद्वाचा ग्रहीतुमित्यवगच्छामः पूर्वजोऽपि। समानमुत्तरम्।।३।।

तत्प्राणेन तच्चक्षुषा तच्छ्रोत्रेण तत्त्वचा तन्मनसा तच्छिश्नेन तेन तेन करण-व्यापारेणान्नं ग्रहीतुमशक्नुवन्पश्चादपानेन वायुना मुखच्छिद्रेण तदन्नमजिघृक्षत्तदावयत्त-दन्नमेवं जग्राहाशितवान्। तेन स एषोऽपानवायुरन्नस्य ग्रहोऽन्नग्राहक इत्येतत्। यद्वायुर्यो

तत्त्वचाऽजिघृक्षत्तन्नाशक्नोत्त्वचा ग्रहीतुं स यद्धैनत्त्व-
चाऽग्रहैष्यत्स्पृष्ट्वा हैवान्नमत्रप्स्यत्।।७।।

तन्मनसाऽजिघृक्षत्तन्नाशक्नोन्मनसा ग्रहीतुं स यद्धैन-
न्मनसाऽग्रहैष्यद्ध्यात्वा हैवान्नमत्रप्स्यत्।।८।।

तच्छिश्नेनाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोच्छिश्नेन ग्रहीतुं स
यद्धैनच्छिश्नेनाग्रहैष्यद्विसृज्य हैवान्नमत्रप्स्यत्।।९।।

तदपानेनाजिघृक्षत्तदावयत्सैषोन्नस्य ग्रहो यद्वा-
युरन्नायुर्वा एष यद्वायुः ।।१०।।

स ईक्षत कथं न्विदं मदृते स्यादिति स ईक्षत कतरेण
प्रपद्या इति स ईक्षत यदि वाचाऽभिव्याहृतं यदि

पुरुष ने उसे त्वचा से ग्रहण करना चाहा, किन्तु वह त्वचा से इसे ग्रहण न कर सका। यदि वह इसे त्वचा से ग्रहण कर लिया होता तो (इस समय भी पुरुष) अन्न को त्वचा से स्पर्श करके ही तृप्त हो जाता।।७।।

उस पुरुष ने अन्न को मन से ग्रहण करना चाहा किन्तु वह मन से ग्रहण न कर सका। यदि उस समय वह अन्न को मन से ग्रहण कर लेता तो (इस समय भी पुरुष) अन्न का मन से ध्यान करके ही तृप्त हो जाया करता।।८।।

उसने इस अन्न को शिश्न से ग्रहण करना चाहा किन्तु वह शिश्न से ग्रहण न कर सका। यदि वह (इस समय) इस अन्न को शिश्न से ग्रहण कर लिया होता तो (इस समय भी पुरुष) अन्न का विसर्ग करके ही तृप्त हो जाता।।९।।

(इसी प्रकार उसने) इसे अपान से ग्रहण करना चाहा और अन्न को ग्रहण कर भी लिया। वह यह (अपान वायु) ही अन्न ग्रहण करने वाला है। जो वायु अन्न द्वारा जीवनवाला प्रसिद्ध है, वह अपान वायु ही है।।१०।।

उस परमेश्वर ने विचार किया यह (लोक, लोकपालों के संघातरूप पिण्ड) मेरे

---

वायुरन्नायुरन्नबन्धनोऽन्नजीवनो वै प्रसिद्धं स एष यो वायुः ।।४-१०।।

स एवं लोकलोकपालसंघातस्थितिमन्ननिमित्तां कृत्वा पुरपौरतत्पालयितृस्थिति-

**प्राणेनाभिप्राणितं यदि चक्षुषा दृष्टं यदि श्रोत्रेण श्रुतं यदि त्वचा स्पृष्टं यदि मनसा ध्यातं यद्यपाने-नाभ्यपानितं यदि शिश्नेन विसृष्टमथ कोऽह-मिति।।११।।**

बिना कैसे रह सकेगा? उसने विचार किया मैं किस मार्ग से इस शरीर में प्रवेश करूँ। उसने पुनः विचारा (मेरे बिना भी) यदि वाणी से बोल लिया जाय, यदि प्राण से प्राणन किया जाय, यदि त्वचा से स्पर्श कर लिया जाय, यदि मन से ध्यान कर लिया जाय, यदि अपान से खा लिया जाय और यदि शिश्न से विसर्जन कर लिया जाय तो फिर मैं कौन रह गया (अर्थात् मेरे बिना उक्त सभी व्यापार हो जाने पर मेरा कोई प्रयोजन नहीं रह जाता। किन्तु राजा के बिना जैसे नगर का कार्य नहीं होता, वैसे ही मेरी प्रेरणा के बिना उक्त व्यापार का होना असंभव है)।।११।।

---

समां स्वामीवेक्षत। कथं नु केन प्रकारेणेति वितर्कयन्निदं मदृते मामन्तरेण पुरस्वामिनम्। यदिदं कार्यकरणसंघातकार्यं वक्ष्यमाणं कथं नु खलु मामन्तरेण स्यात्परार्थं सत्। यदि वाचाऽभिव्याहृतमित्यादि केवलमेव वाग्व्यवहरणादि, तन्निरर्थकं न कथंचन भवेद्बलिस्तुत्यास्यादिवत्। पौरबन्द्यादिभिः प्रयुज्यमानं स्वाम्यर्थं सत्तत्स्वामिनमन्तरेणासत्येव स्वामिनि तद्वत्। तस्मान्मया परेण स्वामिनाऽधिष्ठात्रा कृताकृतफलसाक्षिभूतेन भोक्त्रा भवितव्यं पुरस्येव राज्ञा। यदि नामैतत्संहतकार्यस्य परार्थत्वं परमाऽर्थिनं मां चेतनमन्तरेण भवेत्पुरपौरकार्यमिव तत्स्वामिनम्। अथ कोऽहं किंस्वरूपः कस्य वा स्वामी। यद्यहं कार्यकरणसंघातमनुप्रविश्य वागाद्यभिव्याहृतादिफलं नोपलभेय राजेव पुरमा-विश्याधिकृतपुरुषकृताकृतावेक्षणम्, न कश्चिन्मामयं सन्नेवंरूपश्चेत्यधिगच्छेद्विचारयेत्। विपर्यये तु योऽयं वागाद्यभिव्याहृतादीदमिति वेद स सन्वेदनरूपश्चेत्यधिगन्तव्योऽहं स्याम्। यदर्थमिदं संहतानां वागादीनामभिव्याहृतादि। यथा स्तम्भकुड्यादीनां प्रासादादीनां च संहतानां स्वावयवैरसंहतपरार्थत्वं तद्वदिति। एवमीक्षित्वाऽतः कतरेण प्रपद्या इति। प्रपदं च मूर्धा चास्य संघातस्य प्रवेशमार्गावनयोः कतरेण मार्गेणेदं कार्यकरणसंघातलक्षणं पुरं प्रपद्यै प्रपद्येयमिति (द्येयेति)।।११।।

⊕ Next page Refer.

**स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत। सैषा विदृतिर्नाम द्वास्तदेतन्नान्दनम्। तस्य त्रय आवसथास्त्रयः स्वप्ना अयमावसथोऽयमावसथोऽयमावसथ इति।।१२।।**

**स जातो भूतान्यभिव्यैख्यत्किमिहान्यं वावदिष-**

वह सृष्टिकर्ता ईश्वर इस मूर्धा को विदीर्ण कर इस मार्ग से ही संघात में प्रविष्ट हो गया। वह यह द्वार विदृति नाम से प्रसिद्ध है वह आनन्दप्रद है। उसके तीन वासस्थान हैं और तीन ही स्वप्न हैं। (जाग्रत् में) यही नेत्रस्थान वाला है, स्वप्न में यह कण्ठस्थान वाला है और सुषुप्ति में यह हृदयस्थान वाला है।।१२।।

(जीवभाव से इस शरीर में प्रविष्ट होकर) उत्पन्न हुए उस परमेश्वर ने भूतों

---

एवमीक्षित्वा न तावन्मद्भृत्यस्य प्राणस्य मम सर्वार्थाधिकृतस्य प्रवेशमार्गेण प्रपदाभ्यामधः प्रपद्ये। किं तर्हि पारिशेष्यादस्य मूर्धानं विदार्य प्रपद्येयमिति लोक इवेक्षितकारी स स्रष्टेश्वर एतमेव मूर्धसीमानं केशविभागावसानं विदार्य च्छिद्रं कृत्वैतया द्वारा मार्गेणेमं कार्यकरणसंघातं प्रापद्यत प्रविवेश।

सेयं हि प्रसिद्धा द्वाः। मूर्ध्नि तैलादिधारणकाले तद्रसादिसंवेदनात्। सैषा विदृतिर्विदारितत्वाद्विदृतिर्नाम प्रसिद्धा द्वाः। इतराणि तु श्रोत्रादिद्वाराणि भृत्यादिस्थानीयसाधारणमार्गत्वान्न समृद्धीनि नाऽऽनन्दहेतूनि। इदं तु द्वारं परमेश्वरस्यैव केवलस्येति। तदेतन्नान्दनं नन्दनमेव नान्दनमिति दैर्घ्यं छान्दसम्। नन्दत्यनेन द्वारेण गत्वा परस्मिन्ब्रह्मणीति।

तस्यैवं सृष्ट्वा प्रविष्टस्य जीवेनाऽऽत्मना राज्ञ इव पुरं त्रय आवस्थाः। जागरितकाल इन्द्रियस्थानं दक्षिणं चक्षुः। स्वप्नकालेऽन्तर्मनः। सुषुप्तिकाले हृदयाकाश इत्येतद्वक्ष्यमाणा वा त्रय आवसथाः। पितृशरीरं मातृगर्भाशयः स्वं च शरीरमिति। त्रयः स्वप्ना जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याख्याः। ननु जागरितं प्रबोधरूपत्वान्न स्वप्नः। नैवम्। स्वप्न एव। कथं परमार्थस्वात्मप्रबोधाभावात्स्वप्नवदसद्वस्तुदर्शनाच्च। अयमेवाऽऽवसथश्चक्षुर्दक्षिणं प्रथमः। मनोऽन्तरं द्वितीयः। हृदयाकाशस्तृतीयः। अयमावसथ इत्युक्तानुकीर्तनमेव तेषु ह्ययमावसथेषु पर्यायेणाऽऽत्मभावेन वर्तमानोऽविद्यया दीर्घकालं गाढं प्रसुप्तः स्वाभाविक्या न प्रबुध्यतेऽनेकशतसहस्रानर्थसंनिपातजदुःखमुद्गराभिघातानुभवैरपि।।१२।।

स जातः शरीरे प्रविष्टो जीवात्मना भूतान्यभिव्यैख्यद्व्याकरोत्।

परमात्म से, गुरु कृपा से शास्त्र कृपा
ततमम्



दिति। स एवमेव पुरुषं ब्रह्म ततममपश्यदिदमदर्श- गुरुकृपा से
मितीश्ङ३ ॥१३॥

इन्द्र शब्द की उत्पत्ति

तस्मादिदन्द्रो नामेदन्द्रो ह वै नाम तमिदन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेण। परोक्षप्रिया इव हि देवाः परोक्षप्रिया इव हि देवाः॥१४॥

इत्यैतरेयोपनिषद्यात्मषट्के तृतीयः खण्डः॥३॥
उपनिषत्क्रमेण प्रथमाध्याये तृतीयः खण्डः॥३॥
इत्यैतरेयोपनिषदि प्रथमोऽध्यायः॥१॥

को (तादात्म्य-रूप से) ग्रहण किया और (गुरुकृपा से बोध होने पर मुझसे भिन्न) यहाँ दूसरा कौन है, ऐसा कहा और मैंने इस आत्मदेव को देख लिया है। इस प्रकार उसने इस पुरुष को ही पूर्ण ब्रह्मरूप से देखा॥१३॥

इसीलिए उस परमेश्वर का "इदन्द्र" नाम पड़ा, लोक में ईश्वर "इदन्द्र" नाम से प्रसिद्ध है। इदन्द्र होते हुए भी उसे ब्रह्मवेत्ता पुरुष परोक्ष रूप से इन्द्र कहकर पुकारते हैं क्योंकि देवता लोग परोक्षप्रिय होते हैं (द्विरुक्ति अध्याय समाप्ति सूचक के लिए है) ॥१४॥

॥इति प्रथमाध्यायः, तृतीयखण्डः॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्रजकाचार्ययतीन्द्रकुलतिलककैलासपीठाधीश्वरपरामदर्शमहामण्डलेश्वरस्वामिविद्यानन्दगिरि-विरचिताऐतरेयोपनिषद्प्रथमाध्यायस्य विद्यानन्दीमिताक्षरा ॥१॥

---

स कदाचित्परमकारुणिकेनाऽऽचार्येणाऽऽत्मज्ञानप्रबोधकृच्छब्दिकायां वेदान्तमहाभेर्यां तत्कर्णमूले ताड्यमानायामेतमेव सृष्ट्यादिकर्तृत्वेन प्रकृतं पुरुषं पुरि शयान-मात्मानं ब्रह्म बृहत्ततमं तकारेणैकेन लुप्तेन ततमं व्याप्ततमं परिपूर्णमाकाशवत्प्रत्य-बुध्यतापश्यत्। कथम्। इदं ब्रह्म ममाऽऽत्मनः स्वरूपमदर्शं दृष्टवानस्मि। अहो इति विचारणार्था प्लुतिः॥१३॥

यस्मादिदमित्येवं यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म सर्वान्तरमपश्यदपरोक्षेण। तस्मादिदं पश्यतीतीदन्द्रो नाम परमात्मा। इदन्द्रो ह वै नाम प्रसिद्धो लोके ईश्वरः। तमेवमिदन्द्रं सन्तमिन्द्र इति परोक्षेण परोक्षाभिधानेनाऽऽचक्षते ब्रह्मविदः संव्यवहारार्थं पूज्यत-मत्वात्प्रत्यक्षनामग्रहणभयात्।

तथा हि परोक्षप्रियाः परोक्षनामग्रहणप्रिया इव ह्येव हि यस्माद्देवाः। किमु सर्वदेवानामपि देवो महेश्वरः। द्विर्वचनं प्रकृताध्यायपरिसमाप्त्यर्थम्॥१४॥

इत्यैतरेयोपनिषद्भाष्ये प्रथमाध्याये तृतीयः खण्डः॥३॥

*इति श्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवत्कृतावैतरे-योपनिषद्भाष्ये प्रथमोऽध्यायः॥१॥*

✦ प्रथममाह्निकम् ✦

(+) (a) सोऽहं स च त्वं स च सर्वमेतदात्मस्वरूपं त्यज भेदमोहम्।
(इतीरितस्तेन स राजवर्यस्तत्याज भेदं परमार्थदृष्टिः)
(b) एकः समस्तं यदिहास्ति किंचित्तदच्युतो नास्ति परं ततोऽन्यत्। इति.

रहूगण राजा को जडभरत ने कहा अवधूत दत्तात्रेय के दर्शन के आते समय॥

## अथ द्वितीयोऽध्यायः।

(आरण्यकक्रमेण पञ्चमोऽध्यायः)

### तत्र प्रथमः खण्डः

अस्मिंश्चतुर्थेऽध्याय एष वाक्यार्थो जगदुत्पत्तिस्थितिप्रलयकृदसंसारी सर्वज्ञः सर्वशक्तिः सर्ववित्सर्वमिदं जगत्स्वतोऽन्यद्वस्त्वन्तरमनुपादायैवाऽऽकाशादिक्रमेण सृष्ट्वा स्वात्मबोधार्थं सर्वाणि च प्राणादिमच्छरीराणि स्वयं प्रविवेश प्रविश्य च स्वमात्मानं यथाभूतमिदं ब्रह्मास्मीति साक्षात्प्रत्यबुध्यत। तस्मात्स एव सर्वशरीरेष्वेक एवाऽऽत्मा नान्य इति। अन्योऽपि "सम आत्मा" "ब्रह्मास्मि" इत्येवं विद्यात्"इति (बृ. १-४-१०) 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्'इति ब्रह्म ततममिति चोक्तम्। अन्यत्र च सर्वगतस्य सर्वात्मनो बालाग्रमात्रमप्यप्रविष्टं नास्तीति कथं सीमानं विदार्य प्रापद्यत पिपीलिकेव सुषिरम्।

नन्वत्यल्पमिदं चोद्यं बहु चात्र चोदितव्यम्। अकरणः सन्नीक्षिताऽनुपादाय किंचिल्लोकानसृजताद्भ्यः पुरुषं समुद्धृत्यामूर्छयत्। तस्याभिध्यानान्मुखादि निर्भिन्नं मुखादिभ्यश्चाग्न्यादयो लोकपालास्तेषां चाशनायापिपासादिसंयोजनं तदायतनप्रार्थनं तदर्थं गवादिप्रदर्शनं तेषां यथायतनप्रवेशनं सृष्टस्यान्नस्य पलायनं वागादिभिस्तज्जिघृक्षा। एतत्सर्वं सीमाविदारणप्रवेशसममेव। अस्तु तर्हि सर्वमेवेदमनुपपन्नम्। न। अत्राऽऽत्मावबोधार्थमात्रस्य विवक्षित्वात्सर्वोऽयमर्थवाद इत्यदोषः। मायाविवद्वा महामायावी देवः सर्वज्ञः सर्वशक्तिः सर्वमेतच्चकार सुखावबोधनप्रतिपत्त्यर्थं लोकवदाख्यायिकादिप्रपञ्च इति युक्ततरः पक्षः। न हि सृष्ट्याख्यायिकादिपरिज्ञानात्किंचित्फलमिष्यते। ऐकात्म्यस्वरूपपरिज्ञानात्त्वमृतत्वं फलं सर्वोपनिषत्प्रसिद्धम्। स्मृतिषु च गीताद्यासु "समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्' (गी. १३-२७) इत्यादिना।

ननु त्रय आत्मानो भोक्ता कर्ता संसारी जीव एकः सर्वलोकशास्त्रप्रसिद्धः। अनेकप्राणिकर्मफलोपभोगयोग्यानेकाधिष्ठानवल्लोकदेहनिर्माणेन लिङ्गेन यथाशास्त्रप्रदर्शितेन पुरप्रासादादिनिर्माणलिङ्गेन तद्विषयकौशलज्ञानवांस्तत्कर्ता तक्षादिरिवेश्वरः सर्वज्ञो जगतः कर्ता, द्वितीयश्चेतन आत्माऽवगम्यते। "यतो वाचो निवर्तन्ते" (तै. २-९) 'नेति नेति' (बृ. ३-९-२६) इत्यादिशास्त्रप्रसिद्ध औपनिषदः पुरुषस्तृतीयः। एवमेते त्रय आत्मानोऽन्योन्यविलक्षणाः। तत्र कथमेक एवाऽऽत्माऽद्वितीयोऽसंसारीति ज्ञातुं शक्यते। तत्र जीव एव तावत्कथं ज्ञायते। नन्वेवं ज्ञायते श्रोता मन्ता द्रष्टाऽऽदेष्टाऽऽघोष्टा विज्ञाता प्रज्ञातेति।

ननु विप्रतिषिद्धं ज्ञायते यः श्रवणादिकर्तृत्वेनामतोऽविज्ञात इति च। तथा "न मतेर्मन्तारं मन्वीथा न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः" (बृ. ३-४-२) इत्यादि च। सत्यं विप्रतिषिद्धं यदि प्रत्यक्षेण ज्ञायेत सुखादिवत्। प्रत्यक्षज्ञानं च निवार्यते "न मतेर्मन्तारम्" इत्यादिना। ज्ञायते तु श्रवणादिलिङ्गेन तत्र कुतो विप्रतिषेधः।

ननु श्रवणादिलिङ्गेनापि कथं ज्ञायते, यावता यदा शृणोत्यात्मा श्रोतव्यं शब्दं तदा तस्य श्रवणक्रिययैव वर्तमानत्वान्मननविज्ञानक्रिये न संभवत आत्मनि परत्र वा। तथाऽन्यत्रापि मननादिक्रियासु श्रवणादिक्रियाश्च स्वविषयेष्वेव। न हि मन्तव्यादन्यत्र मन्तुर्मननक्रिया संभवति।

कारक हेतुः = घटं प्रति दण्डः
ज्ञापक हेतुः = वह्निं प्रति धूमः

ननु मनसा सर्वमेव मन्तव्यम्। सत्यमेवं तथाऽपि सर्वमपि मन्तव्यं मन्तारमन्तरेण न मन्तुं शक्यम्। यद्येवं किं स्यादिदमत्र स्यात्। सर्वस्य यो मन्ता स मन्तैवेति न स मन्तव्यः स्यात्। न च द्वितीयो मन्तुर्मन्ताऽस्ति, यदा स आत्मनैव मन्तव्यस्तदा येन च मन्तव्य आत्माऽऽत्मना यश्च मन्तव्य आत्मा तौ द्वौ प्रसज्येयाताम्। एक एवाऽऽत्मा द्विधा मन्तृमन्तव्यत्वेन द्विशकलीभवेद्वंशादिवदुभयथाऽप्यनुपपत्तिरेव। यथा प्रदीपयोः प्रकाश्यप्रकाशकत्वानुपपत्तिः समत्वात्तद्वत्। न च मन्तुर्मन्तव्ये मननव्यापारशून्यः कालोऽस्त्यात्ममननाय। यदाऽपि लिङ्गेनाऽऽत्मानं मनुते मन्ता, तदाऽपि पूर्ववदेव लिङ्गेन मन्तव्य आत्मा यश्च तस्य मन्ता तौ द्वौ प्रसज्येयाताम्। एक एव वा द्विधेति पूर्वोक्तो दोषः। न प्रत्यक्षेण नाप्यनुमानेन ज्ञायते चेत्कथमुच्यते 'सम आत्मेति विद्यात्' (ऐ. आ. ३-२-४) इति। कथं वा "श्रोता मन्ता" (ऐ. आ. ३-२-४) इत्यादि।

ननु श्रोतृत्वादिधर्मवानात्माऽश्रोतृत्वादि च प्रसिद्धमात्मनः किमत्र विषमं पश्यसि। यद्यपि तव न विषमं तथाऽपि मम तु विषमं प्रतिभाति। कथम्। यदाऽसौ श्रोता तदा न मन्ता यदा च मन्ता तदा न श्रोता। तत्रैवं सति पक्षे श्रोता मन्ता पक्षे न श्रोता नापि मन्ता। तथाऽन्यत्रापि च। यदैवं तदा श्रोतृत्वादिधर्मवानात्माऽश्रोतृत्वादिधर्मवान्वेति संशयस्थाने कथं तव न वैषम्यम्। यदा देवदत्तो गच्छति तदा न स्थाता गन्तैव। यदा तिष्ठति तदा न गन्ता स्थातैव तदाऽस्य पक्ष एव गन्तृत्वं स्थातृत्वं च न नित्यं गन्तृत्वं स्थातृत्वं वा तद्वत्।

अत्र काणादादयः पश्यन्ति। पक्षप्राप्तेनैव श्रोतृत्वादिनाऽऽत्मोच्यते श्रोता मन्तेत्यादि, संयोगजत्वमयौगपद्यं च ज्ञानस्य ह्याचक्षते। दर्शयन्ति च "अन्यत्रमना अभूवं नादर्शम्'

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः
अज्ञान भाव पदार्थ यथा तमः आवरण भाव पदार्थ से होता है।

(बृ. १-५-३) इत्यादि, "युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्" (न्या. सू. १-१-१६) इति च न्याय्यम्। भवत्वेवं किं तव नेष्टम्। यद्येवं स्यादस्त्वेवं तवेष्टं चेत्। श्रुत्यर्थस्तु न संभवति किं न श्रोता मन्तेत्यादिश्रुत्यर्थः। न। "न श्रोता न मन्ता"इत्यादिवचनात्।

ननु पाक्षिकत्वेन प्रत्युक्तं त्वया। न, नित्यमेव श्रोतृत्वाद्यभ्युपगमात्। "न हि श्रोतुः श्रुतेर्विपरिलोपो विद्यते" (बृ. ४-३-२७) इत्यादिश्रुतेः। एवं तर्हि नित्यमेव श्रोतृत्वाद्यभ्युपगमे प्रत्यक्षविरुद्धा युगपज्ज्ञानोत्पत्तिरज्ञानाभावश्चाऽऽत्मनः कल्पितः स्यात्। तच्चानिष्टमिति। नोभयदोषोपपत्तिरात्मनः श्रुत्यादिश्रोतृत्वादिधर्मवत्त्वश्रुतेः। अनित्यानां मूर्तानां च चक्षुरादीनां दृष्ट्याद्यनित्यमेव संयोगवियोगधर्मिणाम्। यथाऽग्नेर्ज्वलनं तृणादिसंयोगजत्वात्तद्वत्।

न तु नित्यस्यामूर्तस्यासंयोगविभागधर्मिणः संयोगजदृष्ट्याद्यनित्यधर्मवत्त्वं संभवति। तथा च श्रुतिः- "न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते" (बृ. ४-३-२३) इत्याद्या। एवं तर्हि द्वे दृष्टी चक्षुषोऽनित्या दृष्टिर्नित्या चाऽऽत्मनः। तथा च द्वे श्रुती श्रोत्रस्यानित्या नित्याऽऽत्मस्वरूपस्य। तथा द्वे मती विज्ञाती बाह्याबाह्ये। एवं ह्येव तथा चेयं श्रुतिरुपपन्ना भवति दृष्टेर्द्रष्टा श्रुतेः श्रोतेत्याद्या। लोकेऽपि प्रसिद्धं चक्षुषस्तिमिरागमापाययोर्नष्टा दृष्टिर्जाता दृष्टिरिति चक्षुर्दृष्टेरनित्यत्वम्। तथा च श्रुतिमत्यादीनामात्मदृष्ट्यादीनां च नित्यत्वं प्रसिद्धमेव लोके वदति ह्युद्धृतचक्षुः स्वप्नेऽद्य मया भ्राता दृष्ट इति। तथाऽवगतबाधिर्यः स्वप्ने श्रुतो मन्त्रोऽद्येत्यादि।

यदि चक्षुःसंयोगजैवाऽऽत्मनोऽनित्या दृष्टिस्तन्नाशे नश्येत्तदोद्धृतचक्षुः स्वप्ने नीलपीतादि न पश्येत् "न हि द्रष्टुर्दृष्टेः" इत्याद्या च श्रुतिरनुपपन्ना स्यात्। तच्चक्षुः पुरुषे येन स्वप्ने पश्यतीत्याद्या च श्रुतिरनुपपन्ना स्यात् ।

नित्यात्मनो दृष्टिर्बाह्यानित्यदृष्टेर्ग्राहिका। बाह्यादृष्टेश्चोपजनापायाद्यनित्यधर्मवत्त्वात्तद्ग्राहिकाया आत्मदृष्टेस्तद्वदवभासत्वमनित्यत्वादिभ्रान्तिनिमित्तं लोकस्येति युक्तम्। यथा भ्रमणादिधर्मवदलातादिवस्तुविषयदृष्टिरपि भ्रमतीव तद्वत्। तथा च श्रुतिः-"ध्यायतीव लेलायतीव" (बृ. ४-३-७) इति। तस्मादात्मदृष्टेर्नित्यत्वान्न यौगपद्यमयौगपद्यं वाऽस्ति।

बाह्यानित्यदृष्ट्युपाधिवशात्तु लोकस्य तार्किकाणां चाऽऽगमसंप्रदायवर्जितत्वादनित्याऽऽत्मनो दृष्टिरिति भ्रान्तिरुपपन्नैव। जीवेश्वरपरमात्मभेदकल्पना चैतन्निमित्तैव।

तथाऽस्ति नास्तीत्याद्याश्च यावन्तो वाङ्मनसयोर्भेदा यत्रैकं भवन्ति तद्विषयाया नित्याया दृष्टेर्निर्विशेषायाः।

अस्ति नास्तीत्येकं नानागुणवदगुणं जानाति न जानाति क्रियावदक्रियं फलवदफलं सबीजं निर्बीजं सुखं दुःखं मध्यममध्यं शून्यमशून्यं परोऽहमन्य इति वा सर्ववाक्प्रत्ययागोचरे स्वरूपे यो विकल्पयितुमिच्छति स नूनं खमपि चर्मवद्वेष्टयितुमिच्छति सोपानमिव च पद्भ्यामारोढुम्। जले खे च मीनानां वयसां च पदं दिदृक्षते। "नेति नेति" "यतो वाचो निवर्तन्ते" इत्यादिश्रुतिभ्यः। "को अद्धा वेद" (ऋ. वे. १०-१२९-६) इत्यादिमन्त्रवर्णात्।

कथं तर्हि तस्य सम आत्मेति वेदनं ब्रूहि केन प्रकारेण तमहं सम आत्मेति विद्याम्। अत्राऽऽख्यायिकामाचक्षते। कश्चित्किल मनुष्यो मुग्धः कैश्चिदुक्तः कस्मिंश्चिदपराधे सति धिक्त्वा नासि मनुष्य इति। स मुग्धतयाऽऽत्मनो मनुष्यत्वं प्रत्याययितुं कंचिदुपेत्याऽऽह। ब्रवीतु भवान्कोऽहमस्मीति। स तस्य मुग्धतां ज्ञात्वाऽऽह। क्रमेण बोधयिष्यामीति। स्थावराद्यात्मभावमपोह्य न त्वममनुष्य इत्युक्त्वोपरराम। स तं मुग्धः प्रत्याह। भवान्मां बोधयितुं प्रवृत्तस्तूष्णीं बभूव किं न बोधयतीति। तादृगेव तद्भवतो वचनम्। नास्यमनुष्य इत्युक्तेऽपि मनुष्यत्वमात्मनो न प्रतिपद्यते यः स कथं मनुष्योऽसीत्युक्तोऽपि मनुष्यत्वमात्मनः प्रतिपद्येत।

तस्माद्यथाशास्त्रोपदेश एवाऽऽत्मावबोधविधिर्नान्यः। न ह्यग्नेर्दाह्यं तृणाद्यन्येन केनचिद्दग्धुं शक्यम्। अत एव शास्त्रमात्मस्वरूपं बोधयितुं प्रवृत्तं सदमनुष्यत्वप्रतिषेधेनेव 'नेति नेति' इत्युक्त्वोपरराम। तथा "अनन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूरित्यनुशासनम्" (बृ. २-५-१९)। "तत्त्वमसि" (छा. ६-८-७) "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्" (बृ. ४-५-१५) इत्येवमाद्यपि च।

यावदयमेवं यथोक्तमिममात्मानं न वेत्ति तावदयं बाह्यानित्यदृष्टिलक्षणमुपाधिमात्मत्वेनोपेत्याविद्ययोपाधिधर्मानात्मनो मन्यमानो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तेषु देवतिर्यङ्नरस्थानेषु पुनः पुनरावर्तमानोऽविद्याकामकर्मवशात्संसरति।

"आत्मा वै जायते पुत्रः" पहला पुत्र जन्म के बाद भार्या को माता समझें- नहीं तो मातृगामी पशु माना जायेगा - भोले बाबा।



पुरुष का प्रथम जन्म।

(अपक्रामन्तु गर्भिण्यः)

**ॐ पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भो भवति यदेतद्रेतः। तदेतत्सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः संभूतमात्मन्येवाऽऽत्मानं बिभर्ति तद्यदा स्त्रियां सिञ्चत्यथैनज्जनयति तदस्य प्रथमं जन्म।।१।।**

सबसे पहले यह (संसारी जीव रसादि क्रम से शुक्ररूप से) पुरुषशरीर के भीतर ही गर्भरूप में होता है। यह जो प्रसिद्ध वीर्य है, वह पुरुष के सम्पूर्ण अवयवों से उत्पन्न हुआ सारभूत तेज है। वह पुरुष इस अपने आत्मरूप तेज को अपने शरीर में ही पोषण करता है, फिर जिस समय वह पुरुष अपने गर्भरूप से उत्पन्न शुक्र को स्त्री में सींचता है, तब इसे वह उत्पन्न करता है (इस प्रकार रेतः सिञ्चन समय शुक्र रूप से अपने स्थान से निकलना ही) इस संसारी पुरुष का पहला जन्म है।।१।।

---

स एवं संसरन्नुपात्तदेहेन्द्रियसंघातं त्यजति। त्यक्त्वाऽन्यमुपादत्ते। पुनः पुनरेवमेव ✓नदीस्रोतोवज्जन्ममरणप्रबन्धाविच्छेदेन वर्तमानः काभिरवस्थाभिर्वर्तत इत्येतमर्थं दर्शयन्त्याह ✓श्रुतिर्वैराग्यहेतोः :—

अयमेवाविद्याकामकर्माभिमानवान्यज्ञादिकर्म कृत्वाऽस्माल्लोकाद्धूमादिक्रमेण चन्द्रमसं प्राप्य क्षीणकर्मा वृष्ट्यादिक्रमेणेमं लोकं प्राप्यान्नभूतः पुरुषाग्नौ हुतः। तस्मिन्पुरुषे ह वा अयं संसारी रसादिक्रमेणाऽऽदितः प्रथमतो रेतोरूपेण गर्भो भवतीत्येतदाह। यदेतत्पुरुषे रेतस्तेन रूपेणेति।

तच्चैतद्रेतोऽन्नमयस्य पिण्डस्य सर्वेभ्योऽङ्गेभ्योऽवयवेभ्यो रसादिलक्षणेभ्यस्तेजः साररूपं शरीरस्य संभूतं परिनिष्पन्नं तत्पुरुषस्याऽऽत्मभूतत्वादात्मा। तमात्मानं ✓रेतोरूपेण गर्भीभूतमात्मन्येव स्वशरीर एवाऽऽत्मानं बिभर्ति धारयति। तद्रेतो यदा ✓यस्मिन्काले भार्यर्तुमती तस्यां योषाग्नौ स्त्रियां सिञ्चत्युपगच्छन्। अथ तदैनदेतद्रेत ✓आत्मनो गर्भभूतं जनयति पिता। तदस्य पुरुषस्य स्थानान्निर्गमनं रेतःसेककाले रेतोरूपेणास्य संसारिणः प्रथमं जन्म प्रथमावस्थाभिव्यक्तिः, तदेतदुक्तं पुरस्ताद् - 'असावात्माऽमुमात्मानम्' (ऐ. आ. २-३-७) इत्यादिना।।१।।

तत्स्त्रिया आत्मभूयं गच्छति यथा स्वमङ्गं तथा तस्मादेनां न हिनस्ति सा³ऽस्यैतमात्मानमत्र गतं भावयति।।२।। पुरूष का दूसरा जन्म

सा भावयित्री भावयितव्या भवति तं स्त्री गर्भं बिभर्ति सोऽग्र एव कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयति। स यत्कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयत्यात्मानमेवैतद्भावयत्येषां लोकानां संतत्या एवं संतता हीमे लोकास्तदस्य द्वितीयं जन्म।।३।।

जिस प्रकार अपने अङ्ग स्तनादि होते हैं उसी प्रकार यह वीर्य भी स्त्री के आत्मभाव को प्राप्त हो जाता है। इसीलिए वह गर्भ उसे कष्ट नहीं पहुँचाता। वह गर्भिणी अपने उदर में प्रविष्ट हुए उस पति के इस आत्मा का (अनुकूल भोजनादि के द्वारा) पोषण करती है।।२।।

(गर्भरूप पति के आत्मा का) पालन करने वाली वह गर्भिणी स्त्री अपने स्वामी द्वारा पालनीया होती है। प्रसव होने से पूर्व गर्भिणी स्त्री उस गर्भ का पोषण करती है, तब वह पिता गर्भरूप से उत्पन्न हुए प्रसव के अनन्तर सद्योजात उस कुमार को जातकर्मादि से संस्कृत करता है। जन्म के बाद वह जो कुमार का संस्कार करता है, वह इस प्रकार पुत्र-पौत्रादि लोकों के विस्तार से अपना ही संस्कार करता है, क्योंकि इस प्रकार (पुत्रोत्पादनादि परम्परा के चलते रहने से) इन लोकों की वृद्धि होती है। यही इस संसारी पुरुष का द्वितीय जन्म है।।३।।

---

तद्रेतो यस्यां स्त्रियां सिक्तं तस्या आत्मभूयमात्माव्यतिरेकतां यथा पितुरेवं गच्छति प्राप्नोति यथा स्वमङ्गं स्तनादि तथा तद्वदेव। तस्माद्धेतोरेनां मातरं स गर्भो न हिनस्ति, पिटकादिवत्। यस्मात्स्तनादिस्वाङ्गवदात्मभूयं गतं तस्मान्न हिनस्ति न बाधते इत्यर्थः। साऽन्तर्वत्न्येतमस्य भर्तुरात्मानमत्राऽऽत्मने उदरे गतं प्रविष्टं बुद्ध्वा भावयति वर्धयति परिपालयति गर्भविरुद्धाशनादिपरिहारमनुकूलाशनाद्युपयोगं च कुर्वती।।२।।

सा भावयित्री वर्धयित्री भर्तुरात्मनो गर्भभूतस्य भावयितव्या रक्षयितव्या च भर्त्रा भवति। न ह्युपकारप्रत्युपकारमन्तरेण लोके कस्यचित्केनचित्संबन्ध उपपद्यते। तं गर्भं स्त्री यथोक्तेन गर्भधारणविधानेन बिभर्ति धारयत्यग्रे प्राग्जन्मनः। स पिताऽग्रे

**सोऽस्यायमात्मा पुण्येभ्यः कर्मभ्यः प्रतिधीयते। अथास्यायमितर आत्मा कृतकृत्यो वयोगतः प्रैति स इतः प्रयन्नेव पुनर्जायते तदस्य तृतीयं जन्म।।४।।**

इस पिता का वह पुत्ररूप आत्मा शास्त्रोक्त पुण्यकर्मों के संपादन के लिये (घर में पिता के स्थान पर) प्रतिनिधिरूप से स्थापित किया जाता है। तदनन्तर इस पुत्र का अन्य पितारूप आत्मा वृद्ध हो जाने पर कृतकृत्य होकर यहाँ से प्रस्थान करने के बाद वह (कर्मफल भोग के लिये) फिर जन्मधारण करता है, यही इसका तीसरा जन्म है।।४।।

---

एव पूर्वमेव जातमात्रं जन्मनोऽध्यूर्ध्वं जन्मनो जातं कुमारं जातकर्मादिना पिता भावयति।

स पिता यद्यस्मात्कुमारं जन्मनोऽध्यूर्ध्वमग्रे जातमात्रमेव जातकर्मादिना यद्भावयति तदात्मानमेव भावयति पितुरात्मैव हि पुत्ररूपेण जायते। तथा ह्युक्तं "पतिर्जायां प्रविशति"इत्यादि। तत्किमर्थमात्मानं पुत्ररूपेण जनयित्वा भावयतीति। उच्यते—एषां लोकानां संतत्या अविच्छेदायेत्यर्थः। विच्छिद्येरन्हीमे लोकाः पुत्रोत्पादनादि यदि न कुर्युः केचन। एवं पुत्रोत्पादनादिकर्माविच्छेदेनैव संतताः प्रबन्धरूपेण वर्तन्ते हि यस्मादिमे लोकास्तस्मात्तदविच्छेदाय तत्कर्तव्यं न मोक्षायेत्यर्थः। तदस्य संसारिणः कुमाररूपेण मातुरुदराद्यन्निर्गमनं तद्रेतोरूपापेक्षया द्वितीयं जन्म द्वितीयावस्थाभिव्यक्तिः।।३।।

अस्य पितुः सोऽयं पुत्रात्मा पुण्येभ्यः शास्त्रोक्तेभ्यः कर्मभ्यः कर्मनिष्पादनार्थं प्रतिधीयते पितुः स्थाने पित्रा यत्कर्तव्यं तत्करणाय प्रतिनिधीयत इत्यर्थः। तथा च संप्रत्तिविद्यायां वाजसनेयके — पित्राऽनुशिष्टः'अहं ब्रह्माहं यज्ञः' (बृ. १-५-१७) इत्यादि प्रतिपद्यत इति।

अथानन्तरं पुत्रे निवेश्याऽऽत्मनो भारमस्य पुत्रस्येतरोऽयं यः पित्रात्मा कृतकृत्यः कर्तव्यादृणत्रयाद्विमुक्तः कृतकर्तव्य इत्यर्थः। वयोगतो गतवया जीर्णः सन्प्रैति म्रियते। स इतोऽस्मात्प्रयन्नेव शरीरं परित्यजन्नेव तृणजलूकावद्देहान्तरमुपाददानः कर्मचितं पुनर्जायते। तदस्य मृत्वा प्रतिपत्तव्यं यत्तत्तृतीयं जन्म। ननु संसरतः पितुः सकाशाद्रेतोरूपेण प्रथमं जन्म। तस्यैव कुमाररूपेण मातुर्द्वितीयं जन्मोक्तम्। तस्यैव तृतीये जन्मनि वक्तव्ये प्रयतः पितुर्यज्जन्म तत्तृतीयमिति कथमुच्यते। नैष दोषः। पितापुत्रयोरैकात्म्यस्य

**तदुक्तमृषिणा — गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा। शतं मा पुर आयसीररक्षन्नधः श्येनो जवसा निरदीयमिति गर्भ एवैतच्छयानो वामदेव एवमुवाच।।५।।**

**स एवं विद्वानस्माच्छरीरभेदादूर्ध्व उत्क्रम्यामुष्मि-**

यही बात मन्त्र में कही गयी है। माता के गर्भ में रहते हुए ही मैंने इस (वाक् एवं अग्नि आदि) देवताओं के सम्पूर्ण जन्मों को जान लिया है। (संसार बन्धन से मुक्त होने से पूर्व) मुझे लोहमय अभेध्य सैकड़ों शरीरों ने अवरुद्ध किया था। अब (तत्त्वज्ञान के प्रभाव से) मैं बाजपक्षी के समान (इस जाल को काट कर) बाहर निकल आया हूँ। वामदेव ऋषि ने गर्भ में सोते हुए ही ऐसा कहा था।।५।।

वह (वामदेव ऋषि पूर्वोक्त आत्मा को) इस प्रकार जानकर इस शरीर के नाश होने के बाद उत्क्रमण कर इन्द्रियों के अविषय स्वयंप्रकाश आत्मलोक में सम्पूर्ण भोगों

---

विवक्षितत्वात्। सोऽपि पुत्रः स्वपुत्रे भारं निधायेतः प्रयन्नेव पुनर्जायते यथा पिता। तदन्यत्रोक्तमितरत्राप्युक्तमेव भवतीति मन्यते श्रुतिः। पितापुत्रयोरेकात्मत्वात्।।४।।

एवं संसरन्नवस्थाभिव्यक्तित्रयेण जन्ममरणप्रबन्धारूढः सर्वो लोकः संसारसमुद्रे निपतितः कथंचिद्यथाश्रुत्युक्तमात्मानं विजानाति यस्यां कस्यांचिदवस्थायां तदेव मुक्तसर्वसंसारबन्धनः कृतकृत्यो भवतीत्येतद्वस्तु तदृषिणा मन्त्रेणाप्युक्तमित्याह—गर्भे नु मातुर्गर्भाशय एव सन्वसन्। न्विति वितर्के। अनेकजन्मान्तर भावनापरिपाकवशादेषां देवानां वागग्न्यादीनां जनिमानि जन्मानि विश्वा विश्वानि सर्वाण्यन्ववेदमहमहो अनुबुद्धवानस्मीत्यर्थः। शतमनेकं बह्व्यो मा मां पुर आयसीरायस्यो लोहमय्य इवाभेद्यानि शरीराणीत्यभिप्रायः। अरक्षन्रक्षितवत्यः संसारपाशनिर्गमनादधोऽधः श्येनइव जालं भित्वा जवसाऽऽत्मज्ञानकृतसामर्थ्येन निरदीयं निर्गतोऽस्मि। अहो गर्भ एव शयानो वामदेव ऋषिरेवमुवाचैतत्।।५।।

स वामदेव ऋषिर्यथोक्तमात्मानमेवं विद्वानस्माच्छरीरभेदाच्छरीरस्याविद्यापरिकल्पित-स्याऽऽयसवदनिर्भेद्यस्य जननमरणाद्यनेकानर्थशताविष्टशरीरप्रबन्धस्य (प्रवाहस्य) परमात्मज्ञानामृतोपयोगजनितवीर्यकृतभेदाच्छरीरोत्पत्तिबीजाविद्यादिनिमित्तोपमर्दहेतोः शरीरविनाशादित्यर्थः। ऊर्ध्वः परमात्मभूतः सन्नधोभवात्संसारादुत्क्रम्य ज्ञानावद्योतितामल-

स्वस्मिन्नात्मनि

न्त्स्वर्गे लोके सर्वान्कामानाप्त्वाऽमृतः समभवत्सम-
भवत्।।६।।

(यथास्थानं गर्भिण्यः)

इत्यैतरेयोपनिषद्यात्मषट्के चतुर्थः खण्डः।।४।।

उपनिषत्क्रमेण द्वितीयाध्याये प्रथमः खण्डः।।१।।

इत्यैतरेयोपनिषदि द्वितीयोऽध्यायः।।२।।

को प्राप्त कर अमर हो गया (अर्थात् आत्मज्ञान द्वारा पूर्णकाम होने के कारण जीवित ही अमरत्व को प्राप्त किया)।।६।।

।।इति द्वितीयाध्यायः प्रथमखण्डः।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्रजकाचार्ययतीन्द्रकुलतिलककैलासपीठाधीश्वरपरामदर्शमहामण्डलेश्वरस्वामिविद्यानन्दगिरि-विरचिताऐतरेयोपनिषद्द्वितीयाध्यायस्य विद्यानन्दीमिताक्षरा ।।२।।

---

सर्वात्मभावमापन्नः सन्नमुष्मिन्यथोक्तेऽजरेऽमरेऽमृतेऽभये सर्वज्ञेऽपूर्वेऽनपरेऽनन्तरेऽबाह्ये प्रज्ञानामृतैकरसे प्रदीपवन्निर्वाणमत्यगमत्स्वर्गे लोके स्वस्मिन्नात्मनि स्वे स्वरूपेऽमृतः समभवदात्मज्ञानेन पूर्वं समाप्तकामतया जीवन्नेव सर्वान्कामानाप्त्वेत्यर्थः। द्विर्वचनं सफलस्य सोदाहरणस्याऽऽत्मज्ञानस्य परिसमाप्तिप्रदर्शनार्थम्।।६।।

इत्यैतरेयोपनिषद्भाष्ये द्वितीयाध्याये प्रथमः खण्डः।।१।।

*इति श्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवत्कृतावैतरेयोप-निषद्भाष्ये द्वितीयोऽध्यायः।।२।।*

प्रज्ञान उपलब्धयर्थं एतस्य मनो रूपस्य करणस्य वृत्तयो ~~[illegible]~~ :
(1) अध्यवसाय निश्चयः (2) तृष्णा (3) स्त्री संपर्कादि अभिलाषा।

# अथ तृतीयोऽध्यायः।

(आरण्यकक्रमेण: षष्ठोऽध्याय:)

तत्र प्रथम: खण्ड:

**ॐ कोऽयमात्मेति वयमुपास्महे कतरः स आत्मा। येन वा पश्यति येन वा शृणोति येन वा गन्धाना-जिघ्रति येन वा वाचं व्याकरोति येन वा स्वादु चास्वादु च विजानाति।।१।।**

हम जिस आत्मा की उपासना करते हैं, वह आत्मा कौन है? जिससे जीव प्राणी देखता है या जिससे सुनता है, या जिससे गन्धों को सूँघता है, या जिससे शब्द का विश्लेषण करता है, या जिससे स्वादु अस्वादु वस्तु को जानता है (अर्थात् उक्त सभी ज्ञानों के कारण और कर्तारूप दो आत्माओं में से) वह कौन सा आत्मा है।।१।।

---

ब्रह्मविद्यासाधनकृतसर्वात्मभावफलावाप्तिं वामदेवाद्याचार्यपरम्परया श्रुत्या-ऽवद्योत्यमानां ब्रह्मवित्परिषद्यत्यन्तप्रसिद्धामुपलभमाना मुमुक्षवो ब्राह्मणा अधुनातना ब्रह्म जिज्ञासवोऽनित्यात्साध्यसाधनलक्षणात्संसारादाजीवभावाद्व्याविवृत्सवो विचारयन्तो-ऽन्योन्यं पृच्छन्ति कोऽयमात्मेतिकथं यमात्मानमयमात्मेति साक्षाद्वयमुपास्महे,कः स आत्मेति। यं चाऽऽत्मानमयमात्मेति साक्षादुपासीनो वामदेवोऽमृतः समभवत्तमेव वयमप्यु-पास्महे को नु खलु स आत्मेति। एवं जिज्ञासापूर्वमन्योन्यं पृच्छतामतिक्रान्तविशेषविषय-श्रुतिसंस्कारजनिता स्मृतिरजायत। "तं प्रपदाभ्यां प्रापद्यत ब्रह्मेमं पुरुषम्" (ऐ. आ. २-१-४)। "स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत"। एतमेव पुरुषं द्वे ब्रह्मणी इतरेतरप्राति-कूल्येन प्रतिपन्ने इति। ते चास्य पिण्डस्याऽऽत्मभूते। तयोरन्यतर आत्मोपास्यो भवितुमर्हति। योऽत्रोपास्यः कः स आत्मेति विशेषनिर्धारणार्थं पुनरन्योन्यं पप्रच्छु-र्विचारयन्तः।

पुनस्तेषां विचारयतां विशेषविचारणास्पदविषया मतिरभूत्। कथं, द्वे वस्तुनी अस्मिन्पिण्डे उपलभ्येते अनेकभेदभिन्नेन करणेन येनोपलभते यश्चैक उपलभते करणान्तरोपलब्धविषयस्मृतिप्रतिसंधानात्। तत्र न तावद्येनोपलभते स आत्मा भवितु-मर्हति। केन पुनरुपलभते इति। उच्यते। येन वा चक्षुर्भूतेन रूपं पश्यति येन वा शृणोति श्रोत्रभूतेन शब्दं येन वा घ्राणभूतेन गन्धानाजिघ्रति येन वा वाक्करणभूतेन

**यदेतद्धृदयं मनश्चैतत्। संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं मेधा दृष्टिर्धृतिर्मतिर्मनीषा जूतिः स्मृतिः संकल्पः क्रतुरसुः कामो वश इति। सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति।।२।।**

यह जो (प्रजाओं का रेतरूप सारभूत) हृदय है, वही मन भी है, चेतनता, प्रभुता, विज्ञान, प्रज्ञान मेधा, दृष्टि, धृति, मति, मनीषा, रोगादिजनित दुःखरूप जूति, स्मृति, संकल्प, क्रतु, प्राण, काम और मनोनुकूल वस्तुओं के स्पर्शादि कामना ये सभी प्रज्ञान के नाम हैं।।२।।

---

वाचं नामात्मिकां व्याकरोति गौरश्व इत्येवमाद्यां साध्वसाध्विति च। येन वा जिह्वाभूतेन स्वादु चास्वादु च विजानातीति।।१।।

किं पुनस्तदेवैकमनेकधा भिन्नं करणमिति, उच्यते —

यदुक्तं पुरस्तात् "प्रजानां रेतो हृदयं हृदयस्य रेतो मनः" (ऐ. आ. २-१-३) "मनसा सृष्टा आपश्च वरुणश्च" (ऐ. आ. २-१-७) "हृदयान्मनो मनसश्चन्द्रमाः" तदेवैतद्धृदयं मनश्चैकमेतदनेकधा। 'एतेनान्तःकरणेनैकेन चक्षुर्भूतेन रूपं पश्यति श्रोत्रभूतेन शृणोति घ्राणभूतेन जिघ्रति वाग्भूतेन वदति जिह्वाभूतेन रसयति स्वेनैव विकल्पनारूपेण मनसा विकल्पयति हृदयरूपेणाध्यवस्यति। तस्मात्सर्वकरणविषयव्यापारकमेकमिदं करणं सर्वोपलब्ध्यर्थमुपलब्धुः। तथा च कौषीतकिनां "प्रज्ञया वाचं समारुह्य वाचा सर्वाणि नामान्याप्नोति प्रज्ञया चक्षुः समारुह्य चक्षुषा सर्वाणि रूपाण्याप्नोति" (कौ. ३-६) इत्यादि। वाजसनेयके च — "मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति" (बृ. १-५-३) "हृदयेन हि रूपाणि जानाति" (बृ. ३-९-२०) इत्यादि। तस्माद्धृदयमनोवाच्यस्य सर्वोपलब्धिकरणत्वं प्रसिद्धम्। तदात्मकश्च प्राणो यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या वै प्रज्ञा स प्राण इति ब्राह्मणम्। करणसंहतिरूपश्च प्राण इत्यवोचाम प्राणसंवादादौ। तस्माद्यत्प्रपदाभ्यां प्रापद्यत ब्रह्मैतदुपलब्धुरुपलब्धिकरणत्वेन गुणभूतत्वान्नैव वस्तु ब्रह्मोपास्यात्माभवितुमर्हति। पारिशेष्याद्यस्योपलब्धुरुपलब्ध्यर्था एतस्य हृदयस्य मनोरूपस्य करणस्य वृत्तयो वक्ष्यमाणाः स उपलब्धोपास्य आत्मा नो भवितुमर्हतीति निश्चयं कृतवन्तः।

तदन्तःकरणोपाधिस्थस्योपलब्धुः प्रज्ञानरूपस्य ब्रह्मण उपलब्ध्यर्था या अन्तःकरणवृत्तयो बाह्यान्तर्वर्तिविषयविषयास्ता इमा उच्यन्ते —

संसर्ग अनवगाहि यथार्थ ज्ञान जनकम् "अखण्डवाक्यार्थः
आत्मा का परिच्छिन्नत्व मिटेगा, और ब्रह्म का परोक्षत्व मिटेगा। अखण्डवाक्यार्थ फल



प्रज्ञान की व्यापकता

आत्मा

एषब्रह्मैष इन्द्र एष प्रजापतिरेते सर्वे देवा इमानि च पञ्च महाभूतानि पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतींषीत्येतानीमानि च क्षुद्रमिश्राणीव बीजानीतराणि चेतराणि चाण्डजानि च जारुजानि च स्वेदजानि चोद्भिज्जानि चाश्वा गावः पुरुषा हस्तिनो यत्किंचेदं प्राणि जङ्गमं च पतत्रि च यच्च स्थावरं सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रं प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म।।३।। उपसंहार (1)

यह प्रज्ञानरूप आत्मा ही परात्पर ब्रह्मा है, यही इन्द्र है, यही प्रजापति है, यही अग्न्यादि सारे देव तथा पृथिवी, वायु, आकाश, जल और तेज ये पाँच भूत है, यही क्षुद्र जीवों के सहित उनके बीज एवं अन्य-अन्य अण्डज, जरायुज, स्वेदज, उद्भिज्ज, अश्व, गौ, मनुष्य और हाथी है तथा जो कुछ भी यह जंगम आकाशगामी पक्षी और वृक्षादिरूप स्थावर वर्ग है वह सब प्रज्ञानेत्र और निरुपाधिक प्रज्ञान में ही स्थित है, लोक प्रज्ञानेत्र वाला है, प्रज्ञान ही उसका विलयस्थान है। अतः प्रज्ञान ही ब्रह्म है।।३।।

---

संज्ञानं संज्ञप्तिश्चेतनभावः आज्ञानमाज्ञप्तिरीश्वरभावः। विज्ञानं कलादिपरिज्ञानम्। प्रज्ञानं प्रज्ञप्तिः प्रज्ञता। मेधा ग्रन्थधारणसामर्थ्यम्। दृष्टिरिन्द्रियद्वारा सर्वविषयोपलब्धिः। धृतिर्धारणमवसन्नानां शरीरेन्द्रियाणां ययोत्तम्भनं भवति। धृत्या शरीरमुद्वहन्तीति हि वदन्ति। मतिर्मननम्। मनीषा तत्र स्वातन्त्र्यम्। जूतिश्चेतसो रुजादिदुःखित्वभावः। स्मृतिः स्मरणम्। संकल्पः शुक्लकृष्णादिभावेन संकल्पनं रूपादीनाम्। क्रतुरध्यवसायः। असुः प्राणनादिजीवनक्रियानिमित्ता वृत्तिः। कामोऽसंनिहितविषयाकाङ्क्षा तृष्णा। वशः स्त्रीव्यतिकराद्यभिलाषः। इत्येवमाद्या अन्तःकरणवृत्तयः प्रज्ञप्तिमात्रस्योपलब्धुरुपलब्ध्यर्थत्वाच्छुद्धप्रज्ञानरूपस्य ब्रह्मण उपाधिभूतास्तदुपाधिजनितगुणनामधेयानि भवन्ति संज्ञानादीनि। चित्त का रोगादि

सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञप्तिमात्रस्य प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति, न स्वतः साक्षात्। तथा चोक्तं प्राणन्नेव प्राणो नाम भवतीत्यादि।।२।।

स एष प्रज्ञानरूप आत्मा ब्रह्मापरं सर्वशरीरस्थः प्राणः प्रज्ञात्माऽन्तःकरणोपाधिष्वनुप्रविष्टो जलभेदगतसूर्यप्रतिबिम्बवद्धिरण्यगर्भः प्राणः प्रज्ञात्मा। एष एवेन्द्रो गुणा-

फल ४

स एतेन प्रज्ञेनाऽऽत्मनाऽस्माल्लोकादुत्क्रम्यामुष्मि- न्स्वर्गे लोके सर्वान्कामानाप्त्वाऽमृतः समभवत्सम- भवत्।।४।।

इति पञ्चमः खण्डः।।५।।

इत्यैतरेये द्वितीयारण्यके षष्ठोऽध्यायः।।६।।

वह वामदेव इस चेतनात्मस्वरूप से ही इस लोक से उत्क्रमण कर इन्द्रियातीत ब्रह्मात्मरूप स्वर्ग लोक में सम्पूर्ण कामनाओं को प्राप्त कर अमर हो गया।।४।।

।।इति तृतीयोऽध्यायः।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्रजकाचार्ययतीन्द्रकुलतिलककैलासपीठाधीश्वरपरामदर्शमहामण्डलेश्वरस्वामिविद्यानन्दगिरि- विरचिताऐतरेयोपनिषद्तृतीयाध्यायस्य विद्यानन्दीमिताक्षरा।।३।।

।।इत्यैतरेयोपनिषत्समाप्ता।।

---

द्देवराजो वा। एष प्रज्ञापतिर्यः प्रथमजः शरीरी। यतो मुखादिनिर्भेदद्वारेणाग्न्यादयो लोकपाला जाताः। स प्रजापतिरेष एव। येऽप्येतेऽग्न्यादयः सर्वे देवा एष एव। इमानि च सर्वशरीरोपादानभूतानि पञ्च पृथिव्यादीनि महाभूतान्यन्नान्नादलक्षणान्येतानि। किंचेमानि च क्षुद्रमिश्राणि क्षुद्रैरल्पकैर्मिश्राणि। इवशब्दोऽनर्थकः।

सर्पादीनि बीजानि कारणानीतराणि चेतराणि च द्वैराश्येन निर्दिश्यमानानि। कानि तानि उच्यन्ते। अण्डजानि पक्ष्यादीनि। जारुजानि जरायुजानि मनुष्यादीनि। स्वेदजानि यूकादीनि। उद्भिज्जानि च वृक्षादीनि। अश्वा गावः पुरुषा हस्तिनोऽन्यच्च यत्किंचेदं प्राणिजातम्। किं तत्। जङ्गमं यच्चलति पद्भ्यां गच्छति। यच्च पतत्रि। आकाशेन पतनशीलम्। यच्च स्थावरमचलं सर्वं तदशेषतः प्रज्ञानेत्रं प्रज्ञप्तिः प्रज्ञा तच्च ब्रह्मैव नीयतेऽनेनेति नेत्रं प्रज्ञैव नेत्रं यस्य तदिदं प्रज्ञानेत्रम्। प्रज्ञाने ब्रह्मण्युत्पत्ति- स्थितिलयकालेषु प्रतिष्ठितं प्रज्ञानाश्रयमित्यर्थः। प्रज्ञानेत्रो लोकः पूर्ववत्। प्रज्ञाचक्षुर्वा सर्व एव लोकः। प्रज्ञा प्रतिष्ठा सर्वस्य जगतः। तस्मात्प्रज्ञानं ब्रह्म।

तदेतत्प्रत्यस्तमितसर्वोपाधिविशेषं सन्निरञ्जनं निर्मलं निष्क्रियं शान्तमेकमद्वयं नेतिनेतीतिसर्वविशेषापोहसंवेद्यं सर्वशब्दप्रत्ययागोचरं तदत्यन्तविशुद्धप्रज्ञोपाधिसंबन्धेन सर्वज्ञमीश्वरसंज्ञं भवति। सर्वसाधारणाव्याकृतजगद्बीजप्रवर्तकं नियन्तृत्वादन्तर्यामिसंज्ञं भवति। तदेव व्याकृतजगद्बीजभूतबुद्ध्यात्माभिमानलक्षणं हिरण्यगर्भसंज्ञं भवति। तदेवान्तरण्डोद्भूतप्रथमशरीरोपाधिमद्विराट्प्रजापतिसंज्ञं भवति। तदुद्भूताग्न्याद्युपाधिद्देवता- दिसंज्ञं भवति। तथा विशेषशरीरोपाधिष्वपि। ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तेषु तत्तन्नामरूपलाभो ब्रह्मणः। तदेव चैकं सर्वोपाधिभेदभिन्नं सर्वैः प्राणिभिस्तार्किकैश्च सर्वप्रकारेण ज्ञायते विकल्प्यते चानेकधा। "एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्। इन्द्रमेकेऽपरे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्" (मनु. १२-१२३) इत्याद्या स्मृतिः।।३।।

स वामदेवोऽन्यो वैवं यथोक्तं ब्रह्म वेद प्रज्ञेनाऽऽत्मना येनैव प्रज्ञेनाऽऽत्मना पूर्वे

## शान्तिपाठः

हरिः ॐ। वाङ्मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीरनेनाधीतेनाहोरात्रान्संदधाम्यृतं वदिष्यामि सत्यं वदिष्यामि तन्मामवतु तद्वक्तारमवत्ववतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम्।ॐ। शान्तिः शान्तिः शान्तिः। इति षष्ठः खण्डः।।६।।
इत्यैतरेये द्वितीयारण्यके सप्तमोऽध्यायः।।७।।

---

विद्वांसोऽमृता अभूवंस्तथाऽयमपि विद्वानेतेनैव प्रज्ञेनाऽऽत्मनाऽस्माल्लोकादुत्क्रम्येत्यादि व्याख्यातम्। अस्माल्लोकादुत्क्रम्यामुष्मिन्स्वर्गे लोके सर्वान्कामानाप्त्वाऽमृतः समभवदित्योम्।।४।।

इत्यैतरेयोपनिषद्भाष्ये तृतीयोऽध्यायः ।।३।।
इत्यैतरेये द्वितीयारण्यकभाष्ये षष्ठोऽध्यायः।।६।।

*इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-श्रीशंकरभगवतः कृतौ बह्वृचब्राह्मणोपनिषद्भाष्यं समाप्तम्।*

✦ द्वितीयमाह्निकम् ✦

ॐ उदितः शुक्रियं दधे। तमहमात्मनि दधे। अनु मामैत्विन्द्रियम्। मयि श्रीर्मयि यशः। सर्वः सप्राणः सबलः। उत्तिष्ठाम्यनु मा श्रीः। उत्तिष्ठत्वनु माऽऽयन्तु देवताः। अदब्धं चक्षुरिषितं मनः। सूर्यो ज्योतिषां श्रेष्ठो दीक्षे मा मा हिंसीः। तच्चक्षुर्देवहितं शुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतम्। त्वमग्ने व्रतपा असि देव आ मर्त्येष्वा। त्वं यज्ञेष्वीड्यः। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

इति ऋक्शाखीयायामैतरेयोपनिषदि द्वितीयारण्यकान्तर्गतमात्मष्टकं द्वितीयारण्यकं च समाप्तम्।। ॐ तत्सत्।।

श्री कैलासपीठाधीश्वर अनन्त श्री विभूषित श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य परमादर्श महामण्डलेश्वर

# श्रीस्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज

एवं श्री कैलास आश्रम के पूर्वाचार्यों की अनुपम कृतियाँ।

## कैलासविद्याप्रकाशन ग्रंथमाला

| | | |
|---|---|---|
| १. | ईशावास्योपनिषद् (सटिप्पणटीकाद्वय संवलित शाङ्करभाष्योपेता) क्राउन साइज ८ पेजी पृष्ठ ६८ ... | ३०.०० |
| २. | ईशावास्य प्रवचनसुधा, डिमाई साइज पृष्ठ ३२० ... | ५०.०० |
| ३. | ईशावास्य प्रवचनसुधा (आंग्ल अनुवाद) डिमाई १६ पेजी सजिल्द ... | २००.०० |
| ४. | केनोपनिषद् (सटिप्पणटीकाद्वय संवलित शाङ्करभाष्ययुता) क्राउन साइज पृष्ठ १३८ ISBN 81-900625-7-3 ... | ५०.०० |
| ५. | कठोपनिषद् (सटिप्पणटीकाद्वय संवलित शाङ्करभाष्योपेता) क्राउन साइज पृष्ठ १४० ... | ५०.०० |
| ६. | प्रश्नोपनिषद् (सटिप्पणटीकाद्वयसमलंकृत शाङ्करभाष्योपेता) क्राउन साइज पृष्ठ १२० ... | ४०.०० |
| ७. | मुण्डकोपनिषद् (सटिप्पणटीकाद्वयसमलंकृत शाङ्करभाष्योपेता) क्राउन साइज ८ पेजी पृष्ठ ९० ... | ४०.०० |
| ८. | माण्डूक्य कारिका (सटिप्पण, हिन्दी, संस्कृत टीका सहित शाङ्करभाष्य) क्राउन साइज ८ पेजी पृष्ठ ३२० ISBN 81-900625-8-1 ... | २५०.०० |
| ९. | माण्डूक्य कारिका (सानुवाद शाङ्करभाष्ययुता) ... | ५०.०० |
| १०. | तैत्तिरीयोपनिषद् (सटिप्पणटीकाद्वय संवलित शाङ्करभाष्ययुता) क्राउन साइज पृष्ठ १७८ ISBN81-900625-9-X ... | ७५.०० |
| ११. | एतरेयोपनिषद् (सटिप्पणटीकाद्वय संवलित शाङ्करभाष्युयता) क्राउन साइज पृष्ठ ११२ ... | ५०.०० |
| १२. | छान्दोग्योपनिषद् (सटिप्पणटीकाद्वय संवलित शाङ्करभाष्ययुता) क्राउन साइज पृष्ठ ७३४ ... | २००.०० |
| १३. | बृहदारण्यकोपनिषद् (सटिप्पणटीकाद्वय समलङ्कृत शाङ्करभाष्ययुता) सजिल्द क्राउन ८ पेजी २ खण्ड, पृष्ठ १६६२ ... | ५००.०० |
| १४. | ईशादि सप्तोपनिषद् (सटिप्पणटीकाद्वय शाङ्करभाष्योपेता) क्राउन साइज ... | २००.०० |
| १५. | ईशादि द्वादशोपनिषद् (विद्यानन्दी मिताक्षरा हिन्दी व्याख्या) सजिल्द डबल डिमाई १६ पेजी पृष्ठ ५३२ (ओडियो-विडियो कैसेट उपलब्ध है) ... | २००.०० |
| १६. | ईशादिपञ्चोपनिषदः (मिताक्षरा हिन्दी व्याख्या शाङ्करभाष्ययुताः) पारायण संस्करण) ... | २००.०० |
| १७. | माण्डूक्यादित्रयोपनिषदः (मिताक्षरा हिन्दी व्याख्या शाङ्करभाष्युताः) (पारायण संस्करण) ... | २००.०० |
| १८. | छान्दोग्योपनिषद् (मिताक्षरा हिन्दी व्याख्या शाङ्करभाष्ययुता) (पारायण संस्करण) ... | यन्त्रस्थ |
| १९. | बृहदारण्यकोपनिषद् (मिताक्षरा हिन्दी व्याख्या शाङ्करभाष्युयता) (पारायण संस्करण) ... | यन्त्रस्थ |
| २०. | ब्रह्मसूत्र (सानुवाद-विद्यानन्दवृत्ति) सजिल्द डबल डिमाई १६ पृष्ठ ५२० (ओडियो-विडियो कैसेट उपलब्ध है) ... | २००.०० |
| २१. | ब्रह्मसूत्र (संस्कृत विद्यानन्दवृत्तिपरीक्षोपयोगी) डबल डिमाई साइज १६ पेजी पृष्ठ २४७ ... | २५.०० |

२२. ब्रह्मसूत्र (शाङ्करभाष्य सटिप्पणरत्नप्रभा ललिता व्याख्यायुतम्) (भाग-१) ... ३००.००
ISBN 81-900625-3-0 (भाग-२) ... ५००.००
२३. ब्रह्मसूत्र (चतुःसूत्री, शाङ्करभाष्य सटिप्पण ललिता व्याख्यायुतम्) ISBN 81-900625-0-6 ... १००.००
२४. ब्रह्मसूत्र मूलपाठ ... १०.००
२५. वैयासिक न्यायमाला (संस्कृत, हिन्दी, टीकाद्वय सम्वलिता व्याख्यायुता)
ISBN 81-900625-4-9 ... १५०.००
२६. वैयासिक न्यायमाला (सानुवाद ललिता व्याख्यायुता) ISBN 81-900625-4-7 ... १००.००
२७. श्रीमद्भगवद्गीता (शाङ्करभाष्य सटिप्पण आनन्दगिरि टीका ललिता व्याख्यायुतम्)
ISBN 81-900625-1-4 ... ४००.००
२८. श्रीमद्भगवद्गीता (शाङ्करभाष्य ललिता व्याख्यायुतम्) ISBN 81-900625-2-2 ... २५०.००
२९. श्रीमद्भगवद्गीता (अष्टादशाह प्रवचन) (ओडियो-विडियो कैसेट उपलब्ध है) ... २५०.००
३०. वेदान्त परिभाषा (अर्थदीपिका एवं सानुवाद सुबोधिनी व्याख्या) सजिल्द क्राउन
साइज 8 पेजी ... ८०.००
३१. वेदान्त परिभाषा (परीक्षाब्धिसंतरणी) ... २०.००
३२. प्रत्यक्तत्त्वप्रदीपिका (चित्सुखी छात्रतोषिणी टीका परीक्षाब्धि संतरणी
अष्टोत्तरशतन्यायमालायुता) ... १२०.००
३३. प्रत्यक्तत्त्वप्रदीपिका (चित्सुखी सटिप्पणटीकाद्वय संवलिता भाग १-२) ... १८०.००
३४. प्रत्यक्तत्त्वप्रदीपिका (चित्सुखी परीक्षाब्धि संतरणी) ... ४०.००
३५. चतुःसूत्री (भामती परीक्षाब्धि संतरणी) ... २०.००
३६. व्यासिपञ्चकम् (सानुवाद माथुरी छात्रतोषिणी संवलितम्) ... ४०.००
३७. सिद्धान्तलक्षणम् (जागदीशी छात्रतोषिणी हिन्दी व्याख्यात्रय संवलितम। ... यन्त्रस्थ
३८. संक्षेप शारीरकं (सानुवाद-मधुसूदनी सटिप्पणं हिन्दीव्याख्या संवलितं [भाग-१-२] ... ५००.००
३९. संक्षेप शारीरकं (सानुवाद ललिता व्याख्यायुता) ... २००.००
४०. सागरसेतु सजिल्द क्राउन साइज पृष्ट ३२० ... ५०.००
४१. कैलास आश्रम शताब्दी स्मारिका सजिल्द क्राउन साइज पृष्ठ ४३४ ... ५०.००
४२. यतीन्द्रतिलक सजिल्द क्राउन साइज पृष्ठ ३२४ ... ५०.००
४३. दिवयस्मृति पृष्ठ ३८८ ... २०.००
४४. आचार संहिता ISBN 81-900625-6-5 ... ५०.००
४५. व्यासपूजापद्धति (शङ्खकलशप्रधानवेदीमण्डलैःसमलङ्कृता) ... २०.००
४६. चित्राञ्जलिः ... १२५.००
४७. श्रद्धासुमनाञ्जलिः ... १५०.००
४८. अमृताञ्जलिः ... ५०.००
४९. श्रुतिसारसमुद्धरणम् (हिन्दीटीकायुतम्) क्राउन १६ पेजी पृष्ठ १५२ ... २०.००

५०. तत्वबोध, आत्मबोध सानुवाद पृष्ठ १०० ... २०.००
५१. वेदान्त रत्नाकर क्राउन १६ पेजी पृष्ठ ११६ ... २०.००
५२. वेदान्त डिण्डिम घोष (सानुवाद) पृष्ठ ५८ ... २०.००
५३. वैराग्यपञ्चक (कुञ्जिकाव्याख्या) ... यन्त्रस्थ
५४. अद्वैतमुक्तावली (मूल पञ्जाबी का संस्कृत श्लोकों एवं हिन्दी में अनुवाद) ... २०.००
५५. अमर संस्मरण (श्री अमरनाथ यात्रा विवरण) ... २०.००
५६. नित्यस्वर्णपुष्पोपहार ... १२५.००
५७. चैतन्य वचनामृतं ... ५०.००
५८. सानुवादगङ्गालहरी ... १०.००
५९. हरिहरतारतम्यस्तोत्र सानुवाद ... ५.००
६०. जीवन्मुक्तशिवाराधन ... १०.००
६१. मुक्ति सोपान ... ५०.००
६२. मानस सूक्ति सुधा ... १०.००
६३. शिवमहिम्न: स्तोत्र सान्वय व्याख्या सहित ... १०.००
६४. वैदिक दशशान्तिमन्त्र सानुवाद ... ५.००
६५. संक्षेप शारीरक परीक्षाब्धि संतरणी ... ४०.००
६६. संक्षेप शारीरक मूलपाठ: (अन्वयाङ्क संस्करणे) ... १००.००
६७. अष्टोत्तरशतन्यायमाला ... २०.००
६८. पाणिनीयाष्टाध्यायी ललिता टीका ... यन्त्रस्थ
६९. शङ्कर वचनामृतम् सानुवाद ... ५.००
७०. भगवती महिषासुर-मर्दिनी-प्रियतमम् ... ५०.००
७१. श्रीरामाश्रमोद्भव-विकास ... यन्त्रस्थ



**विशेष सूचना** — पुस्तक मँगाने वाले सज्जन अग्रिम राशि निम्नांकित कार्यालय में भेजकर मँगावें। पुस्तक के मूल्यातिरिक्त डाक, रेलवे तथा पोस्टेज व्यय भी लगेगा, वी. पी. द्वारा पुस्तक भेजने का क्रम नहीं है। ओडियो वीडियो कैसटों के लिए प्रधान कार्यालय में सम्पर्क करें।


मुख्य कार्यालय

**श्री कैलास आश्रम ऋषिकेश (उ० प्र०)**

पिन - २४९२०१, दूरभाष: (३१३५) ४३०५९८

प्रकाशक

**कैलासविद्या प्रकाशन श्री कैलास आश्रम, ऋषिकेश (उ० प्र०)**

# जगद्गुरु आदिशङ्कराचार्य



सृष्टि के आरम्भ से भारतवर्ष में अवतारों की एक बहुत बड़ी शृंखला रही है। निर्गुण निराकार परमात्मा सन्तों के परित्राण, दुष्टों के उद्धार तथा धर्म संस्थापना के लिए समय-समय पर इस धरा पर अवतरित होते रहते हैं। भगवान् विष्णु के दशावतार तथा चौबीस अवतार इसी क्रम में आते हैं। इन अवतार क्रमों में जगद्गुरु आदि श्री शंकराचार्य भगवान् सदाशिव के अवतार माने जाते हैं।

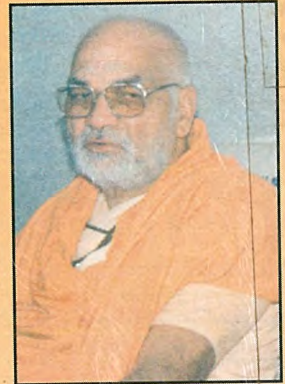
जगद्गुरु आद्य श्री शंकराचार्य का प्रादुर्भाव वैशाख शु. ५ वि.सं. ८४५ (सन् ७८८ ई.) में केरल प्रदेश (दक्षिण भारत) के कालड़ी ग्राम में पिता श्री शिवगुरु एवं माता श्री आर्याम्बा के यहाँ हुआ। बाल्यकाल से ही आपकी अलौकिक प्रतिभा का परिचय सब लोगों को होने लगा। पाँचवें वर्ष में विधिवत् उपनयन संस्कार के अनन्तर आप गुरु के पास अध्ययन करने गये। आठ वर्ष की स्वल्पायु में आपने संन्यास ग्रहण हेतु गृह त्याग किया, जो विश्व के इतिहास में एक अलौकिक घटना है। योगदर्शन के रचयिता पतंजलि महर्षि के अवतार श्री गोविन्दाचार्य भगवत्पाद को गुरु वरण कर उनको खोजते हुए नर्मदा तीर स्थित एक गुफा में श्री शंकराचार्य ने उनके दर्शन प्राप्त किए और कुछ वर्षों तक उनकी सेवा में रहकर साधना एवं स्वाध्याय सम्पन्न किया। आचार्य शंकर की काशी यात्रा में भगवान् शंकर ने चाण्डाल रूप धारण कर आप की परीक्षा ली और सब प्रकार से योग्य सिद्धकर विश्वनाथ रूप में आपको दर्शन दिये।

उत्तरभारत में श्री बद्रीनाथ स्थित व्यासगुफा में आचार्य शंकर ने चार वर्ष तक निवास किया और उपनिषद्, गीता, ब्रह्मसूत्रादि ग्रन्थों पर अपना प्रामाणिक भाष्य लिखा। उस समय आपकी आयु सोलह वर्ष हो चुकी थी जो विधाता एवं महर्षि अगस्त्यादि प्रदत्त आयु की सीमी थी। किन्तु महर्षि वेदव्यास जी के उत्तरकाशी में दर्शन आप को हुए और आपके द्वारा लिखे भाष्यों से प्रसन्न होकर १६ वर्ष और आयु का आशीर्वाद भगवान् वेदव्यास जी ने आपको दिया।

आचार्य शंकर ने अद्वैत मत के प्रचार हेतु अपनी दिग्विजयी भारत यात्रा की। धर्म प्रचार के उद्देश्य से एवं भारत की अखण्डता बनाये रखने हेतु चार दिशाओं में चार मठों की आपने स्थापना की। केदारनाथ की अपनी अन्तिम यात्रा में वहीं अन्तर्धान हो गए। अत: केवल ३२ वर्ष की आयु में ही आचार्य शंकर ने वैदिक सनातन धर्म की परम्पराओं में अनेक क्रांतिकारी कदम उठाकर भारत भूमि में धर्म की पताका को पुन: ऊँचा किया। आप द्वारा रचे दो सौ से भी अधिक ग्रन्थों की देन से मानवमात्र आदि शंकराचार्य जी के ऋणी हैं।

देवानुग्रह त्रिदशक महोत्सव वि. सं. २०५५-५६ में श्रीदशमकैलासपीठाधीश्वर जी महाराज ने प्रतिदिन एक घण्टा शांकर साहित्य पारायण का जो नियम लिया है, यह आचार्य शंकर के प्रति निष्ठा का अनुकरणीय आदर्श है। हम सब भी इसका अनुसरण कर आचार्य शंकर द्वारा रचे ग्रन्थों का पारायण कर अपने जीवन को कृतकृत्य बनायें। यही आचार्य शंकर के प्रति सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

# देवानुग्रहत्रिदशकमहोत्सवप्रसङ्गे प्रकाशितम्



### श्रीकैलासपीठाधीश्वर परमादर्श आ. म. मं.

## श्रीमत्स्वामी विद्यानन्द गिरि जी महाराज

आप का जन्म २९ नवम्बर, सन् १९२१ को जिला पटना (बिहार) के गाजी पुर ग्राम में हुआ। आपके पिता श्रीमान् जवाहर शर्मा जी और माता श्रीमती ललिता देवी थीं। आप बाल्यकाल से ही भगवान् की उपासना में रुचि रखते थे। २० वर्ष की आयु में आपने घर गृहस्थी को त्याग कर साधु जीवन अपनाया। आपके गुरुदेव परमहंस स्वामी विज्ञानानन्द गिरि जी महाराज एवं परमगुरुदेव योगीराज स्वामी नित्यानन्द गिरि जी महाराज से आपने परमार्थ पथ की दीक्षा ली। अपनी सारस्वत साधना में आपने काशी में वेदान्त-सर्वदर्शनाचार्य तक अध्ययन कर परीक्षा पास की। तत्पश्चात् आप अध्यापन कार्य में संलग्न हुए। दस वर्षों तक दिल्लीस्थ विश्वनाथ संस्कृत महाविद्यालय के प्रधानाचार्य रहे। वहीं पर निरंजनपीठाधीश्वर आचार्य म.मं. स्वामी नृसिंह गिरि जी महाराज एवं निरंजनपीठाधीश्वर आचार्य म.मं. स्वामी महेशानन्द गिरि जी महाराज की छत्रछाया में संन्यास दीक्षा ली।

२१ जुलाई सन् १९६९ को आप कैलास ब्रह्मविद्यापीठ ऋषिकेश के महामण्डलेश्वर पद पर आसीन हुये। आपके कार्यकलापों से तब विद्यमान् कैलास आश्रम के दो पूर्वाचार्य म.मं. स्वामी विष्णुदेवानन्द गिरि जी महाराज एवं म.मं. स्वामी चैतन्य गिरि जी महाराज अत्यन्त संतुष्ट हुये। आपने ग्रन्थ रचना एवं प्रकाशन में विशेष रुचि ली और अनेकों ग्रन्थों का लोककल्याणार्थ प्रकाशन बड़े धैर्यपूर्वक करवाया। आप भारत के आध्यात्मिक एवं धार्मिक क्षेत्र के आचार्यों में अग्रगण्य हैं। साधु समाज की दृष्टि में आप की क्षमता, शक्ति, लगन, तत्परता, विद्वत्ता तपश्चर्या सहिष्णुता एवं उदारता सभी गगन-चुम्बी और अलौकिक हैं, आध्यात्मिक संस्कृति के सर्वाङीन विकास और जन जीवन को दिव्यालोक प्रदान करने में आपने युगपुरुष की भूमिका निभाई है।

१० दिसम्बर १९९६ को आपके पावन जीवन के ७५ वर्ष पूर्ण होने पर आपका अमृत महोत्सव सन्तों एवं भक्तों ने बड़ी धूमधाम से मनाया और आपके सुदीर्घ स्वस्थ जीवन की आशुतोष भगवान् शंकर से प्रार्थना की। आषाढ़ शु. ७ वि. सं. २०५५ से सवा वर्ष पर्यन्त कैलासाश्रम में आपके पीठासीन हुए तीस वर्ष होने के उपलक्ष्य में "देवानुग्रह त्रिदशक" महोत्सव मनाया जा रहा है।